

र

रचनात्मकतावाद

(संदर्भ : अंतर्राष्ट्रीय संबंध)

(Constructivism : International Relations)

रचनात्मकतावाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन का तीसरा दृष्टिकोण है। आदर्शवाद और यथार्थवाद के मुकाबले यह नज़रिया विश्व-राजनीति की जाँच सामाजिक धरातल पर करने की तजवीज़ करता है। रचनात्मकतावादियों का दावा है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की सही समझ केवल भौतिक सीमाओं के दायरे में होने वाली तर्कसंगत अन्योन्यक्रियाओं से ही नहीं हासिल की जा सकती (जैसा कि यथार्थवादियों का आग्रह है), और न ही उन्हें संस्थागत सीमाओं के भीतर परखने से काम चल सकता है (जैसा कि आदर्शवादी कहते रहे हैं)। रचनात्मकतावादियों के अनुसार सम्प्रभु राज्यों के बीच बनने वाले संबंध केवल उनके स्थिर राष्ट्रीय हितों पर ही आधारित नहीं होते। उन्हें लम्बी अवधि के दौरान बनी अस्मिताओं के प्रभाव में उठाने वाले क्रदमों को प्रारूपों के तौर पर देख कर समझना पड़ता है। रचनात्मकतावादी अपना ध्यान अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के स्तर पर मौजूद संस्थाओं पर केंद्रित करते हुए अंतर्राष्ट्रीय क़ानून, राजनय और सम्प्रभुता को अहमियत देते हैं। शासन-व्यवस्थाएँ भी उनके लिए महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे भी विनियमकारी और विधेयक संरचनाएँ पैदा करती हैं। उनके हाथों एक सामाजिक जगत रचा जाता है जिसकी मदद से राज्य के व्यवहार और आचरण तात्पर्यों का अंदाज़ा लगाया जा सकता है।

रचनात्मकतावाद का सिद्धांत भौतिक आयामों की उपेक्षा नहीं करता, पर वह उनके साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय

व्यवस्था को समझने के लिए सामाजिक आयामों को भी जोड़ देता है। इसके तहत जब संस्थाओं की चर्चा की जाती है तो उसका मतलब केवल सांगठनिक ढाँचा ही नहीं होता। संस्था का तात्पर्य है अस्मिताओं और हितों की एक स्थिर संरचना। एक ऐसी संरचना जिसमें साझी समझ, साझी अपेक्षाएँ और सामाजिक ज्ञान अंतर्निहित है। रचनात्मकतावादी संस्थाओं को मूलतः एक संज्ञानात्मक अस्तित्व की तरह देखते हैं जिन्हें अपने कर्त्ताओं के विचारों की सीमाओं के दायरे में ही रहना पड़ता है। संस्थागत संरचनाओं के मानकीय प्रभाव के साथ-साथ रचनात्मकतावाद बदलते हुए मानकों और अस्मिताओं व हितों के बीच बने सूत्रों की जाँच करता है। चूँकि राज्य और अन्य कर्त्ताओं की गतिविधियों के कारण संस्थाओं में लगातार परिवर्तन होता रहता है, इसलिए रचनात्मकतावाद संस्थाओं और कर्त्ताओं को परस्पर अनुकूलन करते रहने वाले अस्तित्वों की तरह देखता है।

इस विवरण से लग सकता है कि एक सैद्धांतिक रवैये के तौर पर रचनात्मकतावाद पर अमल करना कुछ मुश्किल ही होगा। दरअसल, राज्यों के व्यवहार का अंदाज़ा लगाने के लिए किसी एक खास सामाजिक संरचना को चुनने की सिफ़ारिश करने के बजाय यह दृष्टिकोण कहता है कि किसी एक परिस्थिति में मौजूद संरचना की जाँच-पड़ताल करके उसके विशिष्ट दायरे में राज्य के व्यवहार का अनुमान लगाया जा सकता है। अगर अनुमान ग़लत साबित होता है तो इसका मतलब यह हुआ कि उस संरचना को ठीक से समझा नहीं गया है या वह अचानक बदल गयी है। मसलन, अगर यथार्थवादी कहते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अराजकता व्याप्त है, तो रचनात्मकतावादी कहेंगे कि उनकी यह धारणा हॉब्स द्वारा प्रतिपादित 'प्रकृत अवस्था' के आईने में अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को देखने से उपजी है। इस प्रकृत अवस्था का निष्कर्ष सामाजिक संबंधों की एक विशिष्ट

संरचना से निकाला गया है जो अब बदल चुकी है।

संरचनावादियों की मान्यता के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ विनियमन भी करती हैं और विधेयक भूमिका भी निभाती हैं। विनियमनकारी भूमिका का अर्थ है कुछ खास तरह के व्यवहारों और आचरणों को मान्य या प्रतिबंधित करना। विधेयक भूमिका का मतलब है किसी व्यवहार या आचरण को परिभाषित करते हुए उसे एक निश्चित तात्पर्य से सम्पन्न करना। राज्य उनकी निगाह में एक नैगमिक (कॉरपोरेट) अस्मिता है। वह अपने बुनियादी लक्ष्यों (सुरक्षा, स्थिरता, मान्यता और आर्थिक विकास) का निर्धारण करता है। पर इन लक्ष्यों की प्राप्ति सामाजिक अस्मिताओं पर निर्भर है; अर्थात् राज्य खुद को अंतर्राष्ट्रीय समाज के संदर्भ में जिस तरह समझेगा, उसी तरह उसकी सामाजिक अस्मिताएँ बनेंगी। इसी तरह की अस्मिताओं के आधार पर राज्य का राष्ट्रीय हित संरचित होगा।

संरचनावादी यथार्थवादियों द्वारा अराजकता को दिये जाने वाले महत्त्व को पूरी तरह नज़रअंदाज़ नहीं करते, पर उनका कहना है कि अराजकता अपने आप में अहम नहीं हो सकती। संबंधों की अराजकता दो मित्र राज्यों को बीच भी हो सकती है, और दो शत्रु राज्यों के बीच भी। दोनों का मतलब अलग-अलग होगा। इस लिहाज़ से अराजकता नहीं, बल्कि उसके प्रभाव में बन सकने वाले सामाजिक संबंधों की क्रिस्में ही महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं। इन क्रिस्म-क्रिस्म के सामाजिक संबंधों के मुताबिक ही राज्य अपने हितों को परिभाषित करते हैं। मसलन, शीत-युद्ध के दौरान अमेरिका और सोवियत संघ के बीच का रिश्ता भी एक सामाजिक संबंध था जिसके तहत वे दोनों एक-दूसरे को शत्रु की तरह देखते थे और उसी के मुताबिक उनके राष्ट्रीय हितों की संरचना होती थी। जब उन्होंने एक-दूसरे को उस सामाजिक संबंध के आईने में देखना बंद कर दिया, या उस तरह के सामाजिक संबंध की परिस्थितियाँ ही नहीं रह गयीं तो उसके परिणामस्वरूप शीत-युद्ध खत्म हो गया।

जाहिर है कि रचनात्मकतावाद एक व्याख्यात्मक सिद्धांत के तौर पर अपनी उपयोगिता बहुत स्पष्ट नहीं कर पाया है। इसके बावजूद उसे एक सैद्धांतिक ढाँचा पेश करने में कामयाबी अवश्य मिली है। रचनात्मकतावाद के प्रचलित होने के पीछे यथार्थवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोणों की अपर्याप्तताओं की भूमिका भी है।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, पृथकतावाद, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निःशस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट क़ानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, यूरोपीय यूनियन, राजनय, विश्व व्यापार

संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

संदर्भ

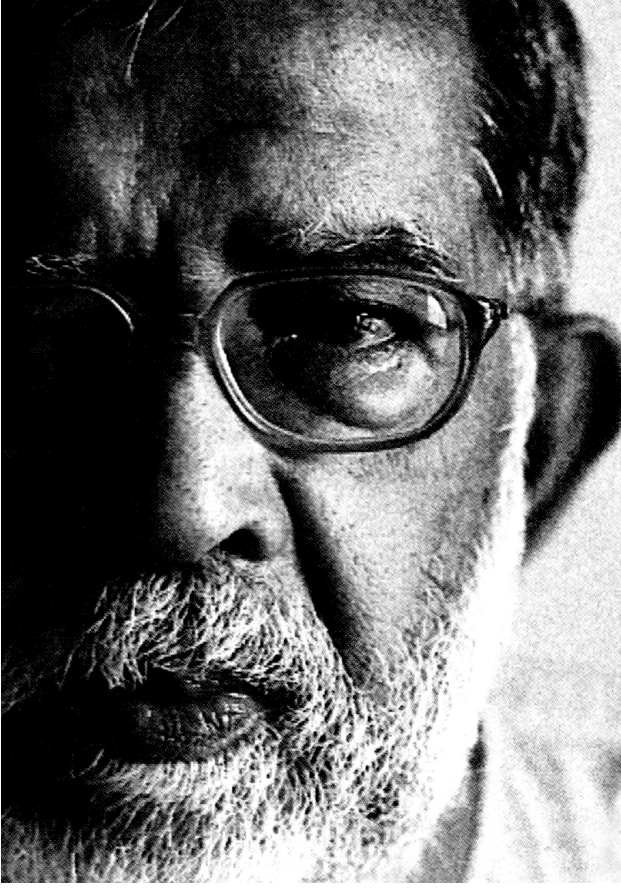
1. ई. एडलर (1997), 'सीज़िंग द मिडिल ग्राउंड : कंस्ट्रक्टिविज़म इन वर्ल्ड पॉलिटिक्स', *युरोपियन जर्नल ऑफ़ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स*, अंक 3.
2. टी. बीसटेकर और सी. वेबर (सम्पा.) (1992), *स्टेट सोवरनिटी एज़ सोशल कंस्ट्रक्ट*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. टी. होफ़ (1998), 'द प्रोमिस ऑफ़ कंस्ट्रक्टिविज़म इन इंटरनेशनल रिलेशंस थियरी', *इंटरनेशनल सिक्वोरिटी*, अंक 23.

—अभय कुमार दुबे

रजनी कोठारी

(Rajni Kothary)

भारत के प्रमुख राजनीतिशास्त्री और विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के संस्थापक रजनी कोठारी (1928-) ने पिछली आधी सदी में भारतीय राजनीति के सिद्धांतीकरण में अभूतपूर्व योगदान किया है। दलीय प्रणाली के अध्ययन में कोठारी ने मुख्यतः दो उल्लेखनीय स्थापनाएँ जोड़ी हैं। द्विदलीय और बहुदलीय प्रणालियों की प्रचलित व्याख्याओं से अलग हट कर उन्होंने भारतीय दलीय प्रणाली की एक पार्टी के वर्चस्व वाली प्रणाली के रूप में मौलिक व्याख्या की; और कांग्रेस को प्रचलित परिभाषाओं के तहत एक राजनीतिक दल के रूप में देखने के बजाय कांग्रेस 'प्रणाली' के रूप में पेश किया। आगे चल कोठारी ने गैर-दलीय राजनीति के सिद्धांतीकरण में भी योगदान किया। जाति-प्रथा और आधुनिक संसदीय राजनीति के बीच अन्योन्यक्रिया देखने की कोठारी की दृष्टि भी अनूठी साबित हुई। इस सिलसिले में उनका पहला सूत्रीकरण तो यह है कि भारत जैसे परम्पराबद्ध समाज के आधुनिकीकरण का रास्ता दरअसल सामाजिक संरचनाओं के राजनीतीकरण से होकर जाता है। इसी से जुड़ा हुआ दूसरा सूत्रीकरण यह है कि जिस परिघटना को हम राजनीति में जातिवाद क़रार देते हैं, वह दरअसल जातियों का राजनीतीकरण है जिसके कारण जातिगत संरचनाओं का स्वरूप भीतर से बदल रहा है। कोठारी एक प्रचुर रचनाकार रहे हैं। उनकी पहली पुस्तक 1969 में *पॉलिटिक्स इन इण्डिया* प्रकाशित हुई थी जो भारतीय



रजनी कोठारी (1928-)

राजनीति को समझने का तर्कपूर्ण मॉडल पेश करती है।

रजनी कोठारी का जन्म एक समृद्ध गुजराती व्यापारिक घराने में हुआ था। उनके पिता बर्मा में हीरों का व्यापार करते थे। उनकी शुरुआती शिक्षा-दीक्षा आर्यंगारों द्वारा चलाए जाने वाले रंगून के एक स्कूल में हुई। परिवार में बौद्धिकता की कोई परम्परा न होने के बावजूद कोठारी के पिता ने उन्हें सुशिक्षित करने में कोई कसर न छोड़ी। उनका बचपन बर्मा के अपेक्षाकृत खुले समाज में बीता। घर की छतों पर होने वाले सामूहिक नृत्यों, मंगोल और बौद्ध संस्कृति के मिले-जुले लुभावने रूप, दक्षिण भारतीय चेट्टियारों, गुजराती बनियों, वोहराओं, खोजाओं और मुसलमान व्यापारियों के मिश्रित भारतीय समुदाय के बीच गुजारे गये शुरुआती वर्षों ने उन्हें एक उदार मानस प्रदान किया। लंदन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद रजनी कोठारी ने कुछ दिन बड़ोदरा में क्लासिकल अर्थशास्त्र पढ़ाया। इस दौरान वे भारतीय मार्क्सवाद के प्रारम्भिक व्याख्याता और बाद में रैडिकल मानवतावाद के प्रमुख प्रवक्ता मानवेंद्र नाथ राय से भी प्रभावित हुए। अपने जीवन के अंतिम दौर में पत्नी हंसा कोठारी और बड़े बेटे स्मितु कोठारी के निधन से आहत

प्रोफ़ेसर कोठारी दिल्ली स्थित आवास में अपना समय गुज़ारते हैं।

रजनी कोठारी के बौद्धिक जीवन को तीन भागों में बाँट कर समझा जा सकता है। अपने राजनीतिक चिंतन की शुरुआत में कोठारी ने भारतीय समाज और राजनीति के तथ्यगत विश्लेषण को प्राथमिकता दी। खास बात यह है कि इस प्रक्रिया में वे प्रत्यक्षवादी रवैये से प्रभावित नहीं हुए। यह दौर वह था जब साठ के दशक में नेहरू युग अपने पटाक्षेप की तरफ़ देख रहा था। यह एक संक्रमणकालीन समय था जिसमें लोकतंत्र के क्षय और नाश की भविष्यवाणियाँ हो रही थीं। इसी माहौल में कोठारी ने भारतीय लोकतंत्र के मॉडल की विशिष्टता की शिनाख़्त करने में प्रमुख भूमिका निभायी। उस समय अधिकतर समाज-विज्ञानी भारतीय अनुभव को पश्चिमी लोकतंत्रों के अनुभव की रोशनी में देखने की कोशिश कर रहे थे। इसी समय रजनी कोठारी समाजशास्त्री श्यामा चरण दुबे के प्रोत्साहन पर राष्ट्रीय सामुदायिक विकास संस्थान से जुड़ गये। उन्होंने अपने फ़ील्ड वर्क के दौरान पूरे देश का सघन दौरा किया। वे ऐसे इलाकों में भी गये जहाँ जाना आम तौर से काफ़ी मुश्किल माना जाता था। इस अनुभव ने उन्हें बदलते हुए या बदलने के लिए तैयार भारत के दर्शन कराये। तभी एक सुखद संयोग के तहत उन्हें भावनगर (गुजरात) में कांग्रेस के एक अधिवेशन को देखने का मौक़ा मिला। उन्हीं दिनों तत्कालीन *इकॉनॉमिक वीकली* (आज का *ईपीडब्ल्यू*) के छह अंकों में उनकी एक लेखमाला छपी जिसका शीर्षक था 'भारतीय राजनीति का रूप और सार'। इन लेखों ने उनके क्रमशः केंद्र-राज्य संबंध, पंचायती राज, सरकार के संसदीय रूप, अफ़सरशाही, दलीय प्रणाली और अंत में लोकतंत्र के भविष्य पर गहन चर्चा की गयी थी। इस लेखमाला में जिस सैद्धांतिक ढाँचे का इस्तेमाल किया गया था, उसी ने आगे चल कर कोठारी के विशद वाङ्मय की आधारशिला रखी। इन लेखों की प्रकृति विवादात्मक थी। उन्होंने एक त्रिकोणात्मक कसौटी पेश की जिसका एक कोण था लोकतंत्र के मान्य सिद्धांतों का, दूसरा कोण था पश्चिमी दुनिया के लोकतांत्रिक अनुभवों का और तीसरा कोण था भारतीय अनुभव की विशिष्टता का। इससे पहले राजनीतिशास्त्र में संस्थागत और संविधानगत अध्ययन ही हुआ करते थे। राजनीति के विकासक्रम को देखने की यह एक अनूठी निगाह थी। इन लेखों में लास्की के सिद्धांतों से लेकर जयप्रकाश नारायण की विकेंद्रीकरण की थीसिस पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ थीं।

इसके बाद कोठारी अपने सैद्धांतिक कौशल से लैस हो कर सर्वेक्षणों के जरिये बार-बार आम भारतीय के पास गये

और पता लगाया कि हमारा लोकतंत्र ज़मीन पर किस तरह काम कर रहा है। इस तरह लोकतंत्र की भारतीय क्रिस्म के विकास के अध्ययन के ठोस आधारों का सूत्रीकरण होने की सम्भावनाएँ खुलीं। कोठारी ने सिद्धांतों और उपसिद्धांतों की एक पूरी शृंखला तैयार की जिसे कुंजी की तरह इस्तेमाल करके उन्होंने बार-बार साबित किया कि भारत में जिस तरह के लोकतंत्र की रचना हो रही है वह पश्चिम के लोकतंत्रों से अलग क्रिस्म का निकलेगा। समरूपीकरण करने वाले राष्ट्र-राज्य पर आधारित न हो कर यह लोकतंत्र भारतीय संस्कृति द्वारा प्रदत्त बहुलतावाद को अपनी बुनियाद बनायेगा।

दलीय प्रणाली से संबंधित कोठारी के विख्यात सूत्रीकरण इसी दौर की देन हैं। उन्होंने दिखाया कि भारतीय दलीय प्रणाली न तो विकसित पूँजीवादी देशों की तरह दो या तीन दलों की राजनीतिक प्रतियोगिता वाली प्रणाली के मॉडल में फिट होती है, न ही इसमें किसी बहुदलीय प्रणाली की अराजकता है। वे पश्चिमी प्रेक्षकों के इस अवलोकन से भी सहमत नहीं थे कि राजनीतिक जीवन पर कांग्रेस के हावी होने के कारण भारत को एक दलीय प्रणाली समझा जाना चाहिए। बल्कि, उनका कहना था कि यहाँ दल तो कई हैं, पर बोलबाला एक दल का है। और, यह वर्चस्व एक ऐसी प्रणाली के तौर पर काम करता है जिसमें न केवल सत्ता पक्ष की संरचनाएँ संसाधित होती हैं, वरन विपक्षी संरचनाएँ भी अपनी भूमिका निभाती रहती हैं। इसी दौर में कोठारी ने जाति-प्रथा और आधुनिक संसदीय लोकतांत्रिक राजनीति के बीच लेन-देन का बारीक खाका पेश किया। उनका कहना था कि राजनीति में भागीदारी करके जाति-समुदाय लोकतंत्र को प्रदूषित नहीं करते बल्कि अपने कर्मकाण्डीय रूप की जकड़ से काफ़ी-कुछ मुक्त हो कर अपने पहले से मौजूद सेकुलर रूपों को प्राथमिकता देने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

कोठारी की दूसरे दौर की रचनाएँ उस समय की हैं जब इंदिरा गाँधी की करिश्माई राजनीति अपने लोकलुभावन और निरंकुश रुझानों के साथ भारतीय राजनीति का स्वरूप बदलने पर तुली हुई थीं। शुरू में कोठारी को लगा कि इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में रैडिकल परिवर्तनों का आगाज़ करने की सम्भावना निहित है। लेकिन जल्दी ही उन्हें दिखाई दे गया कि राज्य की जिस संस्था को मानव-मुक्ति की ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी पूरी करनी है, वह न केवल भारत में लोकतंत्र को समृद्ध करने से मुँह चुरा रही है, बल्कि दुनिया भर में उसकी यह भूमिका साँसत का शिकार बनती जा रही है। आपातकाल में इंदिरा गाँधी के साथ किसी भी तरह के सहयोग से परहेज़ करने के बाद उन्होंने 1977 में कांग्रेस विरोधी जनता पार्टी की नीतिगत ढाँचा बनाने में भी योगदान किया।

जनता प्रयोग के विफल हो जाने और सत्ता में इंदिरा गाँधी वापसी के बाद कोठारी ने अपनी रचनाओं में दुनिया के

पैमाने पर उत्तर बनाम दक्षिण यानी विकसित बनाम अविकसित का द्वंद्व रेखांकित करते हुए राज्य और चुनावी राजनीति के परे जाने की तजवीज़ें विकसित करने की कोशिश शुरू की। इसी मुकाम पर उन्होंने ग़ैर-पार्टी राजनीति के सिद्धांतीकरण में अपना योगदान किया। कोठारी की सृजनशीलता का यह दूसरा दौर ख़ासा लम्बा साबित हुआ। उन्होंने पश्चिम के सभ्यतामूलक प्रतिमानों को चुनौती देने वाले गाँधी के विचारों का सहारा लिया और एक नया यूटोपिया पेश करने की कोशिश की। अपने इसी दौर में रजनी कोठारी ने महज़ बुद्धिजीवी रहने के बजाय सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता की भूमिका भी ग्रहण की। उन्होंने अपने सहयोगी विद्वान धीरूभाई शेट द्वारा स्थापित लोकायन नामक अध्ययन कार्यक्रम में भागीदारी की जिसका मक़सद ग़ैर-पार्टी राजनीतिक संरचनाओं को समाज-विज्ञान की दुनिया से जोड़ना था। इन्हीं वर्षों में कोठारी पीपुल्स यूनियन ऑफ़ सिविल लिबर्टीज के राष्ट्रीय अध्यक्ष भी रहे।

अपने रचनाकाल के तीसरे दौर में कोठारी ने आधुनिकता के वैचारिक ढाँचे को ख़ारिज किये बिना वैकल्पिक राजनीति का संधान करने का प्रयास किया। दरअसल, उनका यह चरण आलोचनात्मक होने के साथ-साथ आत्मालोचनात्मक भी था। उन्होंने अतीत के अपने कई प्रयासों को कड़ी निगाह से देखा और पाया कि ग़ैर-पार्टी राजनीति वास्तव में वैकल्पिक राजनीति के रूप में विकसित नहीं हो पा रही है। उदारतावाद, मार्क्सवाद, गाँधीवाद और नये सामाजिक आंदोलनों की परिघटना भारतीय लोकतंत्र के बदलते हुए चेहरे की व्याख्या करने में असमर्थ है। इस मुकाम पर कोठारी ने अपनी शास्त्रीय प्रतिभा का इस्तेमाल दलित-पिछड़ी राजनीति को सूत्रबद्ध करने और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भूमण्डलीकरण की ताकतों के खिलाफ़ बौद्धिक नाकेबंदी करने के लिए किया। उन्होंने राज्य की संस्था में आयी विकृतियों की शिनाख़्त की और उसे जनोन्मुखता से वंचित प्रबंधकीय-तकनीकशाही प्रवृत्तियों वाला राज्य करार दिया। उन्होंने दिखाया कि किस तरह यह राज्य प्रचलित सैद्धांतिक समझ के विपरीत विविधताओं के प्रति असहिष्णु, ग़रीबों को हाशिये पर रख कर भूल जाने वाला और साम्प्रदायिक राजनीति के साथ तालमेल करके चलने वाला होता है।

देखें : कांग्रेस 'प्रणाली', ग़ैर-कांग्रेसवाद, ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ, ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, ग़ैर-दलीय राजनीति, जातियों का राजनीतीकरण, धीरूभाई शेट, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य, नागर समाज, नागरिक समाज पर भारतीय बहस, परम्परा की आधुनिकता, पार्थ चटर्जी, मानवाधिकार, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नागर समाज और ग़ैर-दलीय राजनीति-1 से 3 तक, भारत में नागरिकता-विमर्श-1 से 3 तक, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, भारत में सार्विक मताधिकार, भीखू छोटालाल पारिख, राजनीतिक समाज, स्वतंत्रता : भारतीय विचार, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. रजनी कोठारी (2005), *भारत में राजनीति : कल और आज*, हिंदी प्रस्तुति : अभय कुमार दुबे, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली,
2. अभय कुमार दुबे (सम्पा.) (2003), *राजनीति की किताब : रजनी कोठारी का कृतित्व*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली,
3. रजनी कोठारी (2005), *रिथिंगिंग डेमोक्रेसी*, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.
4. रजनी कोठारी (2008), *कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स*, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

रणजीत गुहा

(Ranajit Guha)

‘जनता की राजनीति एक स्वायत्त अधिकार-क्षेत्र है’ जैसी उद्घोषणा करने वाले रणजीत गुहा (1922-) इतिहास-लेखन की सबाल्टर्न धारा अर्थात् निम्नवर्गीय प्रसंग के प्रणेता हैं। 1963 में रणजीत गुहा ने औपनिवेशिक भूमि-नीति पर *अ रूल ऑफ़ प्रॉपर्टी फ़ॉर बंगाल : ऐन एसे ऑन द आइडिया ऑफ़ परमानेंट सेटलमेंट* की रचना की जिसे इतिहासकारों और बुद्धिजीवियों के बीच स्थापित होने के लिए अस्सी के दशक तक का इंतज़ार करना पड़ा। 1982 में रणजीत गुहा ने ब्रिटेन और ऑस्ट्रेलिया में रह रहे आठ अन्य इतिहासकारों के साथ मिल कर सबाल्टर्न स्टडीज़ नाम से शोध-ग्रंथों का सम्पादन शुरू किया। ये इतिहासकार मानने के लिए तैयार नहीं थे कि अंग्रेज़ों के खिलाफ़ होने वाले सभी विद्रोह लाजमी तौर पर राष्ट्रीय चेतना की मंज़िल की तरफ़ ले जाने वाले थे। न ही वे हर ऐतिहासिक आख्यान को वर्ग-चेतना के चश्मे से देखना चाहते थे। उन्होंने वर्ग की जगह सबाल्टर्नीयता को चुना। गुहा ने *कन्साइज़ ऑक्सफ़र्ड डिक्शनरी* का हवाला देते हुए बताया कि कैसे वे इस शब्द का उपयोग दक्षिण एशियाई समाज में मातहत वर्ग के प्रतीक के तौर पर करते हैं। इसे और स्पष्ट करते हुए गुहा ने बताया कि कैसे वे जन और निम्नवर्गीय को एक-दूसरे के पर्याय के रूप में इस्तेमाल करते हैं जो इस श्रेणी में शामिल समूह और तात्त्विक रूप से सम्भ्रांत समाज और समूह से बिलकुल अलग हैं। गुहा द्वारा प्रवर्तित सबाल्टर्न अध्ययन परियोजना दावा करती है कि भारतीय राष्ट्रवाद का इतिहास-लेखन अभी तक दोनों तरह के सम्भ्रांतवाद, उपनिवेशवादी सम्भ्रांतवाद और बूज्वा राष्ट्रवादी सम्भ्रांतवाद, से ग्रस्त रहा है। गुहा यह भी मानते हैं कि यह इतिहास-लेखन भारत में ब्रिटिश शासन के

विमर्श से प्रभावित था। अनेक मतभेदों के बावजूद कई मामलों में दोनों तरह के इतिहासकार एक ही ढंग से सोचते थे और सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उनके इतिहास में जनता की राजनीति पूरी तरह से गायब थी।

रणजीत गुहा का जन्म 23 मई, 1922 को तत्कालीन बंगाल के बारीसाल डिवीज़न में सिद्धकटी गाँव के एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। उन्होंने कोलकाता में इतिहास की पढ़ाई की और छात्र राजनीति में वामपंथी विचारधारा के साथ सक्रिय रहे। लेकिन 1956 में हंगरी पर सोवियत संघ के आक्रमण के बाद उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी से खुद को अलग कर लिया। 1959 में वे इंग्लैण्ड जा बसे और अभी आस्ट्रिया की राजधानी वियना में रहते हैं।

सबाल्टर्न इतिहास-लेखन के मार्फ़त रणजीत गुहा ने माँग की है कि इतिहास को निम्न वर्गों की दृष्टि से लिखा जाना चाहिए। इतिहास-लेखन में इस दृष्टिकोण और ऐतिहासिक कालक्रम में जनता की राजनीति का अन्यतम स्थान है, क्योंकि यह सम्भ्रांत राजनीति से अलग स्वायत्त क्षेत्र था और इसका अस्तित्व भी उस पर निर्भर नहीं था। रणजीत गुहा मानते हैं कि जनता की राजनीति सम्भ्रांतों की राजनीति से कई मामलों में निर्णयात्मक रूप से अलग होती है। एक ओर वे चिह्नित करते हैं कि कैसे इसकी जड़ें जाति और संबंधों के फैलाव, जनजाति-बंधुत्व, क्षेत्रीयता आदि जैसी परम्परागत संरचनाओं में होती है, वहीं दूसरी ओर गुहा इस बात की ओर इशारा करते हैं कि सम्भ्रांत गोलबंदी की प्रकृति उर्ध्व होती है, पर तरफ़ जनता की लामबंदी क्षैतिज होती है। सम्भ्रांत लामबंदी को क्रान्ती दायरे में सीमित और शांत मानते हुए रणजीत गुहा इस बात का खुलासा करते हैं कि निम्नवर्गीय लामबंदी अपेक्षाकृत उग्र होती है। सतर्क और नियंत्रित सम्भ्रांत लामबंदी से इतर निम्नवर्गीय प्रतिरोध स्वतःस्फूर्त ढंग से उभर कर सामने आता है।

1983 में उनकी सबसे महत्वपूर्ण किताब *द एलिमेंटरी आस्पेक्ट्स ऑफ़ पीजेंट इंसर्जेंसी इन कोलोनियल इण्डिया* का प्रकाशन हुआ। इसके अलावा इटैलियन एकेडमी व्याख्यानमाला के तहत दिये गये व्याख्यानों का संकलन *हिस्ट्री ऐट द लिमिट ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री* (2002) के रूप में सामने आया। रणजीत गुहा की अन्य महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं : *ऐन इण्डियन हिस्टोरोग्राफी ऑफ़ इण्डिया : ए नाइंटीथ सेंचुरी एजेंडा ऐंड इट्स इम्प्लीकेशंस* (1988), *डोमिनेंस विदाउट हेजेमनी : हिस्ट्री ऐंड पावर इन कोलोनियल इण्डिया* (1997) और निबंधों का संकलन *द स्मॉल वॉइस ऑफ़ हिस्ट्री* (2009)।

निम्नवर्गीय प्रसंग के तीसरे खण्ड की प्रस्तावना में रणजीत गुहा ने इस परियोजना के उद्देश्यों को शब्दबद्ध करते हुए कहा कि सबाल्टर्न इतिहासकारों ने आलोचना के लिए



रणजीत गुहा (1922-)

साझा प्रतीकों का इस्तेमाल किया ताकि दक्षिण एशियाई अध्ययन क्षेत्र में व्याप्त सम्भ्रांतता की सचेत व्यवस्थित आलोचना की जा सके। निम्नवर्गीय प्रसंग का उद्देश्य दक्षिण एशियाई अध्ययन क्षेत्र में सबाल्टर्न विषयों पर व्यवस्थित और सूचनायुक्त विमर्श को आगे बढ़ाने के साथ-साथ अनुसंधान और शैक्षिक क्रिया-कलापों में सम्भ्रांत पूर्वग्रहों को दूर करने में मदद करना था। रणजीत गुहा इस बात को ज़ोरदार तरीके से उठाते हैं कि सम्भ्रांतीय मानसिकता का विरोध निम्नवर्गीय परियोजना का आधार है। उन्होंने इतिहास-लेखन और समाज-विज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत हर उस आग्रह का विरोध किया जो यह नहीं मानता था कि सबाल्टर्न अपनी नियति खुद निर्धारित कर सकते हैं। गुहा यह मानते हैं कि आलोचना और निषेधात्मकता ही निम्नवर्गीय परियोजना का आधारभूत और अंगीभूत हृदयस्थल है। चूँकि दक्षिण एशियाई अध्ययन क्षेत्र में सम्भ्रांतवाद की जड़ें इतनी गहरी थीं कि इसका दूसरा रूप नहीं हो सकता था।

द प्रोजेक्ट ऑफ़ काउंटर इंसर्जेसी में गुहा ने भारत के किसान-कबीला विषयक इतिहासकारों को आड़े हाथों लिया क्योंकि उनके लेखन में किसान आंदोलनों को आकस्मिक और अनियोजित बताते हुए उनमें विद्रोह की चेतना को नकारा गया था। गुहा के अनुसार उस इतिहास-लेखन में कृषक विद्रोह की चर्चा अपनी इच्छाशक्ति और तर्कों के द्वारा प्रतिरोध का एक सकारात्मक माहौल बनाने वाली अस्मिता से इतर सिर्फ़ एक स्थूल व्यक्ति अथवा वर्ग के सदस्य के रूप में की गयी है। साथ ही कृषक-आंदोलनों से जुड़े दृष्टांतों और

आख्यानों का सीधे-सीधे भाषाई आधार पर केवल एक स्वाभाविक प्राकृतिक घटना के रूप में ही चित्रण किया गया है। रणजीत गुहा ने सरकारी रपटों से लेकर वामपंथी इतिहासकारों द्वारा लिखे गये बगावत के ब्योरों की आलोचना करते हुए उन पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने प्रति-विद्रोह का पाठ लिखा है और विद्रोही को अपना नायक मानने से इनकार कर दिया है।

अ रूल ऑफ़ प्रॉपर्टी फ़ॉर बंगाल में रणजीत गुहा ने एलेग्ज़ेंडर डॉ से थॉमस लॉ तक के काल में उन विचारों की पड़ताल की जिनमें बंगाल के दुर्भाग्य और दुर्दिनों का रामबाण इलाज यह बताया गया था कि भूमि को स्थाई निजी सम्पत्ति का रूप दे दिया जाए। वे बताते हैं कि कैसे एक व्यापारी एलेग्ज़ेंडर डॉ. जिसका संबंध मूलतः बंगाल के एक वाणिज्यिक वसूली विभाग से था, का स्थाई भूमि बंदोबस्त का प्रस्ताव वास्तव में बंगाल में क्रागज की मुद्रा के प्रचलन की वकालत के पश्च-प्रस्ताव के तौर पर उभर कर सामने आया। हेनरी पैटुलो ने इसका क्रम उलट दिया और वाणिज्य-व्यापार के बरक्स भूमि की महत्ता को वरीयता दे कर उसे लाभ और महत्त्व के केंद्र में ला खड़ा किया। इसके बाद गुहा ने अपने मुख्य चरित्र फ़िलिप फ़्रांसिस की राजनीति और नायकत्व की चर्चा करते हुए बताया कि कैसे हेनरी फ़्रांसिस ने अपनी 1776 की योजना में बंगाल में बेहतर ज़मींदार वर्ग की रचना की प्रस्तावना रखा। उन्हें ज़रूरत पड़ने पर बिचौलिया वर्ग की मदद से भी कोई गुरेज़ नहीं था। साथ ही गुहा इस कृति में उस विरोधाभास को भी चिह्नित करते हैं जिसमें भूमि की ख़रीद-फ़रोख़्त में वृद्धि की चाह और भूमिधारी अभिजात वर्ग बनने की इच्छा का परस्पर प्रतिस्पर्धी व्यवहार अपने को मज़बूती से दिखा रहा था। इसके बाद गुहा ने लॉर्ड कार्नवालिस के परामर्शदाता थॉमस लॉ की विवेचना की जिनके कारण पूर्व-पूँजीवादी चिंतन के बचे-खुचे अवशेषों का भी लोप हो गया और बंगाल में भू-सम्पत्ति हेतु पूँजीवाद का नया ब्लू-प्रिंट स्थाई बंदोबस्त की शकल में प्रकट हुआ।

एलिमेंटरी आस्पेक्ट्स में रणजीत गुहा ने विद्रोही-चेतना के तर्कों को परिभाषित करने के क्रम में प्रतिवाद, अस्वीकरण, द्विधार्थकता, रूपवाद, सुदृढ़ीकरण, पारगमन और क्षेत्रीयता जैसे अवधारणात्मक पैमाने विकसित किये। प्रभुत्वशाली भूमिपति, महाजनों और आधिकारिक बिचौलियों के प्रति कृषकों के नकारात्मक बोध द्वारा गुहा ने कृषक-चेतना को अस्मिता के आईने में परिभाषित किया। गुहा ने तर्क दिया कि कैसे खेतिहर किसान अपने गुणों और विशेषताओं की बजाय या तो नकारात्मकता या फिर अपने से श्रेष्ठ की तुलना में स्वयं की कमतरी की अनुभूति द्वारा खुद की पहचान करते हैं। श्रेष्ठ और निम्न को गुहा प्रभु-वर्ग और

अधीनस्थ के रूप में शब्दबद्ध करते हुए दिखाते हैं कि स्रोतों के तौर पर इस्तेमाल दस्तावेज़ सम्भ्रांत लोगों द्वारा तैयार किये जाने के कारण सम्भ्रांत की मानसिकता और भाषा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए उन्हें सावधानीपूर्वक पड़ताल के बाद ही इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

डोमिनेंस विदआउट हेजिमनी मूलतः अलग-अलग निबंधों का संकलन है। यद्यपि उनके परिप्रेक्ष्य में एकरूपता नहीं है फिर भी सबाल्टर्न दृष्टि से ब्रिटिश राज के तहत भारत के अतीत को निरूपित करने का यह एक अच्छा प्रयास है। इस कृति में गुहा औपनिवेशिक भारत में वर्चस्व की संरचना को प्रस्तुत करते हुए बरास्ते इतिहास-लेखन इसकी कार्यप्रणाली अनावृत करते हैं।

रणजीत गुहा को इतिहास-लेखन में निम्नवर्गीय झुकाव पर काफी विरोध का सामना करना पड़ा। कई विद्वानों ने किसान विद्रोह की स्वतःस्फूर्तता को ग़लत ढंग से पेश करने के लिए रणजीत गुहा की आलोचना की और कहा कि गुहा स्वतःस्फूर्तता को प्रतिवर्तित कार्रवाई का पर्याय मान बैठे हैं साथ ही यह भी कहा गया कि गुहा का पूरा जोर स्वतःस्फूर्तता को एक राजनीतिक प्रविधि के रूप में पुनर्स्थापित करने पर रहा। इसके अलावा उन पर यह भी आरोप लगाया गया कि उन्होंने विद्रोहियों की चेतना में धर्म की प्रमुखता पर बल देकर अंग्रेज़ों के उस आधिकारिक दृष्टिकोण का ही समर्थन किया था जो विद्रोह में निहित तर्कहीनता पर बल दे कर उपनिवेशवाद को ग्रामीण तथा क़बीलाई समुदायों के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में विघटनकारी भूमिका से मुक्त करता है। सबाल्टर्न स्टडीज़ के आरंभिक खण्डों की आलोचना करते हुए रोज़ालिंड ओ हैनलन ने बताया कि कैसे इसके मूल में अनिवार्य तौर पर एक पूर्वग्रह और आत्मनिर्धारण का तत्त्व मौजूद रहा है।

सबाल्टर्न स्टडीज़ के चौथे खण्ड की प्रस्तावना में रणजीत गुहा ने अपने आलोचकों को स्थापित विचारों का वाहक और पुराने जमाने के जंग लगे शिक्षाविद् करार दिया जो अपने उदारतावादी और वामपंथी घेरे के भीतर सरकारी सत्य के रखवाले प्रतीत होते हैं। गुहा के खिलाफ़ हीगेलवाद और प्रत्यक्षवाद के आरोपों को परस्पर अंतर्विरोधी घोषित करते हुए और गुहा पर लगे आरोपों का खण्डन करते हुए दीपेश चक्रवर्ती ने कहा है कि तथाकथित विफलता ही निम्नवर्गीय-परियोजना का सचेतन प्रयास है। चक्रवर्ती के अनुसार निम्नवर्गीय प्रसंग परियोजना का सबसे प्रमुख उद्देश्य उस चेतना को समझना है, जिसके तहत निम्न वर्ग सम्भ्रांत वर्ग से बिलकुल और स्वतंत्र राजनीति करता है। जनता की यही राजनीति एक स्वायत्त अधिकार-क्षेत्र है जिसे रणजीत गुहा ने अपने पूरे चिंतन, लेखन और शोध का आधार बनाया है।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन

बाशम, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रमेश चंद्र मजूमदार, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, सखाराम गणेश देउस्कर।

संदर्भ

1. दीपेश चक्रवर्ती (1998), 'पोस्टकोलोनियलिटी ऐंड आर्टिफ़ायिस ऑफ़ हिस्ट्री', रणजीत गुहा (सम्पा.), *अ सबाल्टर्न स्टडीज़ रीडर*, 1986-1995, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. रणजीत गुहा (1988), *एन हिस्टोरोग्राफी ऑफ़ इण्डिया: ए नाइंटीथ सेंचुरी एजेंडा ऐंड इट्स इम्प्लीकेशंस*, के.पी. बागची ऐंड कम्पनी, कोलकाता.
3. डेविड लडन (2001), *रीडिंग सबाल्टर्न स्टडीज़ : क्रिटिकल हिस्ट्री, कंटेस्टेड मीनिंग ऐंड द ग्लोबलाइज़ेशन ऑफ़ साउथ एशिया*, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.
4. रणजीत गुहा (1988), *द प्रोज़ ऑफ़ काउंटर इंसेर्जेंसी*, रणजीत गुहा और गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक (सम्पा.), सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज़, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— निर्मल कुमार पाण्डेय

रमाबाई रानाडे

(Ramabai Ranaday)

उन्नीसवीं सदी के महाराष्ट्र में हुए सांस्कृतिक नवजागरण की प्रमुख हस्ती रमाबाई रानाडे (1862-1924) ने अपनी परिस्थितियों से टकरा कर न सिर्फ़ अपना जीवन सँवारा बल्कि कई विपदाग्रस्त स्त्रियों को स्वाभिमान के साथ जीने के साधन प्रदान किये। सेवा सदन नामक संस्थान स्थापित करके रमाबाई ने स्त्रियों को आत्मसम्मान के साथ जीवन जीने लायक विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था की। रमाबाई ने भारत में नर्सिंग (स्वास्थ्य परिचर्या) की संस्था को उसके मुश्किल दिनों में सहेजा और सँजोया। नर्सिंग के माध्यम से उन्होंने आर्थिक-सामाजिक तौर पर कमजोर महिलाओं को सबल बनाया और रूढ़िवादी भारतीय समाज में नर्सिंग के पेशे को समुचित सम्मान और स्वीकृति दिलायी। 1904 में भारतीय महिला सम्मेलन की स्थापना हुई जिसका अध्यक्ष रमाबाई को ही बनाया गया। यरवदा जेल के अधीक्षक के तौर पर रानाडे ने स्त्री कैदियों को कई तरह की सुविधाएँ दिलाने की पहलकदमी ली। पारिवारिक अंधविश्वासों ने उन्हें प्राथमिक शिक्षा से भी वंचित रखा, लेकिन इसके बावजूद

स्वाध्याय के बल पर वे लेखिका बनीं और न केवल मराठी में अपनी आत्मकथा *आमच्या आयुष्यातील कही आठवणी* की रचना की, बल्कि अनेक पुस्तकों की समीक्षा भी लिखी।

हालाँकि रमाबाई न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानाडे जैसे महान समाज-सुधारक की पत्नी थीं, लेकिन अपने विद्वान और विख्यात पति के व्यक्तित्व के आगे उनकी अपनी प्रभा मंद होने के बजाय और निखरी। जस्टिस रानाडे की मृत्यु के बाद उनके व्याख्यानों का संकलन रमाबाई की देख-रेख में ही प्रकाशित हुआ। यह अलग बात है कि रमाबाई रानाडे ने खुद को अपने पति की छाया करार देते हुए अपनी हर उपलब्धि का श्रेय उन्हीं को दिया। रैडिकल समाज-सुधारों के आलोचक बाल गंगाधर तिलक जैसे नेता रमाबाई के इस रवैये के बड़े प्रशंसक थे।

रमाबाई रानाडे ने स्त्री-अधिकारों का संघर्ष अपने तरीके चलाया। उन्होंने महिलाओं के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के आंदोलन में हिस्सा लिया। 1921-1922 में उन्होंने महिलाओं को मतदान का अधिकार दिलाने के लिए हुए आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी की। उनके अनुसार यह केवल महिलाओं के मतदान के अधिकार की लड़ाई नहीं थी, बल्कि राजनीतिक सुधारों की प्रक्रिया में महिलाओं को पुरुषों के बराबर प्रतिनिधित्व दिलाने का संघर्ष था। आज उन्हें भारतीय नारीवाद की पुरोधाओं की उस पंक्ति में सम्मान के साथ स्थान दिया जाता है जिसके शीर्ष पर पण्डिता रमाबाई सरस्वती और आनंदीबाई जोशी जैसी हस्तियों के ऐतिहासिक योगदान दर्ज हैं।

रमाबाई रानाडे का जन्म यमुना कार्लेकर के नाम से महाराष्ट्र के सतारा जिले के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्हें प्राथमिक शिक्षा भी नहीं दी गयी जो उस समय के हिसाब से भी हैरत की बात थी। महाराष्ट्र के ब्राह्मण परिवारों में लड़कियों को कम से कम प्राथमिक शिक्षा देने का चलन हो चुका था। रमाबाई को शिक्षा से वंचित रखने के पीछे सामाजिक नहीं बल्कि अंधविश्वासों से भरा हुआ पारिवारिक माहौल था। उनके परिवार की एक महिला में धार्मिक पुस्तकें और धार्मिक छंद पढ़ने की योग्यता थी। उसके पति का निधन होने के ज़िम्मेदारी घर वालों ने उस महिला के शिक्षित होने पर मढ़ दी। कहा गया कि इस कारण से ही उसके पति का असमय निधन हुआ है। इसके बाद से रमाबाई रानाडे के

पितृ-परिवार में महिलाओं की शिक्षा के बारे में सोचना तक पाप समझा जाने लगा।

यह वही दौर था जब पुणे में अपने समय के प्रख्यात समाज सुधारक न्यायमूर्ति रानाडे के समाज-सुधारों से महाराष्ट्रीय समाज को एक नया उछाल मिल रहा था। रानाडे विधवा विवाह के ज़बरदस्त समर्थक थे। जब उनकी पत्नी का देहांत हुआ तो न्यायमूर्ति के कई मित्रों ने उनसे आग्रह किया कि अब वे किसी विधवा से विवाह करके समाज-सुधार की व्यक्तिगत मिसाल पेश करें। यह देख कर रानाडे के पिता को भय सताने लगा कि उनका पुत्र किसी विधवा से विवाह न कर ले। उधर रमाबाई के पिता भी अपनी 'बड़ी' हो रही कन्या के लिए सुयोग्य वर की तलाश कर रहे थे। वैवाहिक संबंधों की पारस्परिक तलाश के परिणामस्वरूप 1873 में एक 11 वर्षीय बालिका-वधू रमाबाई और 32 वर्षीय विधुर न्यायाधीश रानाडे का विवाह हुआ। पिता के दबाव में हुए इस विवाह से न्यायाधीश खिन्न थे क्योंकि वे तो किसी विधवा से विवाह करना चाहते थे। बालिका-वधू की मनोदशा भी बहुत अच्छी नहीं थी क्योंकि विदाई के समय रमाबाई के पिता ने उन्हें अच्छा खासा भाषण पिला कर अपने नये घर में संयम और सहन-शक्ति के साथ रहने की हिदायत दी थी। रमाबाई को पिता की तरफ़ से हिदायत मिली थी कि वे ससुराल में अपने साथ घट रही पारिवारिक परेशानियों का दुखड़ा पति के सामने कभी न रोयें।

जस्टिस रानाडे ने अपनी नव-विवाहिता पत्नी की परीक्षा लेने के उद्देश्य से पूछा कि वे (रानाडे) कौन हैं और उनका नाम क्या है? अबोध बालिका ने उनका पूरा नाम और परिचय दे दिया। उस समय की परम्परा के मुताबिक भारतीय पत्नी अपने पति का नाम जुबान पर नहीं लाती थी। लेकिन रमाबाई को इस बारे कुछ पता नहीं था। वैसे इस वार्तालाप से महादेव रानाडे को अपनी पत्नी के बुद्धिमान होने का विश्वास हो गया। उन्होंने रमाबाई को पढ़ाने का संकल्प लिया। न्यायाधीश रानाडे रमाबाई को घर पर स्वयं ही पढ़ाते थे। उनके संयुक्त परिवार की अन्य महिलाओं ने महिला शिक्षा के इस पूर्णतः निजी अभियान का तीव्र विरोध किया। रमाबाई ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, 'घर की नौ महिलाओं ने मेरे खिलाफ़ एक मोर्चा बना लिया था। शाम को मेरी पढ़ाई घर की पहली मंजिल पर होती। मराठी सीखने-पढ़ने में मुझे सबसे ज्यादा परेशानी कविता पढ़ने में होती। इसलिए नहीं कि



रमाबाई रानाडे (1862-1924)

में मराठी पढ़ नहीं सकती थी, बल्कि इसलिए कि यदि मैं धीमे स्वर में पढ़ती तो वे (रानाडे) नाराज़ हो जाते और यदि उच्च स्वर में पढ़ती तो अन्य महिलाएँ, जो कान लगा कर मेरी बातें सुनती थीं, अगले दिन सुबह मेरे उच्चारण और पाठ करने की विधि का मज़ाक उड़ातीं।'

सौभाग्यवश बालिका रमाबाई रानाडे जितनी दृढ़ निश्चयी थीं, उसके पति भी अपनी पत्नी की शिक्षा के लिए उतने ही दृढ़ संकल्पी थे। मराठी के बाद जब अंग्रेज़ी सीखने की शुरुआत हुई तो रमाबाई को नयी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। पहली मंज़िल के अपने कमरे से नीचे उतर कर घर की दूसरी महिलाओं के सामने आने में भी उन्हें बहुत डर लगता था। रमाबाई का अंग्रेज़ी सीखना बाक्री महिलाओं को बिल्कुल नागवार लगा था। इतनी छोटी उम्र में भी रमाबाई इतनी समझदार थीं कि उन्होंने संयुक्त परिवार के भारी विरोध के बीच पत्नी की शिक्षा के लिए अत्यंत महत्वाकांक्षी पति के अनुशासन के साथ बाक्री सारे पारिवारिक कार्यों के बावजूद भी पढ़ाई को निर्बाध चलाये रखा। संयोग से बाद में महादेव रानाडे का तबादला पुणे से नासिक हो गया। संयुक्त परिवार के पुणे में ही छूट जाने के बाद रमाबाई के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

1881 में मुंबई आने के बाद से न्यायमूर्ति रानाडे प्रार्थना समाज की बैठकों में सपत्नीक उपस्थित होने लगे। यहाँ पर रमाबाई ने महिलाओं को प्रोत्साहन देने के लिए आयोजित की गयी प्रार्थना समाज की बैठकों में भाषण देना शुरू किया। न्यायमूर्ति रानाडे ने उस समय की प्रख्यात विदुषी पण्डिता रमाबाई को व्याख्यान देने के लिए अपने घर पर बुलाया। बाद में आर्य महिला समाज की स्थापना और संचालन में रमाबाई ने अपनी नामराशि पण्डिता को भरपूर सहयोग दिया। रमाबाई रानाडे ने 1894 में हिंदू महिला सामाजिक क्लब की स्थापना की ताकि स्त्रियों को पढ़ने-पढ़ाने व सिलाई-बिनाई सिखायी जा सके। 1901 में न्यायमूर्ति रानाडे के निधन के बाद रमाबाई ने स्वयं को सभी सामाजिक गतिविधियों से अलग कर लिया।

1904 में विभिन्न सामाजिक संगठनों के नेताओं ने भारतीय महिला सम्मेलन की स्थापना करने का निर्णय लिया और रमाबाई रानाडे से इसका अध्यक्ष पद स्वीकार करने का आग्रह किया। इसी वर्ष उन्हें यरवदा जेल का अधीक्षक भी नियुक्त किया गया जहाँ दौरान रमाबाई ने महिला कैदियों और उनके बच्चों को समुचित सुविधाएँ देने के कई प्रयास किये। 1908 में एक पारसी समाज सुधारक मलबारी और गिडूमल ने रमाबाई रानाडे से प्रेरणा लेकर मुम्बई में सेवा सदन की स्थापना की। उन्होंने सर्वसम्मति से रमाबाई को इस संस्था का आजीवन सलाहकार और अध्यक्ष चुना। रमाबाई का हिंदू महिलाओं का क्लब पुणे में पहले से ही काम कर रहा था।

1909 में सेवासदन की एक शाखा ने पुणे में काम शुरू किया। इस संस्था का उद्देश्य महिलाओं में आपसी सहयोग बढ़ाना और शिक्षा के माध्यम से उनके व्यक्तित्व का विकास करते हुए उन्हें सामाजिक कार्यों के लिए प्रेरित करना था।

उस दौर के भारत में असंख्य महिलाओं की असमय मृत्यु का एकमात्र कारण महिला डॉक्टरों और प्रशिक्षित नर्सों की कमी थी। इसलिए रमाबाई ने सेवासदन के माध्यम से 1911 में नर्सिंग और प्रसूति की शिक्षा देना शुरू किया। आरम्भ में जिन महिलाओं ने इस शिक्षा के लिए तत्परता दिखाई, उनके लिए अंग्रेज़ी भाषा में प्रशिक्षण असम्भव था। संस्थान ने यह पाठ्यक्रम मराठी में तैयार किया। परम्पराओं और रूढ़िवादी विचारों के कारण इन महिलाओं को पुरुष रोगियों का उपचार करने में बहुत हिचक थी। इस हिचक को तोड़ने के लिए रमाबाई रानाडे ने उन नर्सों से पुरुष रोगी को अपने पिता और भाई जैसा मान कर उपचार करने को कहा। रमाबाई ने यह सुनिश्चित किया कि हर रोगी का समुचित उपचार व सम्पूर्ण देखभाल हो, चाहे वह किसी भी जाति, पंथ, धर्म या वर्ग का हो। वहाँ काम करने वाली महिलाओं ने तो इस समतावादी दर्शन को स्वीकार कर लिया लेकिन इन महिलाओं के घर वालों ने जात-धर्म-वर्ग भेद भुलाने के दण्ड में उन्हें घर से निष्कासित कर दिया। इसी कारण से रमाबाई रानाडे ने अपने ही घर में एक महिला छात्रावास भी शुरू कर दिया। नर्सिंग और प्रसूति सीखने वाली प्रारम्भिक बारह लड़कियों में से 11 विधवाएँ थीं। अपने जीवन-काल में रमाबाई रानाडे ने सेवासदन के माध्यम से हजारों में महिलाओं को नर्स के रूप में प्रशिक्षित किया। नव-प्रसूताओं और नवजात शिशुओं के स्वास्थ्य की देखभाल में सेवासदन को पूरे महाराष्ट्र में अग्रणी माना जाता था।

देखें : अरुणा आसफ़ अली, आनंदीबाई जोशी, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, कमला देवी चट्टोपाध्याय, दलित-नारीवाद, दुर्गाबाई देशमुख, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, महाराष्ट्र में सुधारणा-1 से 5 तक, महादेवी वर्मा, संतोष कुमारी देवी।

संदर्भ

1. रमाबाई रानाडे (1901), *आमच्या आयुष्यातील कही आठवणी*, वरदा, पुणे.
2. रमाबाई रानाडे (1963), *रानाडे : हिज़ वाइफ़ रेमिनिसेंस*, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार.
3. शेफ़ाली चंद्रा (2012), *द सेक्शुअल लाइफ़ ऑफ़ इंग्लिश : लॉन्गवेजेज़ ऑफ़ कास्ट एंड डिजायर इन कोलोनियल इण्डिया*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम, यूएसए.
4. पद्मा अंगोल (2006), *द ऐमर्जेन्स ऑफ़ फ़ेमिनिज़म इन इण्डिया*, (1850-1920), ऐशगेट पब्लिकेशंस, यूके.

— रवि दत्त वाजपेयी

रमेश चंद्र दत्त

(Ramesh Chunder Dutt)

भारतीय राष्ट्रवाद के पुरोधों में से एक रमेश चंद्र दत्त (1848-1909) का आर्थिक विचारों के इतिहास में प्रमुख स्थान है। दादाभाई नौरोजी और मेजर बी.डी. बसु के साथ दत्त तीसरे आर्थिक चिंतक थे जिन्होंने औपनिवेशिक शासन के तहत भारतीय अर्थव्यवस्था को हुए नुकसान के प्रामाणिक विवरण पेश किये और विख्यात 'ट्रेन थियरी' का प्रतिपादन किया। इसका मतलब यह था कि अंग्रेज अपने लाभ के लिए निरंतर निर्यात थोपने और अनावश्यक अधिभार वसूलने के जरिये भारतीय अर्थव्यवस्था को निचोड़ रहे हैं। अपने गहन अनुसंधान और विश्लेषण से दत्त ने दिखाया कि ब्रिटिश शासन न केवल भारत की भौतिक स्थिति सुधारने में विफल रहा, बल्कि उसके काल में भारत का वि-उद्योगीकरण हुआ। ब्रिटिश आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप भारत के दस्तकारी उत्पादन में जबरदस्त गिरावट आयी और उसकी भरपाई के रूप में औद्योगिक उत्पादन में बढ़ोतरी नहीं हुई। न ही भारतीय उद्योगों को किसी भी तरह का संरक्षण प्रदान किया गया। नतीजे के तौर पर भारतीय अर्थव्यवस्था पहले से कहीं ज्यादा खेती पर निर्भर होने के लिए मजबूर हो गयी। भारतीय समाज का देहातीकरण होता चला गया। दत्त का कहना था कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद के कथित रचनात्मक क्रदमों से भी भारत को लाभ नहीं हुआ। अंग्रेजों द्वारा शुरू किये गये रेल-परिवहन के कारण पारम्परिक परिवहन सेवाएँ मारी गयीं और ट्रेनों का इस्तेमाल ब्रिटिश कारखानों में बने माल की दुलाई के लिए होता रहा। दत्त का निष्कर्ष था कि भारतीय अर्थव्यवस्था अविकसित नहीं है, बल्कि उसका विकास अवरुद्ध कर दिया गया है। उनके द्वारा लिखा गया इतिहास विद्वानों के एक हिस्से में प्रचलित उस मार्क्सवादी धारणा को झुठलाता है जिसके मुताबिक ब्रिटिश उपनिवेशवाद की भूमिका अनभिप्रेत रूप से प्रगतिशील ठहरायी जाती है।

रमेश चंद्र दत्त का जन्म 1848 में कोलकाता के एक ऐसे परिवार में हुआ था जिसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तहत व्यापार करके काफ़ी सम्पत्ति अर्जित की थी। 1869 में वे आईसीएस बने और 1882 में बंगाल के विभिन्न जिलों में प्रशासनिक कामकाज देखते रहे। 1883 में ज़िला मजिस्ट्रेट बनने के बाद 1894 में बर्दवान ज़िले के डिप्टी कमिश्नर नियुक्त किये गये। उन्नीसवीं सदी में इतने बड़े पद पर पहुँचने वाले वे पहले भारतीय थे। 1897 में उन्होंने आईसीएस से अवकाश ग्रहण किया और 1904 तक की अवधि यूरोप में गुज़ारी। वे लंदन के युनिवर्सिटी कॉलेज में इतिहास के

प्रोफ़ेसर भी रहे। 1899 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन ने उन्हें अपना अध्यक्ष निर्वाचित किया।

ब्रिटिश आर्थिक नीति के दुष्परिणामों पर प्रकाश डालने के अलावा आर्थिक विचारों के विकास में दत्त का दूसरा प्रमुख योगदान यह था कि उन्होंने अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप की सीमा निर्धारित करने की वकालत की। यह सिफ़ारिश उन्होंने बीसवीं सदी की शुरुआत में एक ऐसे समय में की जब अन्य भारतीय अर्थशास्त्री आर्थिक जीवन में सरकार के हस्तक्षेप को कम करने की माँग कर रहे थे। दत्त का कहना था कि सरकार को निजी पहलक़दमी घटाने वाले हस्तक्षेपों से बचना चाहिए, लेकिन खास परिस्थितियों में दखलअंदाज़ी के लिए तैयार रहना चाहिए ताकि अस्थायी क्रिस्म के संकटों से बचते हुए हितों का टकराव टाला जा सके। यथार्थ का आकलन करने की दत्त की पद्धति भी उस ज़माने के हिसाब से अलग तरह की थी। वास्तविकता के अनेक कारणों में एक को प्रमुख और दूसरों को उसका प्रभाव मान कर चलने के बजाय दत्त ने आर्थिक और राजनीतिक तथ्यों की परस्पर निर्भरता की अवधारणा विकसित की। उनकी मान्यता थी कि समाज के तंत्र में हर चीज़ एक-दूसरे पर निर्भर है, परस्पर जुड़ी हुई है इसलिए संतुलन बिगाड़ने जैसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए। लेकिन, साथ में दत्त यह भी समझते थे कि संतुलन हमेशा एक जैसा नहीं रहता है। वह लगातार बदलता रहता है। इसलिए सरकार को हस्तक्षेप करते समय की फ़ौरी स्थिति की अंतर्निहित गतिशीलता पर अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए, वरना उसके हस्तक्षेपकारी क्रदमों का परिणाम विपरीत भी निकल सकता है।

अर्थशास्त्र पर दत्त की रचनाओं का प्रकाशन 1900 से शुरू हुआ। उनकी पहली पुस्तक थी भारत में पड़ने वाले अकालों का अध्ययन करने वाली *फ़ेमिंस ऐंड लैण्ड एसेसमेंट इन इण्डिया* जिसकी सराहना रूसी अराजकतावादी दार्शनिक प्रिंस क्रोपाटकिन ने भी की थी। उनकी इस कृति से ज़ाहिर था कि वे भारतीय किसान की जीवन-स्थितियों में कितनी दिलचस्पी रखते हैं और उनका आर्थिक चिंतन किस तरह से उसकी स्थिति सुधारने पर केंद्रित है। दत्त ने सवाल उठाया कि 1858 के बाद से चालीस साल की अवधि में भारत की जनता को दस भीषण अकालों का सामना क्यों करना पड़ा? उन्होंने पूछा कि इस दौरान हुकूमत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बजाय सम्राज्ञी के हाथ में थी। इस दौरान आम तौर पर शांति रही और केवल एक ही युद्ध हुआ। हुकूमत के पास प्रशिक्षित प्रशासक थे जिन्हें भारतीय परिस्थितियों का पर्याप्त अनुभव था। ज़मीन उपजाऊ थी, किसान उद्यमी और किफ़ायतशार थे। ऐसी अनुकूल परिस्थितियों के बावजूद ऐसा क्यों हुआ कि इन अकालों के दौरान क़रीब डेढ़ करोड़ लोग भूख के शिकार

हो कर जान से हाथ से धो बैठे ?

दत्त यह मानने के लिए तैयार नहीं हुए कि अकालों का कारण आबादी में तेज़ रफ़्तार से हुई बढ़ोतरी है या भारत के किसान लापरवाह, काहिल और फ़िज़ूलखर्च हैं। उन्होंने यह भी स्वीकार नहीं किया कि किसानों का सूदखोर महाजनों के शिकंजे में फँसा होना अकाल का कारण हो सकता है। दत्त ने अपने अध्ययन में दिखाया कि भारत में आबादी बढ़ने की रफ़्तार इंग्लैण्ड के मुकाबले न केवल हमेशा कम रही, बल्कि उनके अध्ययन से पहले के दस वर्षों में इस देश की आबादी में बढ़ोतरी रुक ही गयी थी। दत्त के अनुसार भारत से ज़्यादा परिश्रमी और कम खर्च में गुज़र-बसर करने वाले किसान दुनिया में और कहीं नहीं हैं। उन्होंने अकाल के कारणों की जाँच



रमेश चंद्र दत्त (1848-1909)

करने वाले आयोगों की रपटों का हवाला देते हुए कहा कि सरकारी राजस्व की कठोरतापूर्वक वसूली के कारण ही किसानों को महाजनों पर निर्भर होना पड़ता है। अंग्रेज़ सरकार को आईना दिखाते हुए दत्त ने प्रदर्शित किया कि अकाल के बावजूद ऐसा कोई साल नहीं था जब सारी फ़सलें चौपट हो गयी हों। सरकारी गोदामों में अनाज हमेशा भरा रहा। एक प्रांत में अगर फ़सल ख़राब हो गयी हो, तो दूसरे प्रांत में फ़सल अच्छी हुई। खेती का विस्तार हुआ है, वह सघन भी हुई है, पहले के मुकाबले पैदावार भी बढ़ी है, खेतिहर उपज की क्रीमों भी बढ़ी हैं, पर इसके बाद भी किसानों की हालत लगातार ख़राब होती गयी है। इसके लिए दत्त ने ब्रिटिश नीतियों को ज़िम्मेदार ठहराया।

1902 में दत्त के महान ग्रंथ *द इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इण्डिया* का पहला खण्ड प्रकाशित हुआ। इसे ब्रिटिश हुकूमत पर लिखे गये सबसे बेहतरीन ग्रंथ की संज्ञा दी जाती है। इसमें 1757 में अंग्रेज़ों की सत्ता की स्थापना से लेकर सम्राज्ञी की हुकूमत लागू होने तक का आर्थिक इतिहास पेश किया गया था। इसमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तहत अपनायी गयी खेती और भूमि बंदोबस्त संबंधी नीतियों, व्यापार और कारख़ाना उत्पादन संबंधी नीतियों के साथ-साथ वित्त और प्रशासन संबंधी नीतियों का विश्लेषणात्मक विवरण था। पुस्तक के ब्रिटिश समीक्षकों ने भी इसकी निष्पक्षता और गहराई का लोहा माना। 1904 में इस महाग्रंथ का दूसरा खण्ड प्रकाशित हुआ। उन्होंने प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर दावा किया कि ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक वर्षों में अपनायी गयी स्वार्थपूर्ण नीतियाँ भारतीय उद्योगों के पतन के लिए ज़िम्मेदार रही हैं।

दत्त ने भारत में ग़रीबी के कारणों पर प्रकाश डालते हुए साबित किया कि अंग्रेज़ों की नीति के कारण देशी उद्योग और हस्तकलाओं को तबाह हो जाना पड़ा। लाखों लोग बेरोज़गार हो गये जिससे जीवन-यापन के लिए उनके सामने खेती के अलावा कोई और चारा नहीं रह गया। इस तरह खेती के भरोसे जीवित रहने वालों की संख्या हद से ज़्यादा बढ़ गयी और सभी के रहन-सहन का स्तर गिर गया। इसके साथ-साथ अंग्रेज़ भारत पर हुकूमत करने के लिए भारी धन खर्चते रहे जिसका मुल्क को कोई फ़ायदा नहीं पहुँचा। राजकोषीय नीति और भू-राजस्व प्रणाली कुछ इस तरह की बनायी गयी कि किसान के पास सिर्फ़ ज़िंदा बचे रहने लायक संसाधन ही रह गये। दत्त के पास इन समस्याओं का इलाज करने का नुस्खा भी था। उन्होंने सिफ़ारिश की कि

भारतीय मिल उद्योग से उत्पादन शुल्क हटा लिया जाए, नीची दरों के नरम लगान के अलावा बाक़ी सभी टैक्सों से किसानों को छुटकारा दिया जाए, इंग्लैण्ड में होने वाली फ़ौजी और शाही खर्च भारत से नहीं वसूले जाने चाहिए और भारत में भी फ़ौजी खर्च घटाये जाने चाहिए।

दत्त ने जैसे ही ये सुझाव दिये, ब्रिटिश हुकूमत और उसके हिमायतियों ने उनकी चौतरफ़ा आलोचना शुरू कर दी। उनके तथ्यों और विश्लेषण को ख़ारिज करने की कोशिश की गयी। ध्यान रहे कि दत्त इण्डियन सिविल सर्विसेज़ के वरिष्ठ अधिकारी थे और ब्रिटिश शासन की सेवा करने के दायित्व से बँधे हुए थे। लेकिन, अपनी बात पर जमे रह कर उन्होंने अपने विरोधियों के साथ बहस की और सरकार से लगातार अनुरोध किया कि वह भारत की आर्थिक दशा में सुधार के लिए नीतियाँ बदले।

आर्थिक इतिहासकार के अलावा रमेश चंद्र दत्त एक प्रतिभाशाली और कुशल सांस्कृतिक इतिहासकार भी थे। बंगीय साहित्य परिषद् के संस्थापक अध्यक्ष रहने के साथ-साथ उन्होंने *महाभारत* और *रामायण* का अंग्रेज़ी में संक्षिप्त कव्यानुवाद भी किया। संस्कृत साहित्य के प्रमाणों के आधार पर दत्त ने भारत की प्राचीन सभ्यता के इतिहास की रचना भी की। उनका निधन 1909 में हुआ।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव

शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. मीनाक्षी मुखर्जी (2009), ऐन इण्डियन फ़ॉर आल सीज़ंस : द मेनी लाइव्ज़ ऑफ़ आर.सी. दत्त, पेंगुइन, नयी दिल्ली.
2. पॉलिन रूल (1977), द परसूट ऑफ़ प्रोग्रेस : अ स्टडी ऑफ़ इंटेलेक्चुअल डिवेलपमेंट ऑफ़ रमेश चंद्र दत्त, 1848-1888, एडीशंस इण्डियन, कोलकाता.
3. पी.के. गोपालकृष्णन (1980), भारत में अर्थशास्त्र संबंधी विचारों का विकास, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
4. जे.एन.बी. गुप्त (1911), लाइफ़ ऐंड वर्क ऑफ़ रमेश चंद्र दत्त, जे.एम. डेंट ऐंड संज, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

रमेश चंद्र मजूमदार

(Rumesh Chandra Majumdar)

राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर रमेश चंद्र मजूमदार (1884-1980) आधुनिक, मध्यकाल तथा प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विषयक अध्ययन के साथ-साथ दक्षिण-पूर्व एशियाई इतिहास एवं संस्कृति पर शोध करने वाले एकमात्र इतिहासकार थे। जर्मन, फ्रेंच, उच्च भाषाओं पर अतिरिक्त महारत ने रमेश चंद्र मजूमदार को दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया के इतिहास और संस्कृति की तथ्यगत पेचीदगियाँ सुलझाने में सहूलियत दी। दक्षिण-पूर्व एशिया के भारतीयकृत राज्यों का विर्णन हिंदू उपनिवेश के तौर पर करने के कारण रमेश चंद्र मजूमदार पर उपनिवेशवादी होने का आरोप लगाया जाता है। इस आरोप पर एच.बी. सरकार का कहना है कि दसवीं सदी में जब इस्लाम इस क्षेत्र में एक राजनीतिक या सांस्कृतिक शक्ति के रूप में नहीं उभरा था तब भारतीय लेखन, कला, साहित्य, विधि-ग्रंथ, राज-काज, राजाओं के देवत्वीकरण के सैद्धांतिक ढाँचे के साथ-साथ भारतीय धर्म, सामाजिक व्यवस्था, कला और स्थापत्य के बिना तत्कालीन दक्षिण-पूर्व एशिया की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। दक्षिण-पूर्व एशिया पर मजूमदार प्रदत्त अवदान पर जी. कोएडेस ने इसी तरह के तर्कों के साथ लिखा है कि कैसे दक्षिण-पूर्व एशिया में भारत के योगदान का जिक्र महज़ इसलिए आवश्यक हो जाता है कि सभ्यता वहाँ भारत के ज़रिये ही पहुँची थी। भारत के बिना इस क्षेत्र का अतीत अज्ञात रहता और सम्भवतः दक्षिण-पूर्व एशिया के बारे में भी हम उतना ही जान पाते जितना न्यू गिनी या ऑस्ट्रेलिया के अतीत के बारे में जानते हैं। इन अर्थों में एच.बी. सरकार यह

नहीं मानते कि राजनीतिक प्रभुत्व की बजाय सांस्कृतिक उपनिवेश के अर्थ में मजूमदार द्वारा उपनिवेश पद का प्रयोग अनुचित है।

रमेश चंद्र मजूमदार का जन्म 4 दिसंबर, 1884 को वर्तमान बांग्लादेश के फ़रीदपुर ज़िले के खंदारपाड़ा गाँव में हुआ था। मजूमदार ने आंध्रा कृषाण एज नाम से शोध प्रबंध लिखा। 91 साल की अवस्था में 12 फ़रवरी, 1980 को उनका निधन हुआ। उनकी विद्वत्ता की स्मृति में आर.सी मजूमदार इंस्टिट्यूट ऑफ़ हिस्टोरिकल रिसर्च की स्थापना हुई और 1981 में डी.सी. सरकार के सम्पादकत्व में इसी नाम के जर्नल की शुरुआत भी की गयी। अपनी रचना द सिपॉय म्युटिनी इन द रिवोल्ट ऑफ़ 1857 में मजूमदार ने भारतीय इतिहास की इस घटना को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम मानने से इनकार करते हुए सिपाही विद्रोह की संज्ञा दी। मजूमदार का कहना था कि 1857-58 की विभीषिका और रक्तपात भारत में स्वतंत्रता आंदोलन की प्रसव पीड़ा के बजाय मध्यकाल के जीर्ण-शीर्ण अभिजन और सामंतवाद के विघटन की प्रक्रिया की तरफ़ इशारा था। मजूमदार ने दिखाया कि कैसे राष्ट्रीय, राजनीतिक और धार्मिक कारणों के बजाय भौतिक लाभ की आशाओं से प्रेरित होकर सिपाहियों ने इस विद्रोह को अंजाम दिया। लेकिन इस तरह के मूल्यांकन के बावजूद शक्तिशाली ब्रिटिश सत्ता के लिए चुनौती का प्रतीक मानते हुए मजूमदार ने 1857 की इस घटना के अप्रत्यक्ष और परवर्ती महत्त्व से इनकार नहीं किया और माना कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम की सारी गरिमा 1857 की इस घटना में अंतर्भूत थी। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास-लेखन के लिए गठित समिति के निदेशक के तौर पर 1857 की घटना को महज़ सिपाही विद्रोह मानने की वजह से तत्कालीन शिक्षा मंत्री अबुल कलाम आज़ाद से मतभेदों के चलते मजूमदार उस समिति से अलग हो गये। यह कृति उन मतभेदों का ही परिणाम थी।

मजूमदार ने भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष का मूल अंग्रेज़ी शिक्षा से लैस भारतीय मध्यवर्ग को माना और बताया कि इसकी पहली उपस्थिति 1905 के बंग-भंग आंदोलन से हुई। मजूमदार के भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष संबंधी विचारों का विस्तृत प्रतिबिम्बन हिस्ट्री ऑफ़ द फ़्रीडम मूवमेंट ऑफ़ इण्डिया में हुआ। रमेश चंद्र मजूमदार ने ग्यारह खण्डों में भारतीय संस्कृति और इतिहास पर व्यापक संकल्पना, विस्तार और प्रस्तुति के साथ हिस्ट्री ऐंड कल्चर ऑफ़ द इण्डियन पीपुल का सम्पादन किया। इसके कृति के चौथे खण्ड में दिल्ली सल्तनत के दौरान हिंदू-मुसलिम संबंधों पर लिखते हुए मजूमदार ने दोनों समुदायों के बीच कभी न समाप्त होने वाले वैमनस्य को रेखांकित करते हुए दर्शाया कि कैसे पीढ़ियों की नज़दीकी के बावजूद दोनों समुदायों के आपसी संबंध बहुत छिछले थे। मजूमदार का कहना था कि इस्लाम में

निहित समानता और बंधुत्व ने जातिप्रथा एवं अस्पृश्यता के रूप में हिंदू सामाजिक जड़ीभूत चेतना पर कोई प्रभाव नहीं डाला। न ही सहिष्णुता और सर्वधर्म समभाव की हिंदू भावना ने मुसलमानों पर कोई प्रभाव डाला। मजूमदार ने यह भी बताया कि सल्तनत युग में मुसलमानों ने हिंदू मंदिरों और देव प्रतिमाओं को नष्ट करने के उत्साह में कोई कमी नहीं आने दी। उनके लिए हिंदू महज एक जिम्मी था अर्थात् एक ऐसा मनुष्य जिसे मुसलिम राज्य द्वारा कुछ निश्चित सेवाएँ अर्पित करने और कुछ खास राजनीतिक तथा नागरिक संदर्भों में अधिकार गँवाने की शर्तों पर संरक्षण प्रदान किया जाता था।

रमेश चंद्र मजूमदार द्वारा के.के. दत्त और एच.सी. रायचौधरी के साथ पुरातात्विक, मुद्राशास्त्रीय, भाषाशास्त्रीय, पुरालेखीय और साहित्यिक स्रोतों को आधार बनाकर लिखी गयी *एन एडवांसड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया* (1946) में एक ओर पुरापाषण युग से शुरू हुए प्राचीन भारतीय इतिहास का लेखा-जोखा है, वहीं मध्यकाल और ब्रिटिश काल के सांस्थानिक, सामाजिक और आर्थिक विकास की ऐतिहासिक संकल्पनाओं और स्थापनाओं का भी विस्तृत वर्णन हुआ है।

1967 में दिये गये एक व्याख्यान में इतिहास-लेखन पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए मजूमदार ने ऐतिहासिक व्याख्या में व्यक्तिपरक सोच से इतर तथ्यों की महत्ता पर जोर दिया। उन्होंने किसी सिद्धांत के प्रतिपादन, किसी दर्शन अथवा विचारधारा की प्रस्तुति हेतु तथ्यों को हाशिये पर रखने से इनकार किया और कहा कि सत्य से विच्छिन्न इतिहास राष्ट्र की सहायता नहीं करता। इसलिए इतिहास का भविष्य छद्म के रेतीले धरातल की बजाय सत्य की स्थाई नींव पर टिका होना चाहिए।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ रजवाड़े-1 और 2, सखाराम गणेश देउस्कर।

संदर्भ

1. एच.बी. सरकार (1982), 'आर.सी. मजूमदार ऐंड हिज वर्क ऑन साउथ ऐंड साउथ-ईस्ट एशिया : अ पैनेोरमिक रिव्यू', *द जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री*, डायमंड जुबली वॉल्यूम.
2. आर.सी. मजूमदार (सम्पा.)(1964), *हिस्ट्री ऐंड कल्चर ऑफ द इण्डियन पीपुल*, चार खण्ड, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई.
3. आर.सी. मजूमदार (1967), *हिस्टोरिओग्राफी इन मॉडर्न इण्डिया*, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई.
4. एस.पी. सेन (सम्पा.)(1973), *हिस्टोरियंस ऐंड हिस्टोरियोग्राफी इन मॉडर्न इण्डिया*, इंस्टिट्यूट ऑफ हिस्टोरिकल स्टडीज, कोलकाता.

— निर्मल कुमार पाण्डेय

रवींद्रनाथ ठाकुर

(Rabindranath Tagore)

रवींद्रनाथ ठाकुर (1861-1941) का साहित्यिक, सांस्कृतिक, कलात्मक और शिक्षा संबंधी योगदान ही उन्हें बीसवीं सदी की महानतम भारतीय हस्तियों में से एक का दर्जा दिलाने के लिए पर्याप्त है। लेकिन राजनीतिक और सामाजिक विचारक के रूप में भी उनकी यात्रा इतनी सघन और अपूर्व है कि उसके स्पर्श के बिना भारत की आधुनिक अस्मिता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। 'विश्व-कवि' और 'गुरुदेव' की उपाधियों से विभूषित एशिया के पहले नोबेल पुरस्कार विजेता के विचारों में ऐसे विकल्पों की पेशकश है जिनके आधार पर हम अपने अतीत को समझ कर भविष्य के साथ उसका रिश्ता तय कर सकते हैं। आजकल छोटी पहचानों और लघु परम्पराओं की अक्सर चर्चा होती है। इन विचारों और दावेदारियों के सूत्र रवींद्रनाथ के चिंतन में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। आधुनिक रहते हुए आधुनिकता की सकारात्मक आलोचना करने वाले विचारक के रूप में रवींद्रनाथ का चिंतन अपने युग की उत्तर-आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करता है।

विख्यात समाज-मनोविद् आशिस नंदी के अनुसार रवींद्रनाथ अपने युग के 'असहमतों के बीच असहमत' थे। उनकी मान्यता थी कि एक नयी, विवेकसम्पन्न और सेकुलर सार्वभौमिकता द्वारा अंग्रेजी राज की औपनिवेशिकता की जगह लेने का राष्ट्रवादी सपना कभी साकार नहीं होगा। जब तक भारत की सांस्कृतिक विरासत और नाना प्रकार की जीवन-शैलियों के आधार पर साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन को एक सर्वथा नये विचार से अनुप्राणित नहीं किया जायेगा तब तक आज़ाद भारत का स्वप्न अधूरा ही रहेगा।

रवींद्रनाथ एक ऐसे संक्रमणकालीन समय में सक्रिय रहे जब उपनिवेशवाद के संसर्ग से भारतीय समाज आधुनिक बनते हुए राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए राजनीतिक संघर्ष कर रहा था। उन परिस्थितियों में देशभक्ति, राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद विरोध के विचार एक-दूसरे के पर्यायवाची समझे जाते थे। सभी उपनिवेशकालीन भारतीय चिंतकों में सम्भवतः केवल रवींद्रनाथ के पास ही ऐसी दृष्टि थी जिसके जरिये उन्होंने इन तीनों प्रत्ययों में फ़र्क किया। अंग्रेजों का विरोध करते हुए भी उन्होंने 'स्वदेश-चिंता' की पृथक धारा का सूत्रीकरण करते हुए राष्ट्रवादी आंदोलन की गाँधीवादी प्रविधियों की आलोचना की। गाँधी की तरह उन्होंने भी पश्चिमी सभ्यता को आड़े हाथों लिया, पर आधुनिकता के मुक्तिकामी आयामों से नाता नाता तोड़ने के लिए तैयार नहीं हुए। वे युरोपीय पुनर्जागरण समेत युरोप की शास्त्रीय परम्पराओं की मदद भी लेना चाहते



रवींद्रनाथ ठाकुर (1861-1941)

थे, और भारत की अपनी लोक-परम्पराओं और ज़मीन से फूटने वाली जन-परम्पराओं पर भी निर्भर रहना चाहते थे। विरोधाभास यह है कि राष्ट्रवाद को भौगोलिक राक्षस कह कर नये भारत के लिए त्याज्य घोषित करने वाले इस महाकवि की दो रचनाएँ आज भी भारत (जन-गण-मन) और बांग्लादेश (आमार शोनार बांग्ला) के राष्ट्रगीत बने हुए हैं। विपिनचंद्र पाल जैसे विख्यात स्वतंत्रता सेनानी ने डंडाधारी ब्रिटिश पुलिस का सामना रवींद्रनाथ की कविताएँ गाते हुए ही किया था।

कोलकाता के एक पिराली ब्राह्मण कुल में जन्मे रवींद्रनाथ देवेन्द्रनाथ और शारदा देवी की तेरह संतानों में से एक थे। माँ का बचपन में ही देहांत हो जाने और पिता की यायावरी के कारण उनका लालन-पालन अपने भव्य पैतृक भवन जोड़ासांको में नौकरों की देख-रेख में ही हुआ। आठ साल की उम्र से काव्य-रचना करने वाले रवींद्रनाथ ने अपनी आत्मकथा *जीवन स्मृति* में कुलीन बंगालियों के घरों में चलने वाली इस व्यवस्था को 'भृत्यरंजकतंत्र' की संज्ञा दे कर उसकी तुलना मध्ययुग में भारत पर हुकूमत करने वाले गुलाम वंश के हुक्मरानों से की है। क़ानून की पढ़ाई करने के लिए जब उन्हें इंग्लैण्ड भेजा गया तो वहाँ उन्हें औद्योगिक क्रांति का भद्दा चेहरा दिखा। उन्हें लगा कि वहाँ का साधारण व्यक्ति किस तरह बंजर जीवन गुज़ार रहा है और अंग्रेज़ स्त्रियों की जीवन-स्थितियाँ कितनी ख़राब हैं। इस अनुभव के बाद रवींद्रनाथ कभी पश्चिम के रुतबे में नहीं आये।

उन्नीसवीं सदी के बंगाली नवजागरण के दौरान हिंदू मेले के नवें संस्करण (1875) में भागीदारी करने के ज़रिये

रवींद्रनाथ ने अपना सार्वजनिक जीवन शुरू किया। उस समय उनकी समझ इतनी विश्वजनीन नहीं थी, और वे न केवल मुसलमानों और ईसाइयों को मुख्यधारा से बाहर मानते थे, बल्कि उनकी निगाह में हिंदू धार्मिक खाँचे में न फिट हो पाने वाली लघु संस्कृतियाँ भी बहिष्कार योग्य थीं। रवींद्रनाथ की दृष्टि में व्यापकता तब आयी जब बीसवीं सदी की शुरुआत में उन्होंने उस बंगाल रिनैसाँ पुनर्जागरण को आलोचनात्मक नज़रिये से देखना शुरू किया जिसके आखिरी आधारस्तम्भ वे स्वयं थे। उन्होंने 1901 में *नष्टनीड* की रचना की (जिस पर सत्यजीत राय ने *चारुलता* जैसी क्लासिक फ़िल्म बनायी)। रवींद्रनाथ का विचार था कि नवजागरण का नेतृत्व करने वाला भद्रलोक अपने निजी और पारिवारिक जीवन में उन मूल्यों को उतारने में नाकाम रहा है जिनकी वह सार्वजनिक जीवन में वकालत करता था। नवजागरण के अग्रदूत राममोहन राय के प्रति निस्संकोच कृतज्ञताभाव होते हुए भी रवींद्रनाथ ने बंगाली प्रभुवर्ग के इस द्वैध को आँखों से ओझल नहीं होने दिया।

1905 के बाद उनका दृष्टिकोण सर्वसमावेशी होता चला गया। उनकी कहानियाँ और उपन्यास उनके राजनीतिक विचारों के वाहक बन गये। *घरे-बाइरे*, *चार अध्याय* और *गोरा* की रचना करके उन्होंने न केवल राजनीतिक आधुनिकता पर आधारित भविष्य-निर्माण की लोकप्रिय दावेदारियों की कड़ी जाँच-पड़ताल की, बल्कि सावरकर और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आविर्भाव से बहुत पहले ही हिंदुत्ववादी राष्ट्रवाद के ख़तरों के प्रति सचेत कर दिया। 1919 में जलियाँवाला बाग़ हत्याकाण्ड के ख़िलाफ़ नाइटहुड की उपाधि त्यागते समय तक रवींद्रनाथ राजनीति के तत्कालीन रूपों को समाज परिवर्तन की दृष्टि से संदेह की निगाह से देख रहे थे। उनके विचारों से नाराज़ हो कर 1916 में सैन फ़्रांसिस्को के एक होटल में एक भारतीय प्रवासी उनकी हत्या करने के मक़सद से गया, पर रवींद्रनाथ के साथ बहस में फँस जाने के कारण उसे अपना यह इरादा त्याग देना पड़ा। रवींद्रनाथ में अलोकप्रियता का ख़तरा उठा कर भी अपने विचार व्यक्त करने की दुर्लभ क्षमता थी। उन्होंने जापान में राष्ट्रवाद-प्रेमी श्रोताओं के सामने राष्ट्रवाद की आलोचना और सोवियत संघ में जाकर कम्युनिस्टों में क्षमाभाव की कमी रेखांकित करने की ज़ुरत की। दूसरी तरफ़ सोवियत साम्यवाद के प्रति प्रशंसा-भाव के कारण अमेरिका में उनकी किताबों की बिक्री पर विपरीत असर पड़ा। इटली यात्रा के दौरान मुसोलिनी से उनकी मुलाक़ात ने भी उनके प्रशंसकों के बीच काफ़ी बेचैनियाँ पैदा कीं, हालाँकि उन्होंने कुछ समय बाद ही फ़ासीवाद की भर्त्सना करनी शुरू कर दी।

रवींद्रनाथ ने स्वदेशी आंदोलन में अपनी भागीदारी बीच में ही रोक दी थी और गाँधी के असहयोग आंदोलन से भी वे सहमत नहीं थे। पर इससे पहले और बाद में उनकी

यह प्रश्नाकुलता उन्हें राजनीति के प्रति उदासीन नहीं बना सकी। 1908 का पबना सम्बोधन, 1917 में कांग्रेस के खुले अधिवेशन में दिया गया भाषण, 1919 में नाइटहुड का परित्याग और 1931 में हिजली जेल के कैदियों पर चली गोली की सार्वजनिक भर्त्सना इसका प्रमाण है। वे उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद की राजनीतिक कार्रवाइयों का कभी छिपा और कभी खुला समर्थन करते रहे। हिंदू-जर्मन षड्यंत्र पर चले मुक्रदमे और बाद के ब्योरे बताते हैं कि वे गदर पार्टी के क्रांतिकारियों से भी हमदर्दी रखते थे। सुभाष चंद्र बोस और रासबिहारी बोस के संदर्भ में राष्ट्रवादी उद्देश्यों के लिए उन्होंने जापानी प्रधानमंत्री तेरुआची मासाताके से समर्थन भी माँगा था। अपने समय की राजनीतिक स्थिति के प्रति वे हमेशा सचेत रहे। 'चित्त जेठा भयशून्यो' और 'एकला चलो रे' जैसी राजनीति-आवेशित रचनाओं ने उन्हें स्वतंत्रता सेनानियों के बीच काफ़ी लोकप्रियता दिलायी। गाँधी-आम्बेडकर विवाद के दौरान गाँधी का आमरण अनशन ख़त्म कराने में भी रवींद्रनाथ की उल्लेखनीय भूमिका रही।

राधारमण चक्रवर्ती ने रवींद्रनाथ के राजनीतिक व्यक्तित्व का भाष्य करते हुए लिखा है कि वे राजनीति को केवल राज्य के संदर्भ में और व्यक्ति से काट कर ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं थे। समाज और राज्य को अलग-अलग देखने और समाज को प्राथमिकता देने का आग्रह उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। यद्यपि रवींद्रनाथ आज़ाद भारत देखने के लिए जीवित नहीं रहे, पर हुमायूँ कबीर के मुताबिक़ भारतीय विदेश नीति को गुटनिरपेक्षता पर आधारित करने का विचार उन्हीं की देन था। अगर वे उपनिवेशवाद द्वारा भारत को थमाई गयी युरोकेंद्रीयता का प्रतिकार न करते तो एशिया और अफ्रीका के साथ भारत के प्राचीन संबंधों को पुनर्जीवन न मिलता। रवींद्रनाथ को भारतीय संघवाद का आदि प्रणेता भी माना जाता है। बीसवीं सदी की शुरुआत में ही उन्होंने घोषित कर दिया था कि 'अगर ईश्वर चाहता तो सारे भारतवासियों को एक ही भाषा बोलने वाला बना सकता था ... भारत की एकता हमेशा से विविधता में एकता के उसूल पर निर्भर थी और रहेगी।'

रवींद्रनाथ का निधन लम्बी बीमारी के बाद कोलकाता के उसी जोरासांको भवन में हुआ जिसमें उन्होंने अपना बचपन गुज़ारा था।

देखें : अरविंद घोष, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, कुमारन् आशान्, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, फ़क़ीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चटर्जी, बंगाल का नवजागरण, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतीय आधुनिकता, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, महाराष्ट्र में सुधारणा-1 से 5 तक, मोहनदास करमचंद गाँधी-1 से 3 तक, राममोहन राय, युरोपीय पुनर्जागरण, विवेकानंद, हिंदी नवजागरण।

संदर्भ

1. राधारमण चक्रवर्ती (1986), 'टैगोर : पॉलिटिक्स ऐंड बियॉंड', थॉमस पेंथम और केनेथ एल. ड्यूश (सम्पा.), *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया*, सेज, नयी दिल्ली,
2. आशिस नंदी (2005), *देशभक्ति बनाम राष्ट्रवाद : रवींद्रनाथ ठाकुर और इयत्ता की राजनीति*, अनुवाद : अभय कुमार दुबे, वाणी, नयी दिल्ली,
3. धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी (1972), *टैगोर : ए स्टडी*, कोलकाता, 1972
4. हुमायूँ कबीर (1961), 'रवींद्रनाथ वाज़ नो ऑब्स्करंटिस्ट', *केलकटा म्युनिसिपल गज़ेट 1961*, रवींद्रनाथ जन्म शताब्दी अंक.
5. रवींद्रनाथ ठाकुर (2004), 'सभ्यता का संकट', शंभुनाथ (सम्पा.), *सामाजिक क्रांति के दस्तावेज़*, भाग-1, वाणी, नयी दिल्ली,
6. रवींद्रनाथ ठाकुर (1985), *नैशनलज़िम (1917)*, पुनर्मुद्रण, मद्रास : मैकमिलन,

— अभय कुमार दुबे

रंगभेद

(Apartheid)

दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले डच मूल के श्वेत नागरिकों की भाषा अफ्रीकांस में एपार्थाइड का शाब्दिक अर्थ है, पार्थक्य या अलहदापन। यही अभिव्यक्ति कुख्यात रंगभेदी अर्थों में 1948 के बाद उस समय इस्तेमाल की जाने लगी जब दक्षिण अफ्रीका में हुए चुनावों में वहाँ की नैशनल पार्टी ने जीत हासिल की और प्रधानमंत्री डी.एफ़. मलन के नेतृत्व में कालों के ख़िलाफ़ और श्वेतांगों के पक्ष में रंगभेदी नीतियों को क्रान्ती और संस्थागत जामा पहना दिया गया। नैशनल पार्टी अफ्रीकानेर समूहों और गुटों का एक गठजोड़ थी जिसका मक़सद गोरों की नस्ली श्रेष्ठता के दम्भ पर आधारित नस्ली भेदभाव के कार्यक्रम पर अमल करना था। मलन द्वारा चुनाव के दौरान दिये गये नारे ने ही एपार्थाइड को रंगभेदी अर्थ प्रदान किये। रंगभेद के दार्शनिक और वैचारिक पक्षों के सूत्रीकरण की भूमिका बोअर (डच मूल) राष्ट्रवादी चिंतक हेनरिक वरवोर्ड ने निभायी। इसके बाद रंगभेद अगली आधी सदी तक दक्षिण अफ्रीका के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन पर छा गया। उसने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को भी प्रभावित किया। नब्बे के दशक में अफ्रीकन नैशनल कांग्रेस और नेलसन मंडेला के नेतृत्व में बहुसंख्यक अश्वेतों का लोकतांत्रिक शासन स्थापित होने के साथ ही रंगभेद का अंत हो गया।

दक्षिण अफ्रीका के संदर्भ में नस्ली भेदभाव का इतिहास बहुत पुराना है। इसकी शुरुआत डच उपनिवेशवादियों द्वारा कैप टाउन को अपने रिफ्रेशमेंट स्टेशन के रूप में स्थापित करने से मानी जाती है। एशिया में उपनिवेश क्रायम करने के लिए डच उपनिवेशवादी इसी रास्ते से जाते थे। इसी दौरान इस क्षेत्र की अफ्रीकी आबादी के बीच रहने वाले युरोपियनों ने खुद को काले अफ्रीकियों के हुक्मरानों की तरह देखना शुरू किया। शासकों और शासितों के बीच श्रेष्ठता और निम्नता का भेद करने के लिए कालों को युरोपियनों से हाथ भर दूर रखने का आग्रह पनपना ज़रूरी था। परिस्थिति का विरोधाभास यह था कि गोरे युरोपियन मालिकों के जीवन में कालों की अंतरंग उपस्थिति भी थी। इसी अंतरंगता के परिणामस्वरूप एक मिली-जुली नस्ल की रचना हुई जो 'अश्वेत' कहलाए।

हालाँकि रंगभेदी क़ानून 1948 में बना, पर दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकारें कालों के ख़िलाफ़ भेदभावपूर्ण रवैया अपनाना जारी रखे हुए थीं। कुल आबादी के तीन-चौथाई काले थे, और अर्थव्यवस्था उन्हीं के श्रम पर आधारित थी। लेकिन सारी सुविधाएँ मुट्ठी भर गोरे श्रमिकों को मिलती थीं। सत्तर फ़ीसदी ज़मीन भी गोरों के कब्ज़े के लिए सुरक्षित थी। इस भेदभाव ने उन्नीसवीं सदी में एक नया रूप ग्रहण कर लिया जब दक्षिण अफ्रीका में सोने और हीरों के भण्डार होने की जानकारी मिली। ब्रिटिश और डच उपनिवेशवादियों के सामने स्पष्ट हो गया कि दक्षिण अफ्रीका की ख़ानों पर कब्ज़ा करना कितना ज़रूरी है। सामाजिक और आर्थिक संघर्ष की व्याख्या आर्थिक पहलुओं की रोशनी में की जाने लगी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध की दक्षिण अफ्रीकी राजनीति का मुख्य संदर्भ यही था।

इसी दौर में ब्रिटेन ने अफ्रीका महाद्वीप के दक्षिणी हिस्से में डच मूल के बोअर गणराज्यों के साथ महासंघ बनाने की विफल कोशिश की। इसके बाद दक्षिण अफ्रीकी गणराज्य के मुक़ाबले अंग्रेज़ों को अपने पहले युद्ध में पराजय नसीब हुई। विटवाटर्सरेंड में जर्मन और ब्रिटिश पूँजी द्वारा संयुक्त रूप से किये जाने वाले सोने के खनन ने स्थिति को और गम्भीर कर दिया। ये पूँजीपति गणराज्य के राष्ट्रपति पॉल क्रूगर की नीतियों के दायरे में काम करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें खनन में इस्तेमाल किये जाने वाले डायनामाइट पर टैक्स देना पड़ता था। क्रूगर का यह भी मानना था कि इन विदेशी ख़ान मालिकों और उनके खनिज कैम्पों के प्रदूषण से

बोअर समाज को बचाया जाना चाहिए। उधर खनन में निवेश करने वाले और कैप कॉलोनी के प्रधानमंत्री रह चुके सेसिल रोड्स और उनके सहयोगियों का मक़सद ब्रिटिश प्रभाव का विस्तार करना था। इस प्रतियोगिता के गर्भ से जो युद्ध निकला उसे बोअर वार के नाम से जाना जाता है। 1899 से 1902 तक जारी रहे इस युद्ध के दोनों पक्ष रंगभेद समर्थक युरोपियन थे, लेकिन दोनों पक्षों की तोपों में चारे की तरह काले सिपाहियों को भरा जा रहा था। कालों और उनके राजनीतिक नेतृत्व को उम्मीद थी कि बोअर युद्ध का परिणाम उनके लिए राजनीतिक रियायतों में निकलेगा। पर ऐसा नहीं हुआ। अंग्रेज़ों और डचों ने बाद में आपस में संधि कर ली और मिल-जुल कर रंगभेदी शासन को क्रायम रखा।



रंगभेद के ख़िलाफ़ करीब आधी सदी तक संघर्ष चला।

1911 तक ब्रिटिश उपनिवेशवाद दक्षिण अफ्रीका में पूरी तरह पराजित हो गया, लेकिन कालों को कोई इंसान नहीं मिला। 1912 में साउथ अफ्रीकन यूनियन के गठन की प्रतिक्रिया में अफ्रीकी नैशनल कांग्रेस (एएनसी) की स्थापना हुई जिसका मक़सद उदारतावाद, बहुसांस्कृतिकता और अहिंसा के उसूलों के आधार पर कालों की मुक्ति का संघर्ष चलाना था। मध्यवर्गीय पढ़े-लिखे कालों के हाथ में इस संगठन की बागडोर थी। इसे शुरू में कोई ख़ास लोकप्रियता नहीं मिली, पर चालीस के दशक में इसका आधार विस्तृत होना शुरू हुआ। एएनसी ने 1943 में अपनी युवा शाखा बनायी जिसका नेतृत्व नेलसन मंडेला और ओलिवल टाम्बो को मिला। यूथ लीग ने रैंडिकल जन-कार्रवाई का कार्यक्रम लेते हुए वामपंथी रुझान अख़्तियार किया।

1948 में बने रंगभेदी क़ानून के पीछे समाजशास्त्र के प्रोफ़ेसर, सम्पादक और बोअर राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी हेनरिक वरवोर्ड का दिमाग़ काम कर रहा था। वरवोर्ड अपना चुनाव हार चुके थे, पर उनकी बौद्धिक क्षमताओं का लाभ उठाने के लिए मलन ने उनके कंधों पर एक के बाद एक कई सरकारी ज़िम्मेदारियाँ डालीं। वरवोर्ड ने ही वह क़ानूनी ढाँचा तैयार किया जिसके आधार पर रंगभेदी राज्य का शीराज़ा खड़ा हुआ। इनमें सबसे ज़्यादा कुख्यात क़ानून अफ्रीकी जनता के आवागमन पर पाबंदियाँ लगाने वाले थे। 1948 में रंगभेद के साथ प्रतिबद्ध नैशनल पार्टी के सत्तारूढ़ होने के साथ ही एएनसी ने इण्डियन कांग्रेस, कलर्ड पीपुल्स कांग्रेस और व्हाइट कांग्रेस ऑफ़ डैमोक्रेट्स के साथ गठजोड़ कर लिया। श्वेतों के इस समूह पर दक्षिण अफ्रीकी कम्युनिस्ट पार्टी का

प्रभाव था जिसे सरकार ने प्रतिबंधित कर रखा था। 1955 में एएनसी ने फ्रीडम चार्टर पारित किया जिसमें सर्वसमावेशी राष्ट्रवाद के प्रति प्रतिबद्धता जारी की गयी। वरवोर्ड द्वारा तैयार किया गया एक और प्रावधान था 1953 का बानटू एजुकेशन एक्ट जिसके तहत अफ्रीकी जनता की शिक्षा पूरी तरह से वरवोर्ड के हाथों में चली गयी। इसी के बाद से अफ्रीकी शिक्षा प्रणाली रंगभेदी शासन के खिलाफ प्रतिरोध का केंद्र बनती चली गयी।

साठ के दशक में रंगभेदी सरकार ने अपना विरोध करने वाली राजनीतिक शक्तियों को प्रतिबंधित कर दिया, उनके नेता या तो गिरफ्तार कर लिए गये या उन्हें जलावतन कर दिया गया। सत्तर के दशक में श्वेतों के बीच काम कर रहे उदारतावादियों ने भी रंगभेद के खिलाफ मोर्चा सँभाला और युवा अफ्रीकियों ने काली चेतना को बुलंद करने वाली विचारधारा के पक्ष में रुझान प्रदर्शित करने शुरू कर दिये। 1976 के सोवेटो विद्रोह से इन प्रवृत्तियों को और बल मिला। इसी दशक में अफ्रीका के दक्षिणी हिस्सों में गोरी हुकूमतों का पतन शुरू हुआ। धीरे-धीरे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी दक्षिण अफ्रीका की गोरी हुकूमत के साथ हमदर्दी रखने वालों को समझ में आने लगा कि रंगभेद को बहुत दिनों तक टिकाये रखना मुमकिन नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय प्रतिबंधों का सिलसिला शुरू हुआ जिससे गोरी सरकार अलग-थलग पड़ती चली गयी। 1979 तक मजबूर हो कर उसे ब्लैक ट्रेड यूनियन को मान्यता देनी पड़ी और कालों के साथ किये जाने वाले छोटे-मोटे भेदभाव भी खत्म कर दिये गये। इससे एक साल पहले ही वरवोर्ड के राजनीतिक उत्तराधिकारी प्रधानमंत्री पी.डब्ल्यू. बोथा ने एक अभिव्यक्ति के रूप में 'एपार्थाइड' से पल्ला झाड़ लिया था।

1984 में हुए संवैधानिक सुधारों में जब बहुसंख्यक कालों को कोई जगह नहीं मिली तो बड़े पैमाने पर असंतोष फैला। दोनों पक्षों की तरफ से ज़बरदस्त हिंसा हुई। सरकार को आपातकाल लगाना पड़ा। अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने उस पर और प्रतिबंध लगाए। शीत युद्ध के खात्मे और नामीबिया की आजादी के बाद रंगभेदी सरकार पर पड़ने वाला दबाव असहनीय हो गया। गोरे मतदाता भी अब पूरी तरह से उसके साथ नहीं थे। डच मूल वाला कर्टर राष्ट्रवादी बोअर अफ्रीकानेर समुदाय भी वर्गीय विभाजनों के कारण अपनी पहले जैसी एकता खो चुका था। नेशनल पार्टी के भीतर दक्षिणपंथियों को अपेक्षाकृत उदार एफ.डब्ल्यू. डि क्लार्क के लिए जगह छोड़नी पड़ी। क्लार्क ने नेलसन मंडेला और उनके साथियों को जेल से छोड़ा, राजनीतिक संगठनों से प्रतिबंध उठाया और 1992 तक रंगभेदी कानून खत्म कर दिये गये। बहुसंख्यक कालों को मताधिकार मिला। एएनसी अपना रैडिकल संघर्ष (जिसमें हथियारबंद लड़ाई भी शामिल थी)

खत्म करने पर राजी हो गयी। सरकार और उसके बीच हुए समझौते के तहत 1994 में चुनाव हुआ जिसमें जबरदस्त जीत हासिल करके एएनसी ने सत्ता सँभाली और नेलसन मंडेला रंगभेद विहीन दक्षिण अफ्रीका के पहले राष्ट्रपति बने।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, पृथकतावाद, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निःशस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट कानून, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

संदर्भ

1. हरमन गिलिओमी और लारेंस श्लेमर (1989), *फ्रॉम एपार्थाइड टु नेशन बिल्डिंग*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, कैपटाउन.
2. पीटर वारविक (सम्पा.) (1980), *द साउथ अफ्रीकन वार : एंग्लो-बोअर वार, 1899-1902*, लॉगमेन, लंदन.
3. केविन शिलिंगटन (1987), *हिस्ट्री ऑफ़ साउथ अफ्रीका*, लॉगमेन ग्रुप, हांगकांग.

— अभय कुमार दुबे

राज कुमार तलवार

(Raj Kumar Talwar)

विख्यात बैंकर राज कुमार तलवार (1922-2002) को भारतीय लघु उद्योग क्षेत्र का मसीहा कहा जाता है। उन्होंने इम्पीरियल बैंक से स्टेट बैंक बने भारत के सबसे बड़े बैंक की शाही कार्यशैली को बदला। पहले यह बैंक सूददारों के साथ-साथ व्यक्तिगत सम्पत्तियों के आधार पर आसानी से ऋण देता था। उसके स्थान पर तलवार ने बैंक के ऋण देने की प्रक्रिया को पारदर्शी बनाया और ऋण लेने वाली हर संस्था की वित्तीय अवस्था की भरपूर पड़ताल को अनिवार्य कर दिया। 1962 में जब स्टेट बैंक को लघु उद्योग क्षेत्र के लिए ऋण देने जिम्मेदारी मिली तो बैंक के शीर्ष प्रबंधन में इस काम के लिए कोई विशेष उत्साह नहीं था। लेकिन तलवार ने इस काम में बहुत दिलचस्पी दिखाई। वे उस समय तमिलनाडु में तैनात थे। उन्होंने लघु उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए पूरे राज्य का दौरा किया और अपने अधिकारियों को इस योजना को हर हाल में सफल बनाने की हिदायतें दीं। आज यदि

तमिलनाडु देश के शीर्ष औद्योगिक राज्यों में से एक है तो इसमें तलवार का बड़ा योगदान है। आर.के. तलवार ने लघु उद्योगों को ऋज्र देने की संस्कृति को ही उलट दिया और ऋण देने की पद्धति को लेनदार की प्रतिभूति-जमानत पर नहीं बल्कि लेनदार की आवश्यकता पर आधारित करने की परम्परा डाली। तलवार का मानना था कि ऐसी हर आर्थिक गतिवधि, जिससे उपयोगी सामान या सेवा बन सके, को बैंक का आर्थिक संरक्षण मिलना चाहिए। वे स्टेट बैंक के सबसे युवा मुखिया थे। मुम्बई के स्टेट बैंक मुख्यालय की लिफ्ट लॉबी में तलवार ने लिखवाया था 'ईमानदारी सर्वोत्तम सुरक्षा है', लेकिन एक सरकारी मुलाजिम होने के नाते अपनी इसी नीति के कारण तलवार का सरकारी तंत्र से टकराव होता रहा।



राज कुमार तलवार (1922-2002)

1967 में तलवार को केवल 47 साल की उम्र में स्टेट बैंक का प्रबंध निदेशक बनाया गया। तलवार से पहले केवल आईएसएस या आईसीएस अधिकारी ही बैंक के मुखिया बनते थे। 1969 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद स्टेट बैंक का भी सरकारीकरण हो गया। यह तलवार की दूरदृष्टि ही थी कि उन्होंने 1970 में स्टेट बैंक के संगठन की कायापलट के लिए विदेशी सलाहकार मेकिंजी के स्थान पर आईआईएम, अहमदाबाद के दो विशेषज्ञों का चुनाव करके उनसे ऐसे सुझाव देने को कहा जिनसे बैंक के शाखा प्रबंधक बैंक की मुख्यधारा से जुड़ सकें। तलवार के नेतृत्व ने भारतीय स्टेट बैंक के कर्मचारियों-अधिकारियों को उनकी विशिष्ट पहचान दिलायी। यह तलवार के ही प्रयासों का ही फल था कि इस बैंक के अधिकारियों को उच्चतम ईमानदारी एवं पेशेवर दक्षता के साथ ही उनकी प्रचुर योग्यता-क्षमता के लिए जाना गया। भारतीय रिज़र्व बैंक और भारत सरकार में यह आम धारणा थी कि बैंक अधिकारियों के किसी भी समूह में स्टेट बैंक के अधिकारियों को दूर से ही पहचाना जा सकता है। औद्योगिक संबंध मोर्चे पर तलवार ने लिपिक और अधिकारियों संघों के साथ द्विपक्षीय विचार-विमर्श के लिए सलाहकार निकायों की स्थापना की। टकराव की स्थिति से निबटने के लिए तलवार ने विवाद निपटान मण्डल जैसी व्यवस्था ईजाद की। 1975 में बैंकों में ग्राहक सेवा के लिए बनी तलवार समिति के सुझाव आज तक प्रासंगिक बने हुए हैं।

भारतीय स्टेट बैंक ने एक निजी सीमेंट कम्पनी को ऋज्र दिया। कम्पनी के कुप्रबंधन के चलते यह बीमार ऋण बन गया। ऋज्र-उगाही के लिए बैंक ने कम्पनी के लिए एक पुनर्गठन पैकेज बनाया। इसमें सीमेंट कम्पनी मालिक, जो

इसके अध्यक्ष-सीईओ भी थे, के स्थान पर किसी पेशेवर व्यक्ति की नियुक्ति का निर्देश दिया गया। अपने डूबते ऋज्र को बचाने हेतु यह किसी भी बैंक की साधारण प्रक्रिया लग सकती है। लेकिन इसमें दो असाधारण बातें थीं : पहली, यह

1976 का भारत था जब इमरजेंसी लगी हुई थी। और दूसरी यह कि सीमेंट कम्पनी का मालिक तत्कालीन प्रधानमंत्री के पुत्र संजय गाँधी का दोस्त था। संजय गाँधी के निर्देश पर वित्त मंत्री ने तलवार से कहा कि सीमेंट कम्पनी के प्रबंधन में बदलाव वाली शर्त निरस्त की जाए। तलवार ने पहले मामले का अध्ययन किया और फिर मंत्री को बताया कि यह शर्त नहीं हटेगी। मंत्री ने तलवार को नयी दिल्ली तलब किया और स्पष्ट कहा कि शर्त हटाने का आदेश राष्ट्र के सर्वोच्च अधिकारी ने दिया है। लेकिन तलवार अपने निर्णय पर अडिग रहे। संजय गाँधी ने तलवार को अपने दरबार में हाज़िर होने का फ़रमान भेजा तो

तलवार ने संजय-दर्शन से इनकार करते हुए कहा कि संजय कोई संवैधानिक अधिकारी नहीं हैं। अब तलवार को हटाने की जुगत शुरू हुई। लेकिन स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट में इसके अध्यक्ष को पर्याप्त कारण बिना हटाना मुश्किल था। सरकारी तंत्र ने भारतीय स्टेट बैंक अधिनियम में संशोधन करवाया ताकि तलवार को बिना कारण बर्खास्त किया जा सके। आपातकालीन संसद से पारित इस नये अधिनियम के बावजूद सरकार तलवार को बर्खास्त करने की हिम्मत नहीं जुटा पायी। उन्हें 13 महीने के अवकाश पर जाने को कहा गया। 4 अगस्त 1976 में मात्र 54 वर्ष की आयु में आर.के. तलवार ने अपना पद त्याग दिया। आज तक भारतीय स्टेट बैंक अधिनियम के उस परिवर्तन को 'तलवार संशोधन' के नाम से जाना जाता है।

तलवार से संबंधित एक और घटना उल्लेखनीय है। रुस्तम सुहराब नागरवाला नामक एक पूर्व सेना कप्तान और खुफ़िया अधिकारी ने 24 मई, 1971 को स्टेट बैंक की संसद मार्ग शाखा में फ़ोन पर मुख्य खज़ांची वेद प्रकाश मल्होत्रा को प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी की आवाज़ में उन्हें एक 'बांग्लादेशी' को 60 लाख रुपये देने का आदेश दिया। इस समय भारत-पाकिस्तान के बीच बांग्लादेश की सीमा पर युद्ध के आसार थे। खज़ांची मलहोत्रा ने इस मौखिक निर्देश का पालन करने से पहले ठीक से जाँच पड़ताल नहीं की। जब तक मलहोत्रा को अपनी ग़लती का एहसास हुआ तब तक नागरवाला पैसे लेकर जा चुका था। तत्काल पुलिस कार्रवाई से नागरवाला गिरफ़्तार हुआ, अधिकतर पैसे भी मिल गये लेकिन इसके बाद अनेकों विवादों-षड्यंत्रों की अफ़वाहें चल पड़ीं कि

बहुत सा राजनीतिक-धन स्टेट बैंक में छुपा कर रखा गया है। 1977 में केंद्र में जनता पार्टी की सरकार बनने के बाद आपातकाल में ज्यादतियों के शिकार लोगों का पुनरुद्धार किया गया, लेकिन इसमें तलवार का नाम नहीं था। काफ़ी दिनों बाद जब तलवार को एक बेहद मामूली पद देने का प्रस्ताव मिला तो उन्होंने प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई से मिलने का समय माँगा। इस पूरी बैठक में मोरारजी देसाई ने तलवार पर नागरवाला काण्ड में पैसे के लेन-देन में भूमिका का दबाव बनाया। जिस दबाव का तलवार ने पूरी नम्रता, पर दृढ़ता से प्रतिकार किया। इस मुलाकात के बाद तलवार को देसाई सरकार के कार्यकाल में कोई काम नहीं मिला।

आईआईएम, कोलकाता के मैनेजमेंट सेंटर फ़ॉर ह्यूमन वैल्यूज़ ने 1997-2000 के बीच स्टेट बैंक के तीन हजार उच्चस्थ अधिकारियों से ह्यूमन वैल्यूज़ ऐंड विज़्डम लीडरशिप पर सेमिनार के दौरान जब पूछा तो बैंक के हर प्रतिभागी ने अपने आदर्श के रूप में आर.के. तलवार का नाम लिया। ज़ाहिर है कि नौकरी छोड़ने के 25 साल बाद भी तलवार अपने बैंक के लिए आदर्श बने हुए थे।

आर.के. तलवार का जन्म 3 जून, 1922 को झेलम, पंजाब (वर्तमान पाकिस्तान) में हुआ। उन्होंने कराची में दीवान दयाराम जेटामल सिंध कॉलेज से स्नातक की उपाधि प्राप्त की और इसके बाद गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर से गणित में स्नातकोत्तर उपाधि के साथ पंजाब विश्वविद्यालय में उच्चतम अंक लाने का नया कीर्तिमान स्थापित किया। 1943 में तलवार इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया में परिवीक्षाधीन अधिकारी के रूप शामिल हुए और सन् 1946 में प्रशिक्षण के समाप्ति के बाद उन्हें लाहौर में नियुक्त किया गया। अक्टूबर, 1946 में उनका शक्ति चोपड़ा से विवाह हुआ, विभाजन के दौरान लाहौर में हो रहे हिंसक दंगों से सुरक्षित रखने के लिए तलवार के मुसलमान दोस्तों ने उनकी पत्नी (जो उस समय गर्भवती थीं) को एक पाकिस्तानी सैन्य ट्रक से भारत भेज दिया। काफ़ी दिनों बाद तलवार अपने परिवार से मिल पाये। कोलकाता में उनकी नियुक्ति के साथ ही इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ जिसने न केवल तलवार के करियर में उन्नति के द्वार खोले, बल्कि एक बैंकर के रूप में अपनी पहचान बनाने का अवसर भी दिया। तलवार महर्षि अरविंद और श्री माँ के अनन्य भक्त थे। सेवानिवृत्ति के बाद उनके पाण्डिचैरी आश्रम में रहने लगे। जब आश्रम में आंतरिक कलह बढ़ गयी तो वे पाण्डिचैरी में एक बहुत छोटे से घर में रहने लगे। उस समय वे एक साइकिल पर चलते थे। 2002 में पाण्डिचैरी में ही राज कुमार तलवार का निधन हुआ।

देखें : अब्दुल हमीद, आर.के. तलवार, इला भट्ट, एलाट्टुदुवलपिल श्रीधरन, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, कमला देवी चट्टोपाध्याय, गिजुभाई बधेका, पी.एस. वारियर, देवकी जैन, धोंडो केशव कर्वे, नीरा

देसाई, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1, 2 और 3, विक्रम साराभाई, वी.के.आर.वी. राव, विद्याबेन शाह, संस्था, संस्थान और संस्थानीकरण।

संदर्भ

1. ऐन वागुल (2012), *आर.के.तलवार : वैल्यूज़ इन लीडरशिप*, श्रेनुज ऐंड कम्पनी लिमिटेड, मुम्बई.
2. सैमुअल पॉल (2012), *अ लाइफ़ ऐंड इट्स लेसंस : मैमॉयर्स*, पब्लिक अफेयर्स सेंटर, बंगलुरु.
3. लास्जलो ज्सोल्लै (2004), *स्पिरिचुअलिटी ऐंड एथिक्स इन मैनेजमेंट (इश्यूज़ इन बिजनेस एथिक्स)*, स्पिंगर, न्यूयॉर्क.
4. आर. नरसिम्हन (2005), *फ़ॉर्ड्स इन बैंक्स*, इक्फ़ाई युनिवर्सिटी प्रेस, हैदराबाद.

— रवि दत्त वाजपेयी

राजकोषीय नीति / मौद्रिक नीति

(Fiscal Policy/Monetary Policy)

ऐसी कोई अर्थव्यवस्था नहीं है जो राजकोषीय नीति या मौद्रिक नीति के बिना चल सकती हो। पर बहस इस बात की है कि आर्थिक प्रबंधन के लिए दोनों में कौन सी नीति की भूमिका मुख्य होनी चाहिए। सरकारी निर्माण परियोजनाओं, जम कर टैक्स लगाने और आर्थिक जीवन में अन्य हस्तक्षेपों के जरिये माँग और रोज़गार बढ़ाने के पक्षधर राजकोषीय नीतियों के विवेकसम्मत इस्तेमाल को आर्थिक वृद्धि की चालक शक्ति मानते हैं। घाटे की अर्थव्यवस्था को यह विचार मुख्यतः कींसियन अर्थशास्त्र की देन है। यह रवैया राजकोषीय नीतियों को प्रमुखता प्रदान करता है। कींसियन अर्थशास्त्र का बोलबाला होने से पहले मौद्रिक नीति के जरिये आर्थिक प्रबंधन करने का चलन था। साठ के दशक में पश्चिमी अर्थव्यवस्थाएँ एक बार फिर मौद्रिक नीति को मुख्य उपकरण बनाने की तरफ़ झुकीं। उन्होंने कींसियन दृष्टिकोण की आलोचना की। मौद्रिक नीति के समर्थकों की मान्यता है कि टैक्स कम लगाने चाहिए और मौद्रिक नीति को सरकार के विवेक के भरोसे छोड़ने के बजाय कुछ निश्चित नियम-क्रानुनों के तहत चलाया जाना चाहिए। केवल इसी तरह से अर्थव्यवस्था का बेहतर प्रबंधन हो सकता है और राजकोषीय घाटे को नियंत्रण में रखा जा सकता है। अर्थशास्त्र की भाषा में इस विचार को मौद्रिकवाद या मोनेटरीज्म की संज्ञा दी

जाती है।

मौद्रिक नीति का संचालन मुख्यतः अर्थव्यवस्था के केंद्रीय बैंक (जैसे भारत का रिज़र्व बैंक) द्वारा किया जाता है। यह बैंक तयशुदा समष्टिगत आर्थिक नीतियों के तहत सरकार के कहने पर भी क्रदम उठाता है और सरकार से स्वतंत्र निर्णय भी लेता है। शुरू में मौद्रिक नीति आम तौर पर केवल ब्याज दरों में परिवर्तन और खुले बाज़ार के कामकाज के आधार पर ही चलती थी। बाद में मुद्रा बाज़ार का अनुभव और अन्य मौद्रिक उपकरणों के विकास के बाद मौद्रिक नीति का संचालन उत्तरोत्तर परिष्कृत होता चला गया। अमेरिका में गवर्नरों के फ़ेडरल रिज़र्व बोर्ड ने 1913 से ही आरक्षित मुद्रा की आवश्यकताओं और अर्थव्यवस्था में सकल मुद्रा की वृद्धि का जिम्मा सँभाल रखा है। बैंक ऑफ़ इंग्लैंड ने 1951 के बाद से मौद्रिक नीति के संबंध में कई तरह के प्रयोग किये हैं जिनमें उपभोक्ताओं को दिये जाने वाले ऋण के नियम निर्धारित करना, अर्थव्यवस्था में तरलता (नक्रदी की मात्रा) को समग्र रूप से देखना और मौद्रिक आधार को नियंत्रित करना शामिल है।

मौद्रिक नीति निर्धारित लक्ष्यों के हिसाब से चलती है। जैसे, कितनी मुद्रास्फीति होनी चाहिए, ब्याज दरों का कौन सा स्तर उचित होगा, बेरोज़गारी घटाने का समष्टिगत उद्देश्य कैसे पूरा किया जाए, सकल घरेलू उत्पाद कैसे बढ़ाया जाए, अर्थव्यवस्था की दीर्घकाल तक कैसे स्थिर रखा जाए, वित्तीय क्षेत्र की स्थिरता के उपाय कैसे किये जाएँ, उत्पादन और दामों की स्थिरता कैसे क्रायम रखी जाए। मौद्रिकवाद के पैरोकार चाहते हैं कि सरकारी खर्च में कटौती की जाए और अर्थव्यवस्था पर लगे हुए नियंत्रण हटाये जाएँ। इनका दावा है कि अगर इतने महत्वपूर्ण लक्ष्यों को वेधने के लिए नीति के साथ अक्सर छेड़-छाड़ की जाएगी तो परिणामों की आकस्मिकता अस्थिरता पैदा कर सकती है। इसलिए ऐसे नियम बनाये जाने चाहिए कि सरकार न तो उधार ले सके और न ही बाज़ार में मनी की सप्लाई बढ़ा सके। इन अर्थशास्त्रियों को लगता है कि मौद्रिक नीति के संचालन में सरकार और राजनेताओं को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लेकिन, ऐसा होना व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं होता। मोनेटरी पॉलिसी कमेटी के सदस्यों की नियुक्तियों के ज़रिये सरकार इस नीति को प्रभावित करती रहती है। सरकार नीतिगत उद्देश्यों में

तब्दीली करके और समष्टिगत नीतियों को अपने हिसाब से बदल कर स्वतंत्र मौद्रिक नीति के आग्रह को पनपने नहीं देती।

मौद्रिकवाद के मुख्य प्रणेता अमेरिकी अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रीडमैन और उनकी साथी अन्ना श्वार्ज हैं। इन दोनों ने अर्थव्यवस्था में धन की मात्रा से संबंधित सिद्धांतों के आधार पर दीर्घावधि में होने वाली मनी सप्लाई और आर्थिक गतिविधियों के बीच संबंध का अध्ययन करके अपने निष्कर्ष निकाले हैं। लेकिन, जब मौद्रिकवाद के सिद्धांत अमेरिकी, ब्रिटिश और अन्य युरोपीय देशों में लागू किये गये तो कई तरह की दिक्कतें सामने आयीं। धनापूर्ति (मनी सप्लाई) को परिभाषित करना बहुत मुश्किल साबित हुआ। देखा गया कि अर्थव्यवस्था में धन की आपूर्ति का लक्ष्य बार-बार गड़बड़ा जाता है इसलिए हर बार नयी परिभाषा की ज़रूरत पड़ती है। धन के परिसंचरण और फैलाव की रफ़्तार उतनी स्थिर और निरंतर साबित नहीं हुई जितना पहले समझा जा रहा था।

राजकोषीय नीति का मतलब है सरकार अपने ख़जाने से क्या खर्च करना चाहती है और किस तरह के टैक्स लगा कर राजस्व हासिल करने की इच्छुक है। इसी नीति के साथ सरकार की ऋण नीति भी जुड़ी होती है ताकि अगर पर्याप्त राजस्व न प्राप्त होने की दशा में कर्ज़ उगाहे जा सकें। राजकोषीय नीति के आधार पर तय किया जाता है कि राष्ट्रीय आमदनी का कितना प्रतिशत कराधान से उगाहा जाना चाहिए। इसी के साथ सवाल जुड़ा रहता है कि कम टैक्स लगा कर उद्यमशीलता को बढ़ावा दिया जाए या ज़्यादा टैक्स लगा कर लोकोपकारी परियोजनाएँ चलायी जाएँ जिससे आमदनी का समतामूलक पुनर्वितरण किया जा सके। राजकोषीय नीति का दूसरा सरोकार यह होता है कि टैक्स लगाये जाएँ तो किस प्रकार के। प्रत्यक्ष कर (जैसे आय कर) लगाये जाएँ या फिर बिक्री, माल और मूल्यवर्धन जैसे अप्रत्यक्ष कर लगाए जाएँ। अप्रत्यक्ष करों का प्रभाव सभी लोगों की आमदनी पर पड़ता है। वह राजकोषीय नीति तटस्थ समझी जाती है जिसके कारण एक समूह के उपभोग दूसरे की अपेक्षा प्रभावित नहीं होता।

राजकोषीय नीति युद्ध और शांति के समय भिन्न-भिन्न होती है। युद्ध के समय सेना पर होने वाले खर्च की भरपाई के लिए उतने ही टैक्स लगाने के बजाय लोभ यह



अन्ना श्वार्ज (1915-2012)



मिल्टन फ्रीडमैन (1912-1906)

होता है कि ऋण लेकर काम चलाया जाए। दूसरी तरफ़ अगर सरकार के ऊपर काफ़ी ऋण लदा हुआ है तो शांतिकाल में वह लोकोपकारी योजनाएँ चलाने के लिए राजस्व की जुगाड़ करने के बजाय ऋण उतारने में धन खर्च करती नज़र आयेगी। राजकोषीय नीति के ज़रिये बुद्धिमान सरकारें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को स्थिर करने की भूमिका निभा सकती हैं। मसलन, अगर मंदी का दौर चल रहा है तो सरकार कम टैक्स लगाने और अधिक खर्च करने का फ़ैसला ले सकती है। तेज़ी के दौर में ज़्यादा टैक्स लगाये जा सकते हैं और खर्चा कम करके सार्वजनिक वित्त यानी सरकारी खज़ाने की हालत सुधारी जा सकती है।

राजकोषीय संघवाद इसी नीति का अंग है। इसके तहत राष्ट्रीय, प्रादेशिक और शहर के स्तर पर अलग-अलग कराधान और व्यय संबंधी नीतियाँ अपनायी जाती हैं।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुनार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजकशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़्रा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेरर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ़्रीडमैन, मूल्य, रॉबर्ट ओवेन, विलफ़्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. ए. पीकाँक और जी.के. शॉ (1971), *द इकॉनॉमिक थियरी ऑफ़ फ़िशक़ल पॉलिसी*, जॉर्ज एलेन और अनविन, लंदन.
2. पी. बोफ़िंगर (2001), *मोनेटरी पॉलिसी : गोल्स, इंस्टीट्यूशंस, स्ट्रैटजीज़ ऐंड इस्ट्रुमेंट्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. एम. ब्लॉग वगैरह (1995), *द क्वांटिटी थियरी ऑफ़ मनी फ़ॉर्म लॉक टू कींस ऐंड फ़्रीडमैन*, एडवर्ड एलगर, एल्डरशॉट.
4. मिल्टन फ़्रीडमैन (1968), 'रोल ऑफ़ मोनेटरी पॉलिसी', *अमेरिकन इकॉनॉमिक रिव्यू*, 58.

— अभय कुमार दुबे

राजस्थान

(Rajasthan)

राजस्थान भारत के पश्चिमी भाग में स्थित है। ब्रिटिश भारत में इसका अधिकांश हिस्सा रजवाड़ों के आधिपत्य में था और इसे राजपूताना के नाम से भी जाना जाता था। इसका गठन 1 नवम्बर, 1956 को हुआ था। राजस्थान की राजनीति नब्बे के दशक के बाद से मुख्यतः कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी के बीच द्वि-दलीय होड़ के आधार पर चलती है। यहाँ पिछड़ी जातियों का उभार बिहार या उत्तर प्रदेश की तरह नहीं हुआ है। यह ज़रूर है कि लोकतंत्रीकरण और आधुनिकीकरण के कारण यहाँ के दलित, पिछड़े और जनजातीय समुदाय में भी चेतना आयी है और अब ज़्यादा से ज़्यादा पिछड़े समूह राज्य के संसाधनों में अपना हिस्सा पाने की होड़ में शामिल हो गये हैं। इस संदर्भ में राजस्थान में पिछले दशकों में अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल किये जाने की माँग को लेकर गुर्जरों द्वारा चलाया गया आंदोलन बहुत ही महत्वपूर्ण है। राजस्थान के बारे में यह एक दिलचस्प तथ्य है कि यहाँ की राजनीति पहले में जनसंघ और फिर भाजपा प्रभावी रही है लेकिन उग्र हिंदुत्व की राजनीति कभी हावी नहीं हुई। इस स्तर पर राजस्थान भाजपा की उदार और नरम हिंदूवादी राजनीति का प्रतिनिधित्व करता है। राजस्थान की चुनावी राजनीति समझने के लिए उसे 1952 से लेकर अभी तक तीन चरणों में बाँट कर देखा जा सकता है : पहला 1952 से 1977 तक का चरण, दूसरा, 1977 से 1990 तक का चरण और तीसरा 1990 से अब तक।

क्षेत्रफल के लिहाज़ से यह भारत का सबसे बड़ा राज्य है। राजपूताना और वर्तमान राजस्थान में मुख्य अंतर यह है कि इसमें अजमेर-मेरवारा प्रांत के कुछ हिस्सों को शामिल किया गया है और भौगोलिक रूप से राजपूताना के बाहर पड़ने वाले सुमेल-टप्पा क्षेत्र को मध्य प्रदेश में शामिल कर दिया गया। इस राज्य में भारत के रेगिस्तान का अधिकांश हिस्सा (थार मरुस्थल) आता है। राज्य की पश्चिमी सीमा पाकिस्तान से लगी हुई है, इसके दक्षिण-पश्चिम में गुजरात, दक्षिण-पूर्व में उत्तर प्रदेश, उत्तर-पूर्व में उत्तर प्रदेश और हरियाणा और उत्तर में पंजाब है। राजस्थान का क्षेत्रफल 3,42,269 वर्ग किमी है। 2011 की जनगणना के अनुसार राजस्थान की जनसंख्या 6,86,21,012 है और जनसंख्या घनत्व 220.25 प्रति वर्ग किमी है। इस हिसाब से यह भारत का आठवाँ सबसे बड़ा राज्य है। साक्षरता दर 68 प्रतिशत है और इस हिसाब से भारत में इसका स्थान बीसवाँ है। राजस्थान की विधायिका एकसदनीय है। विधानसभा में कुल 200 सदस्य होते हैं। यहाँ से लोकसभा के 25 और राज्यसभा के 10 सदस्य चुने जाते हैं। मारवाड़ी, राजस्थानी और हिंदी



राजस्थान : द्विदलीय राजनीतिक प्रतियोगिता

राजस्थान की अधिकारिक भाषाएँ हैं।

सामाजिक स्तर पर राजस्थान में बहुस्तरीय जाति व्यवस्था विद्यमान है। अनेक जातियाँ हैं लेकिन किसी भी एक जाति का बहुमत नहीं है। सिर्फ जाटों का फैलाव पूरे राज्य में मिलता है। विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) ने 1931 में हुई जाति आधारित जनगणना के आधार पर विभिन्न जातियों का जनसंख्या में मौजूदा अनुपात निकाला है। इसके अनुसार अगड़ी जातियाँ राजस्थान की जनसंख्या का लगभग 20 प्रतिशत हैं, अन्य पिछड़ी जातियाँ लगभग 40 प्रतिशत, अनुसूचित जातियों का हिस्सा लगभग 17 प्रतिशत और जनजातियों का हिस्सा लगभग 13 प्रतिशत है। राजस्थान की जनसंख्या में मुसलिम 8.5 प्रतिशत और सिक्ख 1.4 प्रतिशत है।

समाजशास्त्रीय भाषा में राज्य के मुख्य सामाजिक समूहों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला समूह राजपूत, ब्राह्मण, महाजन और कायस्थ समुदायों का है। इन्हें सामंती जातियाँ कहा जा सकता है। दूसरा समूह उभरती हुई भू-स्वामी कृषक जातियों का है जो कि पहले 'खालसा' या 'जागीर' जमीनों पर खेती किया करती थीं। 1950 में हुए भूमि सुधारों से इन्हें जमीन का मालिकाना हक मिला। इनमें जाट, बिश्नोई, यादव, डांगी, धाकड़, काछी, गुर्जर, सिरवी आदि प्रमुख हैं। राज्य के अलग-अलग क्षेत्रों में इनमें से विभिन्न जातियाँ जनसंख्यात्मक रूप से मजबूत स्थिति में हैं जिससे चुनावी राजनीति में इनका महत्व बढ़ जाता है। तीसरा समूह उन जातियों का है जो पारम्परिक रूप से हस्तशिल्प और विभिन्न सेवाओं से जुड़ी हुई थीं। ये अपने सामाजिक-आर्थिक अस्तित्व के लिए सामंती जातियों पर

निर्भर थीं। इनमें माली, कुम्हार, सुथार, चमार, बलाई, मेघवाल, रैगड़ आदि जातियों का उल्लेख किया जा सकता है। आजकल ये अन्य पिछड़ा वर्ग और अनुसूचित जाति की श्रेणी में शामिल हैं। इस तीसरे समूह में हम अनुसूचित जनजातियों को भी शामिल कर सकते हैं। ये राज्य की कुल जनसंख्या का लगभग 13 प्रतिशत है। इनमें भील, मीणा, सहरिया, गरसिया आदि प्रमुख हैं। वर्तमान में मीणा समुदाय को छोड़ कर बाकरी अनुसूचित जनजातियों की स्थिति अच्छी नहीं है।

राजस्थान के पहले चरण की राजनीति में कांग्रेस का स्पष्ट दबदबा रहा। इस दौरान चुनावी राजनीति पर पूर्व राजनीतिक घरानों, जागीरों और उद्योगपतियों का स्पष्ट प्रभाव था। इनमें से कुछ ने कांग्रेस और कुछ ने पूर्व जनसंघ का समर्थन किया। विपक्षी दल

के रूप में जनसंघ अन्य दलों की तुलना में ज्यादा मजबूत स्थिति में था। 1967 के चुनावों में दो चुनाव-पूर्व गठबंधन बने। एक ओर जनसंघ तथा स्वतंत्र पार्टी तथा दूसरी ओर संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी और वामपंथ दलों का गठबंधन। इन गठबंधनों ने कांग्रेस को अच्छी टक्कर ली, लेकिन हरा पाने में नाकाम रहे।

राजस्थान के पहले मुख्यमंत्री हीरालाल शास्त्री (7 अप्रैल, 1949-5 जनवरी, 1951) थे। इस दौर की राजनीति की एक मुख्य विशेषता यह रही कि कांग्रेस पार्टी के नेता मोहनलाल सुखाड़िया एक लम्बे समय (13 नवम्बर, 1954 से 9 जुलाई, 1971) तक राज्य के मुख्यमंत्री रहे। इसके अलावा इस दौर में बरकतुल्लाह खान (9 जुलाई, 1971 से 11 अगस्त, 1973) भी राज्य के मुख्यमंत्री बने जो राजस्थान के एकमात्र मुसलमान मुख्यमंत्री हैं। दूसरा चरण 1977 में हुए चुनावों में जनता पार्टी की लहर लेकर आया। कांग्रेस की जबरदस्त हार हुई। कांग्रेस के कुल 41 उम्मीदवार जीते, जबकि जनता पार्टी गठबंधन के 150 विधायक चुने गये। इस पूरे दौर में भैरो सिंह शेखावत राज्य के मुख्यमंत्री रहे। बहरहाल, यह सरकार स्थाई साबित नहीं हुई। 1980 में केंद्र में कांग्रेस की सरकार बन जाने पर राजस्थान की सरकार को बर्खास्त कर दिया गया। इस समय तक जनता पार्टी टूट चुकी थी और जनसंघ भारतीय जनता पार्टी के रूप में सामने आ चुका था। नये चुनावों में कांग्रेस फिर से सत्ता में वापस आयी। उसे कुल 133 सीटों पर जीत मिली, जबकि मुख्य विपक्षी दल भाजपा को 33 सीटों पर ही जीत मिल सकी। 1985 के विधानसभा चुनावों में भी कांग्रेस को जीत मिली। इन चुनावों में इसे 112 सीटें मिलीं जबकि विपक्षी भाजपा को 59

सीटों पर जीत हासिल हुई। इन चुनावों में कांग्रेस को इंदिरा गांधी की हत्या के कारण उपजी सहानुभूति लहर का फ़ायदा मिला। यह बात लोकसभा चुनावों में ज़्यादा स्पष्ट रूप से सामने आयी जिसमें कांग्रेस को राज्य की सभी 25 सीटों पर जीत मिली।

बहरहाल, इस दौरान राज्य की राजनीति में कांग्रेस आलाकमान का दखल बहुत ज़्यादा बढ़ गया। नतीजा यह हुआ कि 1980 से 1990 के बीच राजस्थान में छह मुख्यमंत्रियों को बदला गया। अंतहीन गुटबाज़ी के कारण राज्य में कांग्रेस नेतृत्व दिशाहीन हो गया। भाजपा की स्थिति इससे अलग थी। राष्ट्रीय स्तर पर 1975 के बाद भाजपा ने उग्र हिंदुत्वादी राजनीति का सहारा ले लिया था। लेकिन राजस्थान में इसके सबसे बड़े और राष्ट्रीय स्तर के नेता भैरों सिंह शेखावत की छवि एक उदार नेता की थी। इसके दो नतीजे हुए। एक तो भाजपा का प्रभाव तेज़ी से बढ़ा और दूसरा कुछ उत्तर और पश्चिमी राज्यों की तरह राजस्थान का साम्प्रदायिकीकरण नहीं हुआ। 1989 में लोकसभा चुनावों में राजस्थान में भाजपा और नवगठित जनता दल के गठबंधन ने सभी 25 सीटों पर क़ब्ज़ा कर लिया। 1990 में आयोजित विधानसभा चुनावों में भाजपा को 85, जनता दल को 55 और माकपा को एक विधानसभा क्षेत्र पर जीत मिली थी। दूसरी ओर कांग्रेस को सिर्फ़ 50 सीटों पर सफलता मिली।

1990 के बाद की राजनीति को राज्य की राजनीति का तीसरा चरण माना जा सकता है। इस चरण की ख़ास विशेषता यह रही कि इसमें राजस्थान की राजनीति दो दलों यानी कांग्रेस और भाजपा के बीच सिमटती चली गयी। 1989 के लोकसभा चुनावों और 1990 के विधानसभा चुनावों में जनता दल को अच्छी सफलता मिली थी। लेकिन इसके बाद इसकी स्थिति में बहुत गिरावट आयी और यह पूरी तरह से हाशिये पर चला गया। मसलन 1989 में लोकसभा चुनावों में जनता दल को 25.68 प्रतिशत वोट मिले थे, जो 2004 में चुनावों में घटकर 0.45 प्रतिशत रह गया। इसी तरह राज्य के कुछ क्षेत्रों में वामपंथी दलों का कुछ जनाधार था जिसमें लगातार गिरावट आयी। स्पष्टतः इस तीसरे चरण में राज्य की चुनावी राजनीति में दलीय प्रणाली के उस राजनीतिशास्त्रीय नियम को लागू किया जा सकता है जिसमें पार्टी-बहुल चुनावी व्यवस्था के द्विदलीय ध्रुवीकरण की बात कही गयी है। यह बात 1990 के बाद हुए विधानसभा चुनावों से पूरी तरह स्पष्ट है। इन चुनावों के बाद भैरों सिंह शेखावत के नेतृत्व में भाजपा-जनता दल गठबंधन की सरकार बनी। लेकिन 6 दिसम्बर, 1992 को बाबरी मसज़िद विध्वंस के बाद इस सरकार को बर्खास्त कर दिया गया। 1993 में हुए चुनावों में भाजपा को 96 और कांग्रेस को 76 सीटें मिलीं। भाजपा ने निर्दलीय और कुछ छोटे दलों के विधायकों की मदद से अपनी सरकार बनायी। भैरों सिंह शेखावत राज्य के मुख्यमंत्री बने। इसके बाद राज्य के अगले तीन चुनावों में सत्ता में बारी-बारी से कांग्रेस और

भाजपा की वापसी हुई। 1998 में कांग्रेस को 153 सीटें मिलीं, जबकि भाजपा को सिर्फ़ 33 सीटों पर संतोष करना पड़ा। इन चुनावों के बाद अशोक गहलोत राज्य के मुख्यमंत्री बने। इन चुनावों में भाजपा को 120 और कांग्रेस को 56 सीटें मिलीं। इस तरह, 2008 के चुनावों में कांग्रेस को जीत मिली। जीत का अंतर थोड़ा कम था। कांग्रेस को 96 और भाजपा को 78 सीटों पर जीत मिली और कांग्रेस ने निर्दलीय विधायकों की मदद से अपनी सरकार बनायी और एक बार फिर अशोक गहलोत मुख्यमंत्री बने।

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि आज़ादी के बाद से राजस्थान की राजनीति में काफी बदलाव हुए हैं। यहाँ भी काफ़ी हद तक पिछड़ी जातियों का उभार हुआ है। लेकिन बिहार और उत्तर प्रदेश की तरह ज़्यादा उग्र रूप में सामने नहीं आया और इन राज्यों की तरह यहाँ ग़ैर-कांग्रेस, ग़ैर-भाजपा दलों का उभार नहीं हुआ। इसके बजाय, कांग्रेस और भाजपा के भीतर पिछड़े समूहों के नेताओं का दबदबा बढ़ा। ख़ास तौर पर, कांग्रेस में पिछड़ी जाति के नेता अशोक गहलोत पार्टी के प्रमुख चेहरे के रूप में उभरे। इसी तरह राजस्थान में एक मज़बूत ग़ैर-कांग्रेसी दल के रूप में भाजपा का उभार हुआ। लेकिन यहाँ भाजपा ने अपनी उग्र हिंदुत्ववादी राजनीति नहीं चलायी। राजस्थान में कई समूह, ख़ास तौर पर गुर्जर ख़ुद को अनुसूचित जनजातियों में शामिल करने की माँग कर रहे हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि विविध समूह राज्य द्वारा प्रदत्त अवसरों के बारे में जागरूक हुए हैं। स्पष्टतः राजस्थान की राजनीति सामाजिक बदलाव, सामंजस्य और टकराव की अनुपम मिसाल पेश करती है।

देखें : अरुणाचल प्रदेश, असम, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गोवा, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झारखण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैंड, पंजाब, पश्चिम बंग, बिहार, मणिपुर, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मिज़ोरम, मेघालय, सिक्किम, हरियाणा।

संदर्भ

1. संजय लोढ़ा (2009), 'राजस्थान की चुनावी राजनीति की प्रकृति, विकास और निर्धारक तत्त्व', अरविंद मोहन (सम्पा.), *लोकतंत्र का नया लोक : चुनावी राजनीति में राज्यों का उभार*, भाग-2, वाणी प्रकाशन-लोकनीति-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.
2. इकबाल नारायण और पी.सी. माथुर, 'अ थाउजेंड ईयर राज : राजपूत हिंदुइज्म इन राजस्थान बिफोर ऐंड आफ्टर 1947', फ्रैंसीन फ्रैंकेल और एम.एस.ए. राव (सम्पा.), *डॉमिनेंस ऐंड स्टेट पावर इन मॉडर्न इण्डिया: डिक्लाइन ऑफ़ अ सोशल ऑर्डर*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

राज्य-1

(मैकियावेली और हॉब्स)

(State-1)

राज्य आधुनिक विश्व की अनिवार्य सच्चाई है। दुनिया के अधिकांश लोग किसी-न-किसी राज्य के नागरिक हैं। जो लोग किसी राज्य के नागरिक नहीं हैं, उनके लिए वर्तमान विश्व व्यवस्था में अपना अस्तित्व बचाये रखना काफी कठिन है। असल में, राज्य शब्द का उपयोग तीन अलग-अलग तरीके से किया जा सकता है। पहला, इसे एक ऐतिहासिक सत्ता माना जा सकता है; दूसरा इसे एक दार्शनिक विचार अर्थात् मानवीय समाज के स्थाई रूप के तौर पर देखा जा सकता है; और तीसरा, इसे एक आधुनिक परिघटना के रूप में देखा जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि इन सभी अर्थों का एक-दूसरे से टकराव ही हो। असल में, इनके बीच का अंतर सावधानी से समझने की आवश्यकता है। वैचारिक स्तर पर राज्य को मार्क्सवाद, नारीवाद और अराजकतावाद आदि से चुनौती मिली है। लेकिन अभी राज्य से परे किसी अन्य मज़बूत इकाई की खोज नहीं हो पायी है। राज्य अभी भी प्रासंगिक है और दिनों-दिन मज़बूत होता जा रहा है।

कई राजनीतिक दार्शनिकों की मान्यता है कि सबसे पहले निकोलो मैकियावेली के लेखन में आधुनिक अर्थों में राज्य के प्रयोग को देखा जा सकता है। 1532 में प्रकाशित अपनी विख्यात रचना *द प्रिंस* में उन्होंने स्टेटो (या राज्य) शब्द का प्रयोग भू-क्षेत्रीय सम्प्रभु सरकार का वर्णन करने के लिए किया। मैकियावेली की एक अन्य रचना *द डिस्कोर्सिज़* की विषय-वस्तु अलग है, लेकिन बुनियादी वैचारिक आधार उसका भी *द प्रिंस* जैसा ही है। मैकियावेली के अनुसार राजशाही में केवल प्रिंस ही स्वाधीन है, पर गणराज्य में हर व्यक्ति प्रिंस है। उसे अपनी सुरक्षा, स्वतंत्रता और सम्पत्ति बचाने के लिए वैसे ही कौशल अपनाने का अधिकार है। मैकियावेली के अनुसार गणराज्य में प्रिंस जैसी खूबियों को सामूहिक रूप से विकसित करने की ज़रूरत है, और ये खूबियाँ मित्रता और परोपकार जैसे पारम्परिक सद्गुणों के आधार पर नहीं विकसित हो सकतीं। गणराज्य में हर व्यक्ति नाम और नामा हासिल करने के मक़सद से दूसरे के साथ खुले मंच पर सहयोग करेगा। मैकियावेली मानते थे कि राजशाही के मुकाबले गणराज्य अधिक नफ़ासत से काम कर सकेगा, उसमें प्रतिरक्षा की अधिक क्षमता होगी और वह युद्ध के ज़रिये अपनी सीमाओं का अधिक कुशलता से विस्तार कर सकेगा। मैकियावेली के अनुसार यह सब करने की प्रक्रिया में ही शक्तिशाली, अदम्य और आत्म-निर्भर व्यक्तियों की रचना हो सकेगी।

ऐसे गणराज्यों को निरंकुशता में बदलने से कैसे रोका जा सकेगा? मैकियावेली इसके लिए दो शर्तें पेश करते हैं : हर गणराज्य को टिके रहने के लिए ऐसा प्रबंध करना होगा जिसमें हर व्यक्ति दूसरे के साथ सृजनात्मक ढंग से होड़ कर सके, किसी एक व्यक्ति को इतनी शक्ति अर्जित करने से रोकना होगा कि वह दूसरों पर प्रभुत्व जमा सके। उच्च-कुलीन अभिजनों या व्यापारिक प्रभुवर्ग और आम जनता के बीच प्रभुत्व को लेकर संघर्ष होता रहेगा जिनके गर्भ से गणराज्य को नयी ऊर्जा मिलेगी और अच्छे क़ानूनों का जन्म होगा, बशर्ते बेहतर राजनीतिक संस्थाओं के ज़रिये उन संघर्षों को काबू में रखा जा सके। क़ानून ऐसे होने चाहिए जिनकी जानकारी लोगों के सामने साफ़ कर सके कि गणराज्य में वे क्या-क्या बेखटके कर सकते हैं, और क्या करने पर उन्हें दण्ड भोगना होगा। आर्थिक समृद्धि की इजाज़त होनी चाहिए, पर निजी स्तर पर अत्यधिक सम्पत्ति अर्जित करने पर क़ानूनन रोक होनी चाहिए। नागरिक गुणों के विकास के लिए राज्य का एक धर्म होना चाहिए, पर मैकियावेली ईसाई धर्म को यह हैसियत देने के लिए तैयार नहीं थे। फ्लोरेंस की प्रतिरक्षा करने के अपने अनुभव के आधार पर मैकियावेली ने निष्कर्ष निकाला था कि गणराज्य को आक्रमणों से बचाने के लिए नागरिकों की सेना होना चाहिए।

क्वेंटिन स्कनर मानते हैं कि मैकियावेली ने जब राज्य की चर्चा की तो वे एक प्रिंस के राज्य की बात कर रहे थे। वह उस अर्थ में निर्वैयक्तिक नहीं था, जिस अर्थ में आज इसका प्रयोग किया जाता है। युरोपीय आधुनिकता के शुरुआती दौर में चर्च और राजा दोनों के पास ही राजनीतिक शक्ति होती थी और दोनों के पास अपनी-अपनी सेनाएँ भी होती थीं। इससे चर्च और राजा के बीच युद्ध की भी सम्भावना बनी रहती थी। 1648 में तीस वर्षीय युद्ध के बाद वेस्टफ़ेलिया की संधि हुई। इसने चर्च की शक्ति कम की और राजा को उसके अपने क्षेत्र में प्राधिकार दिया। इसने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्प्रभु राज्यों के अस्तित्व को स्वीकार किया।

दार्शनिक स्तर पर समाज के लिए राज्य की अनिवार्यता स्थापित करने का श्रेय सत्रहवीं सदी के विचारक थॉमस हॉब्स और उनकी रचना *लेवायथन* को जाता है। इस पुस्तक के पहले संस्करण के आवरण पर एक दैत्याकार मुकुटधारी व्यक्ति का चित्र उकेरा गया था जिसकी आकृति छोटी-छोटी मानवीय उँगलियों से बनी थी। इस दैत्याकार व्यक्ति के एक हाथ में तलवार थी, और दूसरे में राजदण्ड। दरअसल, हॉब्स इस भौतिकवादी और आनंदवादी विचार के प्रतिपादक थे कि मनुष्य का उद्देश्य अधिकतम आनंद और कम से कम पीड़ा भोगना है। अगर दूसरे के आनंद में मनुष्य को सुख मिल सकता है, तो हॉब्स के अनुसार वह परोपकार के लिए भी सक्षम है। लेकिन, अगर संसाधन कम हुए या किसी क्रिस्म

का भय हुआ, तो मनुष्य आत्मकेंद्रित और तात्कालिक आग्रहों के अधीन हो कर परोपकार को मुलतवी कर देगा। ऐसी स्थिति में उसे अपने ऊपर किसी सरकार का नियंत्रण चाहिए, वरना वह अपने सुख को अधिकतम और दुःख को न्यूनतम करने का अबाध प्रयास करते हुए सभ्यता और संस्कृति से हीन प्राकृतिक अवस्था में पहुँच जायेगा। जो कुछ उसके पास है, उसे खोने के डर से मनुष्य शक्ति के एक मुकाम से दूसरे मुकाम तक पहुँचने की कोशिशों में लगा रहेगा जिसका अंत केवल उसकी मृत्यु से ही हो सकेगा। अगर मज़बूत राज्य ने उसकी इन कोशिशों को संयमित न किया तो मानव जाति प्राकृतिक अवस्था में पहुँच जायेगी जहाँ हर व्यक्ति दूसरे के दुश्मन के रूप में परस्पर विनाशकारी गतिविधियों में लगा होगा। मनुष्य को नियंत्रित करने वाला यही परम शक्तिशाली और सर्वव्यापी राज्य हॉब्स के शब्दों में *लेवायथन* है। हॉब्स को कोई शक नहीं था कि अगर यह दैत्याकार हस्ती लेवायथन मनुष्य को शासित नहीं करेगी तो वह शांति और व्यवस्था हासिल करने के तर्कसंगत निर्णय पर नहीं पहुँच सकता। उस सूरत में मनुष्य एक-दूसरे को हानि न पहुँचाने के परस्पर अनुबंध पर भी नहीं पहुँच पायेगा। तर्कों की यह शृंखला हॉब्स को दिखाती है कि मनुष्य एक सामाजिक समझौते के तहत एक समाज रचता है जिसमें हर कोई अपना हित साधना चाहता है और इसीलिए दूसरों से करार करता है कि वह किसी दूसरे के हित पर चोट नहीं करेगा बशर्ते बदले में उसके हित पर चोट न की जाए। हॉब्स का विचार था कि इस समझौते का उल्लंघन न हो, इसलिए एक सम्प्रभु सत्ता की ज़रूरत पड़ेगी ताकि सार्वजनिक शांति और सुरक्षा की गारंटी की जा सके। यह सम्प्रभु केवल ताकत के डर से ही अपनी सत्ता लागू नहीं करेगा। हॉब्स ने *लेवायथन* के दूसरे अध्याय 'ऑफ़ द कॉमनवेल्थ' में कई तरह के सम्भव संवैधानिक रूपों की चर्चा की है। लेकिन, सिद्धांततः हॉब्स अविभाजित सत्ता के पक्ष में नज़र आते हैं। इसके लिए उन्हें राजशाहीनुमा सत्ता की वकालत करने में भी कोई हर्ज नहीं लगता।

हॉब्स की निगाह में यह सम्प्रभु निरंकुश नहीं होगा क्योंकि स्वयं को क्रायम रखने लायक परिस्थितियाँ सुनिश्चित करने के लिए उसे अपनी प्रजा को एक हद तक (आंतरिक खतरे और बाह्य अशांति से उसे सुरक्षित रखने के उद्देश्यों के मुताबिक) आज्ञादी भी देनी होगी। भौतिक ज़िंसाँ और समृद्धि का वितरण इस तरह सुनिश्चित करना होगा जिससे उस टकराव के अंदेश हमेशा ठण्डे होते रहें जो परस्पर लेन-देन की प्रक्रिया से अक्सर पैदा होता रहता है। हॉब्स का खयाल था कि धर्म निजी मामला है, पर उसके सार्वजनिक पहलुओं को पूरी तरह राज्य के मुखिया के फ़ैसले पर छोड़ देना चाहिए। बाइबिल जिन मामलों में स्पष्ट निर्देश नहीं देती, वहाँ राज्य के मुखिया का निर्देश अंतिम समझा जाना चाहिए।

अपने इन्हीं विचारों के कारण हॉब्स ने कैथॉलिक चर्च को अंधकार के साम्राज्य की संज्ञा दी, क्योंकि वह अपने अनुयायियों से राज्य के प्रति वफ़ादारी से भी परे जाने वाली वफ़ादारियों की माँग करता है। उन्होंने शुद्धतावादियों के खिलाफ़ आवाज़ उठायी जो अंतःकरण के आधार पर राज्य के खिलाफ़ खड़े होने की अपील करते थे। हॉब्स का मतलब साफ़ था कि अगर शांति-व्यवस्था के साथ रहना है तो राजकीय प्राधिकार के उल्लंघन से बाज़ आना होगा। ज़रूरी नहीं कि राज्य की सम्प्रभुता का प्रतीक कोई व्यक्ति ही हो। वह किसी सभा और किसी संसद की सम्प्रभुता भी हो सकती है। इस लिहाज़ से हॉब्स के सिद्धांत में संसदीय सम्प्रभुता के लिए भी गुंजाइश है।

हॉब्स द्वारा पेश किये गये राज्य संबंधी सिद्धांत ने बाद के युरोपीय चिंतकों को प्रभावित करना जारी रखा। इस प्रक्रिया में एक सामान्य समझ उभरी जिसके मुताबिक़ राज्य राजनीतिक संस्थाओं का एक ऐसा समुच्चय माना गया जो एक निश्चित सीमाबद्ध भू-क्षेत्र में मुश्तरका हितों के नाम पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। यह परिभाषा मैक्स वेबर की उस व्याख्या से बहुत प्रभावित है जो उन्होंने अपनी रचना 'दि प्रोफ़ेशन ऐंड वोकेशन ऑफ़ पॉलिटिक्स' में पेश की थी। इसमें वेबर ने आधुनिक राज्य के तीन पहलू बताये थे : उसकी भू-क्षेत्रीयता, हिंसा करने का उसका अधिकार और वैधता। वेबर का तर्क था कि अगर किसी सुनिश्चित भू-भाग में रहने वाले समाज में कोई संस्था हिंसा का डर दिखा कर लोगों से किन्हीं नियम-क़ानूनों का पालन नहीं करायेगी तो अराजकता फैल जाएगी। वेबर ने इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश भी की है कि आखिर लोग राज्य की बात क्यों मानते हैं? क्या केवल हिंसा के दम पर? या आज्ञापालन का कोई तर्क भी होता है? वेबर का जवाब यह है कि हिंसा का डर दिखाने के साथ-साथ राज्य अपने प्रभुत्व को वैध साबित करने की क़वायद भी करता है ताकि आज्ञापालन का अहिंसक औचित्य प्रमाणित किया जा सके।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमंड बर्क, क्रांति, ज्यों ज़ाक़ रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पेनॉप्टिकन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रासीवाद, फ़्रेड्रिख़ वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशांट, माइकेल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. क्यू.आर.डी. स्कनर (1978), *मैक्रियावेली*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
2. एस. पीटर डोनाल्डसन (1989), *मैक्रियावेली ऐंड मिस्ट्री ऑफ़ स्टेट*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. क्वेंटिन स्कनर (1996), *रीजन ऐंड रेटरिक इन द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ हॉब्स*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
4. एस. टर्नर (192000), *द केम्ब्रिज कंपेनियन टु वेबर*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— कमल नयन चौबे, अभय कुमार दुबे
और नरेश गोस्वामी

राज्य-2

(विभिन्न मत और फूको का विचार)

(State-2)

राज्य की संस्था लोगों से कैसे अपनी बात मनवाती है— इस समझ में सबसे ताज़ा और विचारोत्तेजक विकास मिशेल फूको ने किया है। पूँजीपति वर्ग राज्य में अपनी सामाजिक सत्ता केवल हिंसा के उपकरणों (फ़ौज, पुलिस वगैरह) के जरिये ही स्थापित नहीं करता। वह तरह-तरह के सांस्कृतिक रूपों का इस्तेमाल करके भी अपनी सामाजिक सत्ता की निरंतरता सुनिश्चित करता है। इसलिए राज्य की संरचनाओं को उनके सांस्कृतिक रूपों में समझना भी आवश्यक है। आखिरकार राज्य के पक्ष में सहमति पैदा करने की ज़िम्मेदारी ये सांस्कृतिक संरचनाएँ ही निभाती हैं।

फूको बताते हैं कि आधुनिक समाज में लोगों को नियंत्रित या अनुशासित करने के लिए निगरानी की एक बहुस्तरीय व्यवस्था के अलावा दूसरों द्वारा किये गये फ़ैसलों को आत्मसात् करने तथा परीक्षा प्रणाली जैसे उपाय अपनाये जाते हैं। फूको जोर देकर कहते हैं कि लोगों पर नज़र रखने मात्र से सत्ता का आधा काम पूरा हो जाता है। इसके लिए वे स्टेडियम की व्यवस्था का हवाला देते हैं जिसमें सीटों की व्यवस्था इस तरह की जाती है कि दर्शक किसी कार्यक्रम को आसानी से देख पायें पर साथ ही यह व्यवस्था सत्ता के नियंत्रकों को दर्शकों पर निगाह रखने की सहूलियत भी प्रदान करती है। यहाँ फूको अनुशासन और नियंत्रण की सत्ता का मॉडल चिह्नित करने के लिए राजनीतिक चिंतक जेरेमी बेंथम द्वारा कल्पित जेल पनोप्टिकॉन का उल्लेख भी करते हैं। जिसकी मूल वास्तु-योजना कुछ ऐसी थी कि कोठरियों में

बंद कैदी एक दूसरे के लिए तो अदृश्य रहें लेकिन जेल के केंद्रीय टॉवर की निगरानी से बाहर न हो पायें। कैदियों को कभी इस बात का पता नहीं चलता कि उन पर निगाह रखी जा रही है या नहीं पर उनके जेहन में यह बात बैठ जाती है कि कोई उन पर नज़र रखता है। फूको पैनाप्टिकन के सिद्धांत को एक ऐसे रूपक की तरह देखते हैं जो जेल की चौहद्दी के पार जाकर स्कूलों, फ़ैक्टरियों और अस्पतालों में अनुशासन का आम ढर्रा बन जाता है। हालाँकि बेंथम की यह प्रस्तावित जेल कभी मूर्त रूप नहीं ले पायी लेकिन एक सिद्धांत के रूप में वह आधुनिक समाज की लगभग हर गतिविधि पर क्राबिज़ हो गयी है। आधुनिक समाज में अनुशासन क्रायम करने वाली व्यवस्थाओं के लिए वह एक ऐसा औज़ार सिद्ध हुई है जिसने प्राक-आधुनिक काल के राजाओं और हाकिमों को अपदस्थ कर उनकी जगह खुद को स्थापित कर लिया है।

इस क्रम में फूको यह भी दर्शाते हैं कि आधुनिक सत्ता या अनुशासन क्रायम करने वाली व्यवस्था सिर्फ़ लोगों की गतिविधियों पर ही नज़र नहीं रखती बल्कि वह लोगों को उनकी अक्षमता दिखाकर भी नियंत्रित करती है। उनके अनुसार आधुनिक सत्ता समझ, प्रतिभा, सामान्य और असामान्य व्यवहार जैसी कोटियों का निर्माण करती है और जब कोई व्यक्ति इसके द्वारा स्थापित कसौटियों या मानकों पर खरा नहीं उतरता तो व्यवस्था ऐसे व्यक्ति को कमतर या असामान्य घोषित करने का मौक़ा नहीं चूकती। इस संदर्भ में फूको यह याद दिलाना नहीं भूलते कि आधुनिक समाज की इन अनुशासनकारी संस्थाओं का यह रवैया किसी तरह के प्रतिशोध से नहीं बल्कि सुधार से प्रेरित होता है। जिसका अंतिम लक्ष्य यह होता है कि व्यक्ति समाज की प्रदत्त कसौटियों या मानकों को स्वीकार कर ले। गौर करें कि समाज की मान्यताओं के जरिये अनुशासन क्रायम करने का यह ढंग न्यायिक दण्ड की उस व्यवस्था से ख़ासा अलग है जिसमें किसी व्यक्ति को सिर्फ़ इस आधार पर दण्डित किया जाता था कि उसका कृत्य क़ानून सम्मत है या नहीं। ऐसे किसी फ़ैसले में यह नहीं कहा जाता था कि व्यक्ति सामान्य है या असामान्य। लेकिन आधुनिक समाज शैक्षिक कार्यक्रमों, चिकित्सा के तौर-तरीकों तथा उद्योग व उत्पादों के मामलों में कुछ निश्चित मानक स्थापित करने पर जोर देता है और इन मानकों का वर्चस्व इतना चौतरफ़ा होता है कि व्यक्ति का व्यवहार और व्यक्तित्व उन्हीं के हिसाब से ढलने लगता है।

सामान्यतः राज्य को शासन, संगठन या राजनीतिक समुदाय के तौर पर देखा जाता है। माना जाता है कि इतिहास के हर दौर में इसके विविध रूप मौजूद रहे हैं। इसमें होने वाले बदलाव इतिहास के प्रमुख विषय रहे हैं। सिर्फ़ आदिम घुमंतू राजनीतिक समुदायों को राज्य का दर्जा नहीं दिया जाता है। माना जाता है कि इन समुदायों में इस अवधारणा के साथ-

साथ उससे जुड़ी सुनिश्चित व्यवस्था का अभाव होता है। असल में राज्य होने के लिए यह आवश्यक है कि समुदाय और भू-क्षेत्र के बीच तक्ररीबन स्थाई संबंध हो। इस सामान्य तरीके से उपयोग किये जाने पर यह शब्द इस विचार को अभिव्यक्त करता है कि राजनीतिक समुदाय की कुछ ऐसी निश्चित सार्वभौमिक विशेषताएँ होती हैं, जो समय और स्थान (या स्पेस) से परे होती हैं; अर्थात् ग्रीक पोलिस, मध्ययुगीन रेगनम और आधुनिक गणतंत्रों के बीच कुछ सामान्य विशेषता हैं। क्या इस गुण या विशेषता को ज्यादा संकुचित रूप में परिभषित किया जा सकता है?

यह बात तो स्पष्ट है कि यदि राज्य की कोई परिभाषा इसे शाश्वत और अपरिवर्तनशील वस्तु या संगठन के रूप में पेश करती है, तो ऐसा करके वह इतिहास में बदलाव और विकास की प्रक्रिया की उपेक्षा करती है। इसलिए एक वैध परिभाषा को दूसरे पहलुओं और कार्यों पर ध्यान देना चाहिए। इतिहास यह दिखाता है कि एक सार्वभौमिक परिघटना के रूप में राज्य एक ऐसी गतिविधि या संगठन है, जो मनुष्य पर आवश्यकताओं के रूप में थोपी गयी है। इस तरह की गतिविधि के रूप में इसकी कुछ मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं : यह मनुष्यों और उनकी सम्पत्ति के बीच में एक निश्चित संबंध बनाता है; या दूसरे शब्दों में यह मनुष्यों के बीच एकता या समाज का निर्माण करता है। इसलिए राज्य का अस्तित्व विशिष्ट तौर पर एक बुनियादी चीज है। दूसरा, यह मनुष्यों के बीच व्यवस्था की शक्ति, या शासन के एक रूप या आदेश और आज्ञा पालन का एक संबंध स्वीकार करता है। तीसरा, राज्य को बनाने और कायम रखने वाली गतिविधि विशिष्ट होती है, जो हमेशा खुद को उन लोगों के खिलाफ पेश करती है, जो इस समुदाय का भाग नहीं होते हैं।

बहरहाल, राज्य को एक ऐतिहासिक परिघटना के रूप में देखने के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि इस पर होने वाले लेखन में एक दार्शनिक पहलू हमेशा शामिल रहा है। इसके तहत प्रश्न उठता है कि राज्य जिस तरह की व्यवस्था या लोगों के बीच संबंध स्थापित करना चाहता है, उसका आदर्श रूप क्या है? क्या वह आदर्श रूप हासिल कर लिया गया है? क्या शासन का वर्तमान तरीका सही है? क्या समुदाय के बाहरी संबंधों को सही तरीके से संचालित किया जा रहा है? असल में, इस नज़रिये से विचार करने पर राज्य सिर्फ मनुष्यों पर थोपी गयी आवश्यकता के रूप में ही सामने नहीं आता है, बल्कि यह मनुष्यों के सामने 'सही' के चुनाव की समस्या के रूप में भी सामने आता है। राज्य में सिर्फ अराजकता की जगह एक व्यवस्था स्थापित करने का ही संघर्ष नहीं है। इसकी बजाय, यह एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करने का भी संघर्ष है, जो सच्ची, प्रामाणिक और न्यायपूर्ण हो। इसलिए, प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, हीगेल

आदि के लेखन को इस सवाल का दार्शनिक उत्तर खोजने की कोशिश के रूप में देखा जा सकता है कि राज्य कैसा होना चाहिए। इन विद्वानों ने राज्य और दूसरे तरह के मानव-संगठनों के बीच अंतर करने की कोशिश की है और इसके साथ ही इन्होंने अपने आदर्श राज्य की परिकल्पना और उसके पक्ष में तर्क भी प्रस्तुत किये हैं।

सार्वभौम ऐतिहासिक परिघटना के रूप में राज्य और एक दार्शनिक अवधारणा के रूप में राज्य को देखने के विचार के साथ राज्य को विशेष रूप से आधुनिक परिघटना मानने के विचार को भी जोड़ने की आवश्यकता है। ऐसे बहुत से इतिहासकार और राजनीतिक सिद्धांतकार हैं, जो यह तर्क देते हैं कि 'राज्य' शब्द का उपयोग यूरोप में पुनर्जागरण और धर्म-सुधार के बाद सामने आयी व्यवस्था के लिए किया जाना चाहिए। इनका यह मानना है कि राज्य का सिद्धांत दरअसल इसी विशिष्ट परिघटना से जुड़ा हुआ सिद्धांत है। इसलिए यदि इसका प्रयोग इतिहास के दूसरे दौर में मौजूद संगठनों के लिए किया जाता है, तो इससे इसके अर्थ के बारे में भ्रम बढ़ेगा। एक संगठित व्यवस्था के रूप में राज्य शब्द का उदय भी चौदहवीं सदी के अंत और सत्रहवीं सदी के बीच हुआ। राज्य का अंग्रेजी शब्द 'स्टेट' लैटिन शब्द 'स्टेयर' से निकला है, जिसका अर्थ है खड़ा होना। इस तरह यह एक स्थिति के बारे में बताता है। राज्य को एक आधुनिक अवधारणा मानने के पीछे एक मुख्य विचार यह भी है कि आधुनिक राज्य का उभार प्रभुसत्ता की अवधारणा के साथ हुआ। यह एक स्पष्ट आधुनिक मान्यता है कि जो राज्य प्रभुसत्ता-सम्पन्न नहीं है, वह सही अर्थों में राज्य ही नहीं है। प्रभुसत्ता का अर्थ यह है कि राज्य अपने अधिकार में आने वाले भू-क्षेत्र में राजनीतिक प्राधिकार का सर्वोच्च स्रोत है। प्रभुसत्ता के दो पहलू हैं— आंतरिक पहलू और बाहरी पहलू। आंतरिक पहलू का अर्थ है कि राज्य की सीमाओं के भीतर राज्य से ऊँचा कोई भी प्राधिकारी नहीं है। राज्य सर्वोच्च है और नागरिक राज्य के खिलाफ किसी अन्य प्राधिकारी से अपील नहीं कर सकता है। बाहरी प्रभुसत्ता का अर्थ है— किसी विशिष्ट राज्य को दूसरे राज्यों द्वारा दी जाने वाली मान्यता। साथ ही, इसमें यह भी स्वीकार किया जाता है कि कोई राज्य अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अपने नागरिकों की ओर से बोल सकता है। यह अधिकार अंतर्राष्ट्रीय दायरे में राज्य की स्वायत्तता और प्रभुसत्ता को व्यक्त करता है।

राज्य को एक आधुनिक परिघटना मानने का मतलब यह नहीं है कि इसे एक ऐतिहासिक सत्ता या दार्शनिक विचार के रूप में भी खारिज कर दिया जाये। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आधुनिक राज्य की कोई भी विशेषता इतिहास के पहले के दौर में मौजूद नहीं थी। असल में, आधुनिक दौर के पहले के 'राज्य' और आधुनिक दौर के साथ सामने आये

‘राज्य’ की कई विशेषताएँ समान हैं। इसी तरह, यह नहीं कहा जा सकता कि एक दार्शनिक विचार के रूप में राज्य आधुनिक राज्य की ‘पूर्ण अवधारणा’ का प्रतिनिधित्व करता है। असल में दार्शनिक रूप से राज्य की अवधारणा अलग-अलग तरीकों से कल्पित और विवेचित की जाती रही है। मसलन, उदारतावादियों ने राज्यों को एक ‘तटस्थ’ संस्था के रूप में देखा, लेकिन राज्य की भूमिका के बारे में उदारतावाद के भीतर गम्भीर और विविध चर्चा होती रही है। मार्क्सवाद के भीतर भी राज्य के लेकर वाद-विवाद की समृद्ध परम्परा रही है। इसमें राज्य को पूँजीपति वर्गों का साधन मानने के साथ ही ‘राज्य की सापेक्षिक स्वायत्तता’ से जुड़ा वाद-विवाद भी शामिल रहा है। अराजकतावादियों ने राज्य को एक अप्राकृतिक सत्ता माने हुए इसे पूरी तरह खत्म करने की वकालत की है। मार्क्स-एंगेल्स के लेखन में भी एक ऐसी साम्यवादी स्थिति की कल्पना की गयी है, जिसमें राज्य पूरी तरह खत्म हो जायेगा। लेकिन अराजकतावादी ऐसी किसी स्थिति का इंतज़ार करने की बजाय राज्य को जल्द-से-जल्द खत्म करना चाहते हैं। इनका मानना है कि राज्य मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति के खिलाफ हिंसा पर आधारित है। दूसरी ओर, अनुदारतावादी राज्य की तरफ़दारी इसलिए करते हैं ताकि वह कई पीढ़ियों से संचित परम्पराओं और मूल्यों का संरक्षण कर पाये। नारीवादियों के भीतर की विभिन्न धाराओं में राज्य के बारे में अलग-अलग तरह से विचार किया गया है। उदाहरण के तौर पर, उदारतावादी-नारीवाद यह मानता है कि एक संस्था के रूप में राज्य पुरुष वर्चस्व की ओर झुका हुआ है, लेकिन क्रान्ति बनाकर राज्य की इस प्रवृत्ति में सुधार किया जा सकता है और इसका उपयोग पुरुष-महिला समानता स्थापित करने के लिए किया जा सकता है। दूसरी ओर, समाजवादी-नारीवाद राज्य के पूँजीवादी चरित्र को महिलाओं की समस्या का मुख्य कारण मानता है। इसकी मान्यता है कि पूँजीवादी राज्य खत्म करने से ही स्त्रियों की स्थिति में सुधार हो सकता है। तीसरा, रैडिकल नारीवादी विचार के मुताबिक राज्य पितृसत्ता पर आधारित परिवार और उसके द्वारा आगे बढ़ाये जाने वाले मूल्यों की हिफ़ाज़त का काम करता है। इसलिए पितृसत्ता को पूरी तरह खत्म करने के लिए आवश्यक है कि राज्य को भी खत्म किया जाए।

स्पष्ट तौर पर, राज्य, इसकी प्रकृति और भूमिका के बारे में बहुत विविध और गहन वाद-विवाद है। हाल के दौर में युरोपीय यूनियन जैसी संरचनाओं के उभार के कारण यह तर्क दिया गया है कि राज्य धीरे-धीरे अप्रासंगिक हो रहा है। लेकिन यह तर्क बहुत मज़बूत नहीं है। यह सच है कि युरोपीय यूनियन में शामिल देशों ने एक मज़बूत क्षेत्रीय संगठन को बनाने के लिए अपनी सहमति दी है। फिर भी, वे एक राष्ट्र-राज्य के रूप में अपनी-अपनी पहचान खत्म नहीं

करना चाहते हैं। दूसरे कई क्षेत्रीय संगठनों ने भी क्षेत्र के देशों के बीच सहयोग बढ़ाया है, लेकिन इस बात की कोई सम्भावना नज़र नहीं आती है कि वे राष्ट्र-राज्य का विकल्प साबित होंगे। समकालीन दुनिया में राज्य एक ऐसी हकीकत है, जिसके खत्म होने का कोई आसार नहीं है। वैचारिक रूप से इसका विरोध करने वाले कई विचारधाराओं के अनुयायी व्यावहारिक मौक़ा मिलने पर भी राज्य की संस्था को खत्म कर पाने में नाक़ाम रहे हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमंड बर्क, क्रांति, ज़्याँ ज़ाक़ रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रांसीवाद, फ्रेड्रिख़ वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशाट, माइकिल वालज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. जे. बरनौर और डी. रैसमुसेन (सम्पा.) (1998), *द फ़ाइनल फ़ूको*, एमआइटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. के. डायसन (1980), *द स्टेट ट्रेडिशन इन वेस्टर्न युरोप*, मार्टिन राबर्टसन, ऑक्सफ़र्ड.
3. डेविड हेल्ड (1998), *पॉलिटिकल थियरी ऐंड मॉडर्न स्टेट*, वर्ल्ड व्यू-माया पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
4. स्वाहा दासा (2011), ‘राज्य’, संकलित, राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *राजनीति सिद्धांत : एक परिचय*, (अनुवाद : कमल नयन चौबे) पियर्सन, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे, अभय कुमार दुबे
और नरेश गोस्वामी

राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा

(Marxist Conception of State)

कार्ल मार्क्स ने अपने पीएचडी शोध-प्रबंध के बाद लिखी गयी पहली लम्बी रचना में काफी गहनता से राज्य की अवधारणा का विश्लेषण किया था। इस रचना का शीर्षक था : *क्रिटीक ऑफ हीगेल्स फ़िलॉसफी ऑफ़ स्टेट* (1843)। बाद में मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक लेखन में राज्य पर गहराई से विचार किया। इस संदर्भ में *क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस* (1850), *एट्रीथ ब्रूमेर ऑफ़ लुई बोनापार्ट* (1852) और *सिविल वार इन फ्रांस* (1871) का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। एंगेल्स ने भी *एंटी-ड्युहरिंग* (1878) और *ऑरिजिन ऑफ़ फैमिली* (1894) में राज्य पर विस्तार से चर्चा की है। लेनिन ने बोलशेविक क्रांति से ठीक पहले लिखे गये अपने प्रबंध *स्टेट ऐंड रेवोल्यूशन* में राज्य के मार्क्सवादी सिद्धांत की पुनर्व्याख्या करने की कोशिश की। परवर्ती मार्क्सवादी चिंतकों में ग्राम्शी ने भी राज्य की भूमिका पर गहराई से विचार किया। लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद मार्क्सवाद में होने वाले वाद-विवाद में राज्य पर कम ध्यान दिये जाने का एक बड़ा कारण आधिकारिक या सोवियत मार्क्सवाद के भीतर स्तालिनवाद का वर्चस्व था। इसके तहत कोशिश रहती थी कि मार्क्सवाद के भीतर विभिन्न श्रेणियों के बारे में किसी गहरे वाद-विवाद को बढ़ावा न दिया जाए। इसके अलावा, मार्क्सवाद पर अक्सर हावी होने वाले आर्थिक निर्धारणवाद के कारण भी राज्य की अवधारणा की उपेक्षा की गयी। इसके तहत मान लिया गया था कि राज्य अधिरचना का भाग है, जिसकी रूपरेखा और प्रकृति हमेशा ही आर्थिक आधार द्वारा तय होती है। लेकिन साठ के दशक से मार्क्सवाद के भीतर राज्य और इसकी 'सापेक्षिक स्वायत्तता' के बारे में काफी गहराई से वाद-विवाद शुरू हुआ। इसमें अलथुसे, पोलांत्साज़ और मिलिबैंड जैसे विद्वानों ने योगदान किया।

मार्क्स ने हीगेल के राजनीतिक दर्शन की समीक्षा करते हुए राज्य के बारे में अपने विचारों का विकास किया। हीगेल ने *फ़िलॉसफी ऑफ़ राइट्स* में यह बताया है कि सामाजिक जीवन के तीन स्तर होते हैं : परिवार, नागर समाज और राज्य। परिवार के भीतर 'विशिष्ट परमार्थवाद' होता है, जिसमें व्यक्ति अपने परिजनों की भलाई के लिए अपने हितों को भी कुर्बान कर देता है। दूसरी ओर, नागर समाज 'सार्वभौम अहंवाद' (युनिवर्सल इगोइज़्म) का क्षेत्र है। यहाँ हर व्यक्ति दूसरों के हितों की तुलना में अपने हितों को ज्यादा महत्त्व देता है। नागर समाज में लोग एक-दूसरे पर निर्भर भी होते हैं। लेकिन दूसरों के प्रति उसका व्यवहार यांत्रिक और स्वार्थ से भरा होता

है। हीगेल मानते हैं कि राज्य एक ऐसा दायरा है जो 'सार्वभौमिक परमार्थवाद' (युनिवर्सल अल्टूइज़्म) का प्रतिनिधित्व करता है। वे इसे मानवीय चेतना का आखिरी और सर्वोच्च पड़ाव मानते हैं। उनकी निगाह में राज्य हर व्यक्ति की इच्छाओं को प्रतिबिम्बित करता है।

मार्क्स परिवार और नागर समाज के बारे में तो हीगेल के विचारों को स्वीकार करते हैं, लेकिन राज्य के बारे में नहीं। मार्क्स का कहना है कि नागर समाज में विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों के बीच होने वाली होड़ का विस्तार राज्य तक होता है। प्रभुत्वशाली वर्ग (पूँजीवाद में पूँजीपति वर्ग) अपने हितों को पूरा करने और दूसरे वर्गों पर अपना प्रभुत्व क्रायम करने के लिए राज्य का उपयोग करता है। असल में, मार्क्स के लेखन में पूँजीवादी राज्य के बारे में दो तरह के विचार मिलते हैं। आम तौर पर पहले सिद्धांत की ज्यादा चर्चा होती जिसका वर्णन कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो (1848) में किया गया है। इसके अनुसार, 'आधुनिक राज्य की कार्यपालिका पूरे बूर्जवा मामलों का प्रबंधन करने वाली समिति है।' यहाँ राज्य को शासक वर्ग के एक यंत्र के रूप में देखा गया है। यानी पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों का इस पर आधिपत्य होता है। इस तरह मार्क्स उदारतावादी राज्य के बुनियादी विचार को खारिज करते हैं कि राज्य समाज के सभी लोगों के हितों के बारे में तटस्थ और निष्पक्ष रूप से फैसला करता है।

लेकिन मार्क्स ने *एट्रीथ ब्रूमेर ऑफ़ लुई बोनापार्ट* (1852) में राज्य के बारे में दूसरा दृष्टिकोण भी पेश किया है। इसमें मार्क्स ने 1848 से 1851 के बीच फ्रांस की क्रांतिकारी घटनाओं का परीक्षण करते हुए तर्क दिया है कि 'राज्य सापेक्षिक रूप से स्वायत्त' होता है। इसका अर्थ यह है कि राज्य समाज पर अपनी इच्छा थोपने में समर्थ है। मार्क्स के अनुसार इसका कारण यह था कि फ्रांस में बोनापार्टवाद बूर्जवा के एक हिस्से और सर्वहारा के एक हिस्से के बीच अवसरवादी और लोकलुभावनवादी गठजोड़ था। इसका मुख्य लक्ष्य अपने शासन के लिए वैधता हासिल करना था। इसने यह दिखाया कि यदि समाज में वर्ग-शक्तियों के बीच स्पष्ट संतुलन हो तो राज्य की स्वायत्तता हासिल की जा सकती है। राज्य ऐसी स्थिति में अपनी इच्छा थोपने में समर्थ होता है। मार्क्स का यह दृष्टिकोण उनके पहले दृष्टिकोण से अलग है। यहाँ राज्य प्रभुत्वशाली वर्ग का यंत्र नहीं है, बल्कि उसे कुछ स्वायत्तता भी मिली हुई है। लेकिन राज्य की स्वायत्तता असीम नहीं होती। उसे सिर्फ आंशिक स्वायत्तता ही मिली होती है। राज्य आपस में होड़ करने वाले वर्गों के बीच मध्यस्थता करता है। इस तरह, यह वर्गों के अस्तित्व को भी क्रायम रखता है।

मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात पर जोर दिया है कि पूँजीवाद की समाप्ति के साथ पूँजीवादी राज्य भी खत्म हो

जाएगा और सर्वहारा की तानाशाही स्थापित होगी। स्पष्टतः मार्क्स ने यह माना कि राज्य एक ऐसा यंत्र (या साधन) है जिसके द्वारा आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली वर्ग दूसरे वर्गों का दमन कर सकता है। इसलिए हर राज्य वर्ग-तानाशाही का उदाहरण है। यहाँ सर्वहारा के फ़ायदों का मतलब यह है कि क्रांति के फ़ायदों का सुरक्षित रखा जाए और बूर्ज्वा वर्ग की प्रति-क्रांति को रोका जाए। लेनिन ने बोल्शेविक क्रांति के बाद सोवियत यूनियन की आवश्यकताओं और अनुभवों के आधार पर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के विचार को ज़्यादा स्पष्टता प्रदान की। उन्होंने *स्टेट ऐंड रेवोल्यूशन* (1917) में इस 'संशोधनवादी' विचार का विरोध किया बूर्ज्वा राज्य को सुधारा जा सकता है। उन्होंने मार्क्सवाद के भीतर इस विचार को पूरी तरह स्थापित करने की कोशिश की कि बूर्ज्वा राज्य को उखाड़ फेंकना ही एकमात्र विकल्प है। उन्होंने मार्क्सवाद में लोकतांत्रिक केंद्रवाद के आधार पर पार्टी के गठन का विचार जोड़ा और पार्टी की भूमिका को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया। उनके अनुसार क्रांति के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी जिसमें पूँजीवादी शासन के दौरान मौजूद कुछ ख़ास संस्थाओं को हटाया जाएगा और इनकी जगह ऐसी संस्थाएँ स्थापित होंगी जो लोगों को राज्य-सत्ता के प्रयोग में समर्थ बनाएँगी। जैसे-जैसे लोग खुद राज्य-सत्ता उपयोग करने लगेंगे, वैसे-वैसे राज्य-सत्ता की आवश्यकता और भूमिका कम होती जाएगी।

लेनिन के बाद स्तालिन ने यह सिद्धांत स्थापित करने की कोशिश की कि राज्य सिर्फ़ अल्पसंख्यक या बहुसंख्यक के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करता है, बल्कि इसमें हर किसी का हित शामिल है। इस तरह स्तालिन ने राज्य और इसके फ़ैसलों को सर्वोच्च बना दिया। लेनिन की निगाह में यह ख़तरा मौजूद था कि सर्वहारा की तानाशाही पार्टी की तानाशाही में तब्दील हो सकती है। स्तालिन ने अपने शासन द्वारा इस आशंका को सही साबित किया। दूसरे देशों में भी जहाँ पार्टी को केंद्र में रख कर मार्क्सवादी क्रांति की गयी, वहाँ क्रांति के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही व्यवहार में कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही बन गयी। इसने असहमति की अभिव्यक्ति को असम्भव बना दिया। कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा शासित देशों में इसके कारण व्यापक हिंसा और राजकीय दमन हुआ।

पारम्परिक रूप से मार्क्सवाद के भीतर राज्य को दमन या बल-प्रयोग से जोड़ा जाता रहा है। इटली के मार्क्सवादी चिंतन एंतोनियो ग्राम्शी ने मार्क्सवाद में एक नये विचार की शुरुआत की। उनके अनुसार शासक वर्ग सिर्फ़ दमन या बल-प्रयोग द्वारा अपना प्रभुत्व क़ायम नहीं रखता है। इसके लिए वह विचारधारात्मक औज़ारों का भी प्रयोग करता है। वह बल-प्रयोग से ही अपना काम नहीं चलाता, बल्कि वर्चस्व

की रचना भी करता है। वर्चस्व द्वारा शासक वर्ग उन वर्गों की सहमति हासिल करता है जिस पर उसे प्रभुत्व क़ायम रखना है। शिक्षा और जनसंचार माध्यम इसमें मदद करते हैं। इन्हें विचारधारात्मक राज्य-तंत्र की भी संज्ञा दी जा सकती है। ग्राम्शी ने स्पष्ट किया कि राज्य और शासक वर्ग कई दफ़ा शासित वर्गों की बहुत सी माँगों को स्वीकार करते हैं। शासितों को यह अहसास दिलाया जाता है कि राज्य के काम पूरी तरह उनके हित में भी हैं। इस तरह ग्राम्शी ने राज्य के मार्क्सवादी विश्लेषण में एक नया आयाम जोड़ा।

फ्रांसीसी विद्वान् लुई अलथुसे ने विचारधारात्मक राज्य-तंत्र और दमनकारी राज्य-तंत्र का विचार विकसित किया। अलथुसे संरचनावादी हैं। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि विचारधारात्मक राज्य-तंत्र और दमनकारी राज्य-तंत्र दोनों ही शासक वर्ग के हितों के अनुरूप व्यवस्था बनाये रखने का काम करते हैं। ये दोनों साधन या तरीक़े अलग-अलग होने के बावजूद आपस में जुड़े हुए हैं। पहला, दमनकारी राज्य-तंत्र है, जिसमें क़ानून, न्यायालय, पुलिस, सेना और राज्य की दूसरी संस्थाएँ शामिल हैं। यदि कोई व्यक्ति राज्य के निर्देशों का पालन नहीं करता है तो उस पर जुर्माना लगाकर या उसे जेल भेजकर सज़ा दी जाती है। दूसरा विचारधारात्मक राज्य-तंत्र है जो ताक़त की बजाय विचारधारा के माध्यम से काम करता है। इसमें वे क्षेत्र शामिल हैं, जहाँ हम अपने व्यक्तिगत विचार और आज्ञादी हासिल करते हैं और उनका प्रयोग करते हैं। अलथुसे स्पष्ट करते हैं कि दमनकारी राज्य-तंत्र सिर्फ़ बल-प्रयोग पर ही आधारित नहीं होता, बल्कि उसे भी विचारधारा की मदद लेनी पड़ती है। मसलन, सेना, न्यायालय आदि भी एक स्तर पर किसी ख़ास विचारधारा के अनुरूप ही काम करते हैं। इसी तरह विचारधारात्मक राज्य-तंत्र के अंतर्गत आने वाली संस्थाओं, मसलन चर्च, स्कूल आदि में सिर्फ़ विचारधारा का प्रयोग नहीं होता है बल्कि इसमें समय-समय पर बल प्रयोग भी किया जाता है (जैसे कि स्कूल में मिलने वाली सज़ा; चर्च द्वारा दी जाने धार्मिक सज़ा आदि)। अलथुसे वैचारिक राज्य-तंत्र में शिक्षा की भूमिका को काफ़ी महत्वपूर्ण मानते हैं। ग्राम्शी के विपरीत वे इसे सिर्फ़ मानक, मूल्यों, समाज की संकल्पना आदि के विकास से ही नहीं जोड़ते हैं, बल्कि उनका मानना है कि यह श्रम-विभाजन में संजीदा भूमिका अदा करता है। अर्थात् यह विशिष्ट लोगों को विशिष्ट श्रम के लायक बनाता है।

बहरहाल, ग्राम्शी की तरह अलथुसे भी मानते हैं कि कोई भी शासक वर्ग तभी अपना वर्चस्व क़ायम रख सकता है जब वह दमनकारी राज्य-तंत्र और विचारधारात्मक राज्य-तंत्र, दोनों पर अपना नियंत्रण रखे। ग्राम्शी की तरह ही वे भी मानते हैं कि विचारधारात्मक स्तर पर शासक वर्गों को चुनौती

देना आवश्यक है। अलथुसे और ग्राम्शी के विचारों में कुछ समानताएँ होने के बावजूद यह स्पष्ट है कि अलथुसे ने संरचनावादी के रूप में अपने विचार व्यक्त किये और व्यक्ति की बजाय संरचनाओं की भूमिका को ज्यादा तरजीह दी। उन्होंने प्रस्तावित किया कि मार्क्स की उत्पादन प्रणाली की अवधारणा में तीन विशिष्ट संरचाएँ या स्तर होते हैं (आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक)। ये तीनों नज़दीकी रूप से और आंतरिक तौर पर जुड़ कर उत्पादन प्रणाली की मैट्रिक्स का निर्माण करते हैं। किसी सामाजिक व्यवस्था में आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक में से कोई भी प्रभुत्वशाली राजनीतिक संरचना हो सकती है, लेकिन आर्थिक संरचना हमेशा यह तय करती है कि इन तीनों में से कौन सबसे प्रभुत्वशाली होगा।

निकोस पोलांत्साज़ ने अलथुसे द्वारा मार्क्स की संरचनावादी व्याख्या का प्रयोग राज्य के अध्ययन के लिए किया। यह भी उल्लेखनीय है कि पोलांत्साज़ की पहली रचना और दूसरी रचना के बीच में उनके विचारों में बदलाव आया। उनकी पहली किताब *पॉलिटिकल पावर ऐंड सोशल क्लासेज़* 1968 में प्रकाशित हुई थी और दूसरी *स्टेट पावर ऐंड सोशललिज़म* 1978 में। पहली किताब पूरी तरह से संरचनावादी थी। इसमें राज्य वर्ग-संरचना का पुनरुत्पादन करता दिखाया गया है, क्योंकि यह राजनीतिक क्षेत्र में आर्थिक वर्ग संबंधों की अभिव्यक्ति होता है। इसलिए राज्य का स्वरूप और कार्य वर्ग संबंधों की संरचना से तय होता है। अपने इस शुरुआती काम में पोलांत्साज़ यह भी तर्क देते हैं कि हीगेलवादी आदर्श की तरह कोई सर्वसमावेशी और समयातीत राज्य नहीं होता है। विशिष्ट उत्पादन प्रणाली के अनुसार ही राज्य भी होता है, जैसे कि पूँजीवादी राज्य, सामंती राज्य आदि। इसके अलावा अपनी इस किताब में वे अलथुसे के इस विचार का भी प्रयोग करते हैं कि राजनीति और अर्थशास्त्र को 'सापेक्षिक स्वायत्तता' (रिलेटिव ऑटोनॉमी) मिली होती है। इसकी मदद से वे तर्क देते हैं कि पूँजीवादी राज्य वर्गीय राज्य है और निश्चित तौर पर इसे प्रभावकारी तरीके से काम करने के लिए उत्पादन में होने वाले वर्ग-संघर्ष से सापेक्षिक रूप से स्वायत्त होना चाहिए। इस तर्क के अनुसार पूँजीपति वर्ग कई धड़ों में बँटा होता है और इनमें से जिस समूह का वर्चस्व है, उसके संगठन के रूप में सापेक्षिक रूप से स्वायत्त राज्य एक ऐसे स्थान के रूप में होता है, जो कई धड़ों में बँटे पूँजीपति वर्ग के वर्चस्व वाले समूह के संगठन के रूप में होता है। मजदूरों का संघर्ष केवल उसी सीमा तक राज्य को प्रभावित करता है, जिस सीमा तक वह उत्पादन में वर्ग-संबंधों का भाग होता है।

पोलांत्साज़ के इस लेखन की बहुत सारे स्तरों पर आलोचना हुई। इस संदर्भ में *न्यू लेफ्ट रिव्यू* में, 1969-70 में

रॉल्फ़ मिलिबैंड और पोलांत्साज़ के बीच हुए वाद-विवाद का मार्क्सवाद के भीतर महत्वपूर्ण स्थान है। मिलिबैंड ने 1969 में प्रकाशित अपनी किताब *द स्टेट इन कैपिटलिस्ट सोसायटी* में पोलांत्साज़ द्वारा प्रस्तुत राज्य के बहुलवादी मॉडल की आलोचना की। इसमें उन्होंने पूँजीवादी वर्ग-समाज में राज्य की भूमिका के बारे में मार्क्सवादी विचार का अपना संस्करण पेश किया। अमूमन मिलिबैंड के नज़रिये को यांत्रिकवाद (इंस्ट्रुमेंटलिज़म) और पोलांत्साज़ के नज़रिये को संरचनावाद (स्ट्रक्चरलिज़म) की संज्ञा दी जाती है। मिलिबैंड पोलांत्साज़ द्वारा प्रस्तुत बहुलवादी मॉडल की आलोचना करते हुए कहते हैं कि पूँजीवादी वर्ग के सदस्यों की राज्य-तंत्र और सरकार में सीधी भागीदारी होती है। इस कारण राज्य बूज्वा हितों से सीधे बँधा होता है और उन्हीं हितों को अभिव्यक्त करता है। पोलांत्साज़ ने इसकी आलोचना करते हुए कहा कि बूज्वा वर्ग और राज्य के बीच वस्तुनिष्ठ संबंध होता है। इसका अर्थ यह है कि यदि राज्य के कार्य सामाजिक व्यवस्था को तय करते हैं और इस सामाजिक व्यवस्था में प्रभुत्वशाली वर्ग का हित राज्य के हितों से मिलता है, तो यह इस व्यवस्था का एक बन जाता है। ऐसे में शासक वर्ग के सदस्यों की राज्य-संयंत्र में सीधी भागीदारी इस वस्तुनिष्ठ संबंध का कारण नहीं होती है, बल्कि इसका प्रभाव होती है। इसके जवाब में मिलिबैंड ने यह तर्क दिया कि शासक वर्ग की अवधारणा की जगह वस्तुनिष्ठ संरचना और वस्तुनिष्ठ संबंधों की अवधारणा लाने का मतलब यह है एक ख़ास तरह का 'संरचनात्मक निर्धारणवाद' या 'संरचनात्मक अति निर्धारणवाद' लाना। इन दोनों के बीच चली इस बहस के संदर्भ में मार्टिन कॉरनॉय ने यह तर्क दिया है कि असल में दोनों के ही लेखन में यांत्रिक या निर्धारणवादी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं। इसलिए किसी एक को यांत्रिकवादी और दूसरे को संरचनावादी कहना ठीक नहीं है।

बहरहाल, इस वाद-विवाद और दूसरे कई तरह के विचारों के सामने आने के बाद पोलांत्साज़ ने अपने विचारों में थोड़ा संशोधन किया। अपने बाद के काम में पोलांत्साज़ ने संरचनावादी राज्य के विचार को छोड़ दिया। इसकी जगह, उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि राज्य का स्वरूप खुद वर्ग-संघर्ष द्वारा तय होता है। 1973 में पोलांत्साज़ ने यह तर्क दिया कि सामाजिक वर्गों और राज्य के बीच अलग तरह का संबंध होता है, जो कि पूँजीवादी विकास के चरण पर निर्भर करता है। इसलिए पूँजीवादी उत्पादन संबंधों में बदलाव राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप को तय करता है। पूँजीवादी राज्य की 'संरचना' कोई 'संरचना' नहीं होती है। इसके बजाय, यह संरचनाएँ वर्ग-संघर्ष और इसके कारण पूँजीवादी उत्पादन में होने वाले बदलावों से तय होती हैं। *स्टेट, पावर ऐंड सोशललिज़म* में वे राज्य की 'सापेक्षिक स्वायत्तता को द्वंद्वत्मक बना देते हैं। इस दलील के मुताबिक राज्य-तंत्रों के भीतर वर्ग-संघर्ष की सम्भावना होती है क्योंकि 'स्वायत्तता' के

भीतर ही विरोधाभास निहित होता है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि ये विरोधाभास और सामाजिक आंदोलन राज्य का स्वरूप तय कर रहे हैं।

मिलिबैंड-पोलांत्साज़ वाद-विवाद ने उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी-लोकतांत्रिक राज्यों में राज्य के विश्लेषण का नया आयाम खोला। मसलन, भारत में कई विद्वानों ने राज्य की सापेक्षिक स्वायत्तता को आधार बनाकर भारतीय राज्य की प्रकृति का विश्लेषण करने की कोशिश की। उल्लेखनीय है कि सोवियत संघ के पतन के बाद कई मार्क्सवादी पार्टियाँ राज्य के प्रति दोहरा रवैया अपना रही हैं। एक ओर वे राज्य के नव-उदारवादी एजेंडे और उसके बढ़ते दमनकारी स्वरूप का विरोध कर रही हैं, वहीं दूसरी ओर उनका इस बात पर जोर है कि राज्य गरीबों और हाशिये के समूहों की भलाई के लिए सक्रियता से काम करे। यह कहा जा सकता है कि सैद्धांतिक स्तर पर मार्क्स-एंगेल्स और लेनिन ने एक समय के बाद राज्य के धीरे-धीरे ख़त्म हो जाने की कल्पना की थी, लेकिन क्रांति के बाद सोवियत यूनियन और चीन जैसे राज्यों में क्रांति को सुरक्षित रखने में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया गया। बाद के दौर में मार्क्सवाद के भीतर राज्य में विभिन्न समूहों की भूमिका, राज्य द्वारा शोषित या सर्वहारा समूहों को नियंत्रित करने की तकनीक और राज्य के स्वायत्त होने की सम्भावनाओं पर भी गम्भीरता से विचार-विमर्श होता रहा है।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रैंज़ फ़ानो, हिंसा, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, रॉबर्ट ओवेन, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबरेशन थियोलॉजी, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमो, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. मार्टिन कारनॉय (1984), *द स्टेट ऐंड पॉलिटिकल थियरी*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, न्यू जर्सी।
2. वी.आई. लेनिन (1917), *स्टेट ऐंड रिवोल्यूशन*, कलेक्टेड वर्क्स, फ़ॉरैन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, माँस्को।
3. बॉब जेशॉप (1982), *द कैपिटलिस्ट स्टेट : मार्क्सिस्ट थियरीज़ ऐंड मेथड्स*, मार्टिन रॉबर्टसन, न्यूयॉर्क युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क।

— कमल नयन चौबे

राज्यों का पुनर्गठन-1

(भारत के आंतरिक भूगोल की नयी कल्पना)

(Reorganisation of States-1)

प्रदेशों का भू-क्षेत्रीय पुनर्गठन एक ऐसी युक्ति है जिसके माध्यम से भारतीय राज्य कई लक्ष्यों को वेधने में सफल रहा है। पहले 1956 से 1966 के बीच भारत में दो बार नये राज्यों का गठन हुआ। इस प्रक्रिया का आधार आम तौर पर भाषाई समरसता को बनाया गया था। उसके बाद तीसरे दौर में उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में नये राज्य बने जिनके पीछे सीमाई इलाक़े से जुड़े हुए वे सरोकार थे जिनका राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न से सीधा ताल्लुक था। चौथे दौर में झाड़खण्ड और छत्तीसगढ़ जैसे आदिवासी राज्यों और उत्तराखण्ड जैसे पहाड़ी राज्य का गठन किया गया। इस घटनाक्रम के फलस्वरूप भारतीय संघ के केंद्राभिमुख चरित्र में संघात्मकता के विविध पहलुओं का समावेश हुआ। क्षेत्रीय आधार पर चल रहे अलगाववादी आंदोलनों की धार कुंठित हुई। सांस्कृतिक अस्मिताओं को भाषाई आधार मिलने के कारण उनका सेकुलरीकरण हुआ। क्षेत्रीय राजनीति को एक ऐसा रूप मिला जिसके तहत वह धीरे-धीरे नयी दिल्ली में होने वाली राष्ट्रीय राजनीति का सकारात्मक घटक बनने की तरफ़ बढ़ी। नतीजे के तौर पर हद दर्जे की संस्कृति-बहुलता के बावजूद राजनीतिक एकजुटता क्रायम की जा सकी। राज्यों के पुनर्गठन के कारण इस समय भारत व्यावहारिक रूप से एक बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक और बहुजातीय संघ है। प्रत्येक प्रमुख भाषाई समुदाय को राजनीतिक मान्यता मिल चुकी है। विभिन्न जातीय समुदायों को या तो उनके पूर्ण राज्य मिल चुके हैं या फिर उन्हें स्वायत्तशासी परिषद का दर्जा दिया जा चुका है।

उल्लेखनीय है कि राष्ट्र-निर्माण की इतनी कामयाब रणनीति होने के बावजूद भारतीय राज्य और उसके हुक्मरानों ने इसे अपनाने से पहले काफ़ी हिचक और हीले-हवाले का परिचय दिया, बावजूद इसके कि बीस के दशक में कांग्रेस ने न सिर्फ़ आज़ादी के बाद भारत के भाषावार पुनर्गठन को मंजूरी दी थी, बल्कि उसी आधार पर अपना सांगठनिक पुनर्गठन किया था। हर बार जब नये प्रांत बने, तो उसके लिए जबरदस्त आंदोलन चलाने पड़े। लगभग हर आंदोलन का सरकारों ने शुरुआत में दमन किया, और बाद में उनकी माँगों के सामने घुटने टेके। देश के कई इलाक़ों में असंतुलित विकास के तर्क को केंद्र में रख कर एक बार फिर नये राज्य बनाने की माँगें उठ रही हैं। इसके पीछे आग्रह यह है कि छोटे राज्य बेहतर प्रशासन और विकास की गुंजाइश देते हैं। इसी मक़सद से नया राज्य पुनर्गठन आयोग बनाने का सुझाव दिया जा रहा है। कुछ विशेषज्ञों की मान्यता है कि राज्यों के

पुनर्गठन में जो खामियाँ छूट गयी हैं, उन्हें इस नये पुनर्गठन के दौरान दूर किया जा सकता है। दूसरी तरफ़ इस सुझाव के आलोचकों का खयाल है कि राज्यों की सीमाओं में फिर से हेर-फेर करने और छोटे-छोटे नये राज्य गढ़ने से असंतुलित विकास की समस्या हल नहीं होगी।

अंग्रेजों से पहले का भारत 21 प्रशासनिक इकाइयों (सूबों) में बँटा हुआ था। इनमें से कई सूबों की सांस्कृतिक पहचान सुस्पष्ट थी और कुछ में संस्कृतियों का मिश्रण था। लेकिन भारत को अपना उपनिवेश बनाने के बाद अंग्रेजों ने प्रशासनिक सुविधा का खयाल करते हुए मनमाने तरीके से भारत को नये सिरे से बड़े-बड़े प्रांतों में बाँटा। एक भाषा बोलने वालों की भू-क्षेत्रीय समरसता पूरी तरह भंग कर दी गयी। बहुभाषी व बहुजातीय प्रांत बनाये गये। इतिहासकारों की मान्यता है कि भले ही इन प्रांतों को 'फूट डालो और राज करो' के हथकंडे का इस्तेमाल करके नहीं बनाया गया था, पर उनमें अपनी सत्ता टिकाने के लिए अंग्रेजों ने इस फ़ार्मूले का जम कर उपयोग किया।

उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन का पहला दौर अंग्रेजी हुकूमत के इस प्रशासनिक तरीके पर अपनी आपत्ति दर्ज करने में नाकाम रहा। लेकिन, बीस के दशक में जैसे ही गाँधी के हाथ में कांग्रेस का नेतृत्व आया, आज़ादी के आंदोलन की अगुआयी करने वाले अभिजनों को लगा कि जातीय-भाषाई अस्मिताओं पर जोर दे कर वे उपनिवेशवाद विरोधी मुहिम को एक लोकप्रिय जनाधार दे सकते हैं। उल्लेखनीय है कि गाँधी के आगमन से पहले कांग्रेस मुख्यतः प्रतिवेदनों और ज्ञापनों के ज़रिये अंग्रेजों के सामने हुकूमत में अपनी भागीदारी की दावेदारियाँ पेश करती थी। वह मुख्यतः इंग्लैण्ड से पढ़-लिख कर आये लोगों, उदीयमान शहरी अभिजनों, जर्मींदारों और पारम्पिक भद्र वर्गों की पार्टी थी। उसका चरित्र दबाव-गुट जैसा था। इस परिदृश्य को बदल कर आम जनता की पार्टी बनने के लिए कांग्रेस ने अंग्रेजों द्वारा रचे गये 'औपनिवेशिक प्रांत' की जगह खुद को 'प्रदेश' नामक प्रशासनिक इकाई के इर्द-गिर्द संगठित किया।

यह 'प्रदेश' नामक इकाई अपने बुनियादी चरित्र में अधिक लोकतांत्रिक, सांस्कृतिक (जातीय और भाषाई) अस्मिता के प्रति अधिक संवेदनशील और क्षेत्रीय अभिजनों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के प्रति जागरूक थी। इस तरह नये भारत की कल्पनाशीलता को उसका आधार मिला। यह नयी कल्पनाशीलता आश्वासन देती थी कि आज़ाद भारत एक संघात्मक रचना होगी जिसके तहत प्रदेशों को सत्ता में मुनासिब हिस्सेदारी प्राप्त होगी। कांग्रेस के इस पुनर्गठन के बाद राष्ट्रीय आंदोलन भाषाई अस्मिताओं से सुनियोजित पोषण प्राप्त करने लगा। पहले असहयोग आंदोलन की ज़बरदस्त

सफलता के पीछे मुख्य कारण यही था। 1926 के कराची अधिवेशन में कांग्रेस ने राज्यों को अधिक अधिकार देने की जो माँग रखी थी, उसके पीछे यही दूरगामी नज़रिया था कि भविष्य में बनने वाली प्रतिनिधित्वमूलक सरकार को भाषाई आधार पर गठित संघीय ढाँचे की ज़रूरत पड़ेगी। 1928 में मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में बनी कमेटी ने अपनी रपट में आने वाले भारत की जो तस्वीर पेश की वह भाषाई संघवाद के रंगों में ही रँगी हुई थी। आगे चल कर 1946 में कैबिनेट मिशन प्लैन ने भारत के लिए जिस महासंघ की तजवीज़ की उसमें ज्यादातर अधिकार राज्यों के पास थे, और केंद्र को केवल वैदेशिक मामलों, प्रतिरक्षा और संचार की बागडोर दी गयी थी। केंद्र केवल इन्हीं जिम्मेदारियों के निर्वहन के लिए वित्तीय संसाधन उगाह सकता था। कैबिनेट मिशन के इस प्रस्ताव पर कांग्रेस अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू का कहना था कि जैसे ही भारत की नयी संविधान सभा गठित होगी, उनकी पार्टी के लिए इसकी कोई अहमियत नहीं रह जायेगी। इसके जवाब में मुसलिम लीग ने भी यह कह कर कैबिनेट मिशन का प्रस्ताव इस अंदेशे के आधार पर खारिज कर दिया कि नयी संविधान सभा मुसलमान-बहुमत वाले इलाकों के हितों की हिफ़ाज़त करने में नाकाम रहेगी।

कांग्रेस ने उपनिवेशवाद विरोधी गोलबंदी की जो कार्यनीति अपनायी थी वह भाषा आधारित थी, जबकि मुसलिम लीग की राजनीति धर्म-आधारित थी। बंग-भंग के खिलाफ़ चली मुहिम ने एक तरफ़ तो भाषाई आधार पर होने वाली एकजुटता की स्थापना की थी, तो दूसरी तरफ़ इसी प्रक्रिया ने धार्मिक अस्मिताओं का राजनीतीकरण भी कर दिया था। अंग्रेजों ने जब जन-असंतोष के दबाव में विभाजन वापिस लिया तो पूर्वी बंगाल के मुसलमान अभिजनों को लगा कि अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक हितों का तन्हा मालिक बनने का मौक़ा उनके हाथ से चला गया है। कांग्रेस भाषा आधारित एकता की पैरोकार बनी। मुसलिम लीग और हिंदू संगठन धार्मिक एकता के पक्षधर हो गये।

स्वातंत्र्य-पूर्व राजनीति के इस आख्यान का उपसंहार धार्मिक आधार पर देश के दुखद और रक्तरंजित विभाजन में हुआ। कांग्रेस के प्रमुख नेताओं को लगा कि देश के विभाजन की प्रक्रिया इसी जगह नहीं रुकेगी। अगर उन्होंने विभिन्न राजनीतिक अस्मिताओं (जिनमें भाषाई अस्मिता प्रमुख थी) पर जोर देना जारी रखा तो मुल्क के कई टुकड़े हो जाएँगे। खुद जवाहरलाल नेहरू इस तरह के अंदेशों के सबसे ज्यादा शिकार थे। नतीजे के तौर पर एक बहु-सांस्कृतिक भारतीय संघ बनाने के विचार को ज़बरदस्त ठेस लगी। बहुलतावाद के प्रति प्रतिबद्धता और प्रदेशों को अधिकार देने के वायदे के बावजूद कांग्रेस ने देश की अखण्डता और एकता के पहलू

को ज्यादा प्राथमिकता दी। नेहरू को यह तो लगता था कि देश के आंतरिक भूगोल का कुछ न कुछ पुनर्गठन तो जरूर करना पड़ेगा, पर वे सिर्फ भाषा के बजाय अन्य सांस्कृतिक, भौगोलिक और आर्थिक आधारों पर करना चाहते थे।

संविधान सभा ने एक विशेष कमेटी बना कर भाषावार प्रदेशों के प्रस्ताव की जाँच की। डार आयोग (17 जून, 1948) के नाम से मशहूर इस कमेटी से नतीजा निकला कि भाषा को आधार बना कर अगर प्रदेशों की रचना की गयी तो यह राष्ट्र के बृहत्तर हित में नहीं होगा। डार आयोग की रपट का विश्लेषण करने के लिए बनी कांग्रेस की एक समिति (जिसके सदस्य नेहरू, पटेल और पट्टाभि सीतारमैया थे) ने सुझाव दिया कि फ़िलहाल नये राज्यों के गठन के लिए यह सही समय नहीं है। इसे टालना चाहिए, क्योंकि अभी विभाजन के फ़ौरन बाद लोगों के जज़्बात भड़के हुए हैं, हालाँकि यह कमेटी कुछ शर्तों पर आंध्र प्रदेश के पुनर्गठन के लिए तैयार थी।

इस पृष्ठभूमि से समझा जा सकता है कि जब देश की सामाजिक संरचना संघात्मकता के प्रबल आग्रहों की माँग कर रही थी तो उसके बावजूद शुरुआती अवधि में उसकी संस्थागत अभिव्यक्तियाँ क्यों कमजोर रहीं। डॉ. आम्बेडकर ने संविधान का मसविदा-दस्तावेज़ पेश करते हुए पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि वे पूरे देश के लिए एक ही नागरिकता का प्रावधान करने जा रहे हैं। लोग केवल भारत के ही नागरिक हो सकते हैं, प्रदेशों की अलग से नागरिकता के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। संविधान ने अपने अनुच्छेद 5, 11, 14, 15, 44, 131-41 और 312 से भी साफ़ कर दिया कि भारतीय राज्य संघात्मक होते हुए भी केंद्राभिमुख है। अनुच्छेद 365 के तहत संघीय संसद और कार्यपालिका को राज्यों के बरक्स सभी मामलों में बढ़ोतरी दी गयी है। चाहे राज्यों की सूची में दर्ज मामलों के बारे में क़ानून बनाने का सवाल हो, राज्यपालों की नियुक्ति और बर्खास्तगी का मुद्दा हो या राज्यों के हाई कोर्टों में जजों की नियुक्ति का प्रश्न हो, भारतीय राज्यतंत्र केंद्र की तरफ़ पूरी तरह से झुका हुआ है।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंग, पंजाब, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मणिपुर, मिज़ोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, बिहार, राजस्थान, राज्यों की राजनीति, संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. माया चड्ढा (2002), 'इंटीग्रेशन थ्रू इंटरनल रिऑर्गनाइज़ेशन : कंटेनिंग एथनिक कॉन्फ़्लिक्ट इन इण्डिया', *द ग्लोबल रिव्यू ऑफ़ एथनिक पॉलिटिक्स*, खण्ड 2, अंक 1.
2. आशीष बनर्जी (1992), 'फ़ेडलरिज़म ऐंड नैशनलिज़म', निर्मल

- बनर्जी और बलवीर अरोड़ा (सम्पा.), *फ़ेडरलिज़म इन इण्डिया: ओरिजिन ऐंड डिवेलपमेंट*, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. रशीदुद्दीन खान (1992), *फ़ेडरल इण्डिया: अ डिज़ाइन फ़ॉर चेंज*, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
 4. रजनी कोठारी (1988), 'इंटीग्रेशन ऐंड एक्सक्लूज़न इन इण्डियन पॉलिटिक्स', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीक्ली*, खण्ड 23, अंक 43.

— अभय कुमार दुबे

राज्यों का पुनर्गठन-2

(संघवाद का भाषाई आधार)

(Reorganisation of States-2)

सन् 1950 में पारित हुए संविधान में केंद्राभिमुख प्रवृत्तियाँ तो थीं, लेकिन साथ में वह देश के आंतरिक भूगोल को बदलने की सुविधा भी प्रदान करता था। भारतीय संघवाद पर टिप्पणी करते हुए एल्फ्रेड स्तेपान ने संविधान के अनुच्छेद 3 के बारे में कहा है कि इसके प्रावधान 'जीवंत राजनीतिक बहुराष्ट्रीयता' से सम्पन्न भारत जैसे देश के लिए काफ़ी उपयोगी हैं। संविधान अपने अनुच्छेद 3 के तहत केंद्रीय संसद को नये राज्य बनाने का ऐसा अधिकार देती है जो अन्य देशों का संविधान नहीं देता। राज्यों की सीमाओं में फ़ेर-बदल करने के लिए संसद को दो-तिहाई बहुमत की भी नहीं बल्कि साधारण बहुमत की ही आवश्यकता है। नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस के अंदेशों के कारण राज्यों का पुनर्गठन टल ज़रूर गया, पर पहले आम चुनाव (1952) के दो साल बाद ही नेहरू की ही सरकार को पहले राज्य पुनर्गठन आयोग का गठन करना पड़ा। जिसके बाद अनुच्छेद 3 के तहत मिली शक्तियों का इस्तेमाल करके भारतीय संसद ने एक नहीं बल्कि चार-चार बार नये राज्यों का निर्माण किया।

1947 में आज़ादी मिलते ही मद्रास के तमिलभाषी हिस्सों से अलग करके तेलुगुभाषी ज़िलों को मिला कर पृथक् आंध्र प्रदेश गठित करने की माँग होने लगी थी। कांग्रेस का स्थानीय नेतृत्व इस माँग का समर्थन करने के लिए मजबूर था। 1949 में एक प्रस्ताव पार करके केंद्र से यह अनुरोध भी कर चुका था। लेकिन केंद्रीय नेतृत्व को यह डर था कि अगर आंध्र प्रदेश बनाने की माँग मान ली तो फिर उसी तर्ज पर दूसरी माँग उठने लगेंगी, और देश की पहले से ही कमजोर एकता साँस में पड़ जायेगी। एक तरह से उसका अंदेशा सही

था। जल्दी ही तेलुगुभाषियों से प्रेरणा पा कर जगह-जगह भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की आवाज़ उठने लगी। कांग्रेस आलाकमान ने अपनी प्रादेशिक इकाइयों को आदेश दिया कि वे कहीं भी भाषाई आंदोलन में भागीदारी न करें जिसके कारण कांग्रेस-कार्यकर्ता दो भागों में बँट गये। दूसरी पार्टियाँ इन आंदोलनों में जम कर भागीदारी कर रही थीं।

तत्कालीन स्थिति के लिहाज़ से देश उस समय चार तरह के प्रदेशों में बँटा हुआ था। अश्रेणी के राज्यों में वे प्रांत थे जिन्हें ब्रिटिश भारत का सदस्य माना जाता था (असम, बिहार, बम्बई, मद्रास, ओडीशा, पंजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल)। बी श्रेणी के राज्यों में वे प्रांत थे जो देशी रियासतों के भारत में विलय के कारण बने थे (हैदराबाद, जम्मू और कश्मीर, मैसूर, राजस्थान, सौराष्ट्र, मध्य भारत और ट्रावणकोर कोचीन)। सी श्रेणी में अजमेर, भोपाल, नयी दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, मणिपुर और त्रिपुरा के इलाक़े थे जिन पर पहले मुख्य आयुक्त का प्रशासन चलता था। डी श्रेणी में अंडमान और निकोबार द्वीप था। पहली नज़र डालते ही साफ़ हो जाता था कि देश का यह भौगोलिक गठन किसी सुसंगत भू-क्षेत्रीय योजना का फल न हो कर मनमाने क्रिस्म के बँटवारे का नतीजा था।

कांग्रेस की कोशिश यह थी कि राज्यों की सीमाओं का बंदोबस्त कुछ इस तरह से किया जाए कि जातीयता आधारित राष्ट्रीयता को पूरी तरह से नकारते हुए एक बृहत्तर भारतीय नागरिकता में सभी जातीय अस्मिताओं में समावेश की परियोजना सम्पन्न की जा सके। लेकिन आंध्र प्रदेश का गठन करवाने के पक्ष में हुए लोकतांत्रिक जन-उभार के सामने यह रवैया धराशायी हो गया। एक आंदोलनकारी श्रीरामुलु ने अनशन करते हुए अपने प्राण त्याग दिये। उनकी शहादत के सामने सरकार को झुकना पड़ा। 1953 में तेलुगुभाषियों की प्रमुखता वाला आंध्र प्रदेश बनाना पड़ा।

नयी परिस्थिति में राज्यों के पुनर्गठन का प्रश्न पूरी शिद्दत के साथ केंद्र सरकारी का आँखों में झाँकने लगा। महाराष्ट्र, गुजरात और देश के दूसरे इलाक़ों में भी ऐसे ही आंदोलन उठ खड़े हुए। अशांति फैल गयी और जगह-जगह पुलिस को लाठी-गोली का प्रयोग करना पड़ा। 1954 में इस मसले की जाँच करने के लिए राज्य पुनर्गठन आयोग बनाया गया। भाषावार राज्यों के समर्थकों ने इस आयोग के सामने अपने पक्ष में चार मुख्य तर्क रखे : इससे मिले-जुले इलाक़ों के अल्पसंख्यकों की दुश्चिंताएँ दूर हो जाएँगी, क्षेत्रों के भीतरी तनावों की समरसता पैदा होगी जिससे कुल मिला कर राष्ट्रीय एकता को लाभ होगा, एकल भाषा वाले राज्यों को प्रशासनिक पेचीदगियों का सामना नहीं करना पड़ेगा जिससे उनकी दक्षता बढ़ेगी, और अधिक समरूप राजनीतिक

इकाइयाँ बेहतर लोकतांत्रिक शासन का रास्ता साफ़ करेंगी। आयोग के आधार पर 1956 में राज्यों का पुनर्गठन हुआ। चार तरह के इलाक़ों के बजाय देश में केवल राज्य और केंद्रशासित प्रदेश रह गये।

दिवक्रत यह हुई कि इस पुनर्गठन में भी भाषाई आधार को आंशिक मान्यता ही मिल पायी थी। इसलिए एक बार फिर 1960 में जनांदोलन के दबाव के सामने झुकते हुए बम्बई के प्रांत को महाराष्ट्र और गुजरात में बाँटा गया। 1966 में पंजाबी भाषियों का अलग प्रांत बनाने के लिए ज़बरदस्त आंदोलन चला जिसमें दर्शन सिंह फेरूमान ने अनशन करते हुए शहादत दी। परिणामस्वरूप तत्कालीन पंजाब को तीन भागों में विभाजित किया गया : पंजाब, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश। आदिवासियों का अलग प्रांत बनाने के लिए कई दशकों तक झाड़खण्ड मुक्ति मोर्चा ने आंदोलन चलाया। उसकी यह माँग 2000 में पूरी हुई जब बिहार और मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों को मिला कर दो आदिवासी प्रांत झाड़खण्ड और छत्तीसगढ़ गठित किये गये। इसी के साथ अपनी प्रशासनिक उपेक्षा से परेशान उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाक़ों की जनता को भी काफ़ी आंदोलन के बाद अपना अलग प्रांत उत्तराखण्ड मिला।

प्रश्न यह है कि आखिर भाषाई आधार क्या था जिसके नाम पर नये राज्य बनवाने के लिए देश में कई बार इतनी ज्यादा गोलबंदी की गयी? दरअसल केवल वही समुदाय अलग राज्य की माँग कर सके जिनकी भाषाओं को अंग्रेज़ों के जमाने में सरकारी मान्यता मिल चुकी थी। इन भाषाओं का एक हद तक मानकीकरण और साहित्यिक विकास हो चुका था। ये भाषाएँ एक निश्चित भू-क्षेत्र के तहत स्कूली शिक्षा में अपनी उपस्थिति क्रायम कर चुकी थीं। ऐसी भाषाओं के आधार पर बनने वाली राजनीतिक अस्मिता के लिए व्यावहारिक रूप से आवश्यक था कि वह अपने पक्ष में जन-गोलबंदी करके दिखाये। तभी उसे अलग राज्य गठित करने के अधिकार से सम्पन्न किया जा सकता था।

पॉल ब्रास ने दिखाया है कि भारत का भाषाई संघवाद चार नियमों के आधार पर काम करता है : पहला, अलग राष्ट्र बनाने की किसी माँग को स्वीकार नहीं किया जायेगा, क्योंकि संविधान किसी राज्य को अलग होने का अधिकार नहीं देता। केंद्र सरकार उत्तर-पूर्व, पंजाब और कश्मीर में इस तरह की माँगों के खिलाफ़ अर्धसैनिक बलों और फ़ौज का इस्तेमाल करके यह दिखा चुकी है। हाँ, अगर कोई पृथकतावादी माँगें छोड़ता है तो उसके साथ बातचीत के ज़रिये कोई बीच का रास्ता निकाला जा सकता है। साठ के दशक में तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम इसी तरह से मुख्यधारा की पार्टी बन सकी थी। पृथकतावादी कहे जाने

वाले कई नेताओं को अलग होने का माँग छोड़ने के बाद भारतीय राज्य उनके राज्यों के मुख्यमंत्री के रूप में स्वीकार कर चुका है। दूसरा, धार्मिक आधार पर राज्य के गठन की कोई माँग स्वीकार नहीं की जाएगी। पंजाबी भाषा के आधार पर पंजाब के पुनर्गठन में लगने वाली देर के पीछे यही कारण समझा जाता है कि उसका व्यावहारिक मतलब सिक्ख बहुमत वाला राज्य बनाना ही था। जब सरकार ने समझ लिया कि पंजाबी सूबे के लिए चलने वाले नेताओं की भारत के प्रति निष्ठा असंदिग्ध है, तभी वह इसके लिए राजी हुई। तीसरा, केवल अलग भाषाई समुदाय होना ही काफी नहीं है, उसकी राजनीतिक अभिव्यक्ति भी होनी चाहिए। अगर वह अभिव्यक्ति केवल साहित्यिक और सांस्कृतिक हलकों तक ही सीमित होगी तो उसे भी काफी नहीं माना जाएगा। उसके पीछे आम जनता का समर्थन दिखाना जरूरी है, ताकि नये राज्य के दावे को राजनीतिक वैधता मिल सके। चौथा, अगर किसी इलाके के केवल एक ही भाषाई समुदाय ने अलग राज्य की माँग की है तो उसे नहीं माना जायेगा। मद्रास प्रांत को इसलिए जल्दी पुनर्गठित कर दिया गया क्योंकि वहाँ तेलुगुभाषी और तमिलभाषी दोनों ही इस पक्ष में थे। बम्बई के पुनर्गठन में देर लगी क्योंकि यह माँग केवल मराठी बोलने वाले कर रहे थे और गुजराती बोलने वाले इस पक्ष में नहीं थे।

भाषाई राज्य बनने के बाद उनके भीतर के भाषाई अल्पसंख्यकों की स्थिति का प्रश्न अभी तक नहीं सुलझ पाया है। मसलन, असम में पहले बांग्लाभाषियों का बोलबाला था जिसके कारण असमी से भेदभाव होता था। जब असमियों के हाथ में राज्य का नियंत्रण आया तो बांगालियों के साथ भेदभाव होने लगा। इसी तरह उत्तर प्रदेश और बिहार में हिंदी के बोलबाले के कारण उर्दू की और उर्दू में शिक्षा के प्रश्न पर भेदभाव की स्थिति बनी रहती है। पंजाब और हरियाणा की सरकारें तो मानती ही नहीं कि उनके यहाँ कोई अल्पसंख्यक भाषाई समुदाय भी हैं। भाषावार राज्यों में रहने वाले भाषाई अल्पसंख्यकों का संघर्ष संविधान के अनुच्छेद 350ए को लागू करवाने का है जिसके मुताबिक हर बच्चे को प्राथमिक शिक्षा के दौरान अपनी मातृभाषा में पढ़ने का अधिकार है।

जाहिर है कि भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की भी कुछ सीमाएँ हैं। लेकिन ये सीमाएँ उन लाभों के मुकाबले बहुत हल्की हैं जो इस पुनर्गठन के कारण भारतीय राज्य को हुए हैं। जवाहरलाल नेहरू और कांग्रेस के तत्कालीन नेतृत्व को लगता था कि भाषाई अस्मिता देश की एकता कमजोर कर सकती है। यह पूरी तरह से ग़लत साबित हुआ है। इस पुनर्गठन ने तो देश के राजनीतिक मानचित्र को तर्कसंगत बना दिया है।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मणिपुर, मिज़ोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, बिहार, राजस्थान, राज्यों की राजनीति, संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. पॉल ब्रास (1990), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ इण्डिया सिंस इण्डिपेंडेंस*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. राजीव भार्गव (2006), 'दि इवोल्यूशन ऐंड डिस्टिक्टिवनेस ऑफ़ इण्डियाज़ लिग्विस्टिक फ़ेडरलिज़म', डेविड टर्टन (सम्पा.), *एथनिक फ़ेडरलिज़म*, जेम्स करी, ऑक्सफ़र्ड.
3. संजीव बरुआ (2010), 'रीज़नलिज़म ऐंड ससेशनलिज़म', संकलित : नीरजा गोपाल जयल और प्रताप भानु मेहता (सम्पा.), *द ऑक्सफ़र्ड कम्पेनियन टु पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. एल्फ्रेड स्तेपान (2001), *आरगुइंग कम्पेरेटिव पॉलिटिक्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

राज्यों का पुनर्गठन-3

(छोटे राज्यों का तर्क)

(Reorganisation of States-3)

सन् 1953 से 1966 के बीच भाषाई राज्यों की संरचना का दौर पूरा हो जाने के कुछ ही वर्ष बाद देश के आंतरिक भूगोल को नये सिरे से रचने की माँग फिर शुरू हो गयी। हालाँकि कुछ माँगों का स्वर जातीयतावादी भी था, पर इस बार उसके पीछे भाषा का तर्क न हो कर मुख्य तौर पर बेहतर प्रशासन और विकास की दलील थी। इसके मुताबिक कहा जा रहा था कि अगर राज्य आकार में छोटे होंगे तो इस लक्ष्य को आसानी से वेंधा जा सकता है। राज्य पुनर्गठन की अभी तक चली प्रक्रिया के तहत राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक-भाषाई समरसता तो कमोबेश हासिल कर ली गयी थी, पर क्षेत्रीय संगठन के अन्य मानकों को अनदेखा किया गया था। प्रदेशों के आकार, विकास के स्तर, प्रशासनिक सुविधा, सामाजिक समरूपता और राजनीतिक तर्क पर ध्यान न के बराबर दिया गया था।

साठ के दशक में उत्तर प्रदेश की आबादी साढ़े सात करोड़ थी और दुनिया की सबसे बड़ी प्रशासनिक इकाई के

रूप में वह एक बेहद अप्रबंधनीय और बेडौल आकार का राज्य था। उसका पहाड़ी इलाका लगातार विकास की कमी की ओर ध्यान खींचता रहता था। इसी तरह मध्य प्रदेश चार ऐतिहासिक रूप से अलग-अलग क्रिस्म के क्षेत्रों से गठित किया गया था। बिहार और मध्य प्रदेश के आदिवासी इलाकों में अपने अलग राज्य की राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ मौजूद थीं। आंध्र प्रदेश बना कर तेलुगुभाषियों की माँग तो पूरी हो गयी थी, पर यह राज्य एक हद तक विकसित तटीय इलाके और तेलंगाना जैसे बेहद पिछड़े क्षेत्र के जोड़ से बना था। तेलंगाना की शिकायत थी कि उसकी लगातार उपेक्षा हो रही है। देखते-देखते सत्तर और अस्सी के दशक में छोटे-छोटे कई राज्यों की दावेदारियाँ सामने आ गयीं। पश्चिम बंगाल के उत्तरी इलाके में रहने वाले गोरखाओं ने गोरखालैंड का परचम बुलंद कर दिया, पश्चिम बंगाल और असम के हिस्सों को मिला कर बृहत्तर कूच बिहार की माँग की जाने लगी। महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में उपेक्षा का तर्क देकर अलग प्रांत के लिए आंदोलन होने लगा। उत्तर प्रदेश को तो चार भागों में बाँटने की तजवीज की जाने लगी : पूर्वांचल, बुंदेलखण्ड और हरित प्रदेश और बचा हुआ मध्य उत्तर प्रदेश। राजस्थान के रेतीले इलाकों से मरु प्रदेश बनाने की चर्चा होने लगी। कर्नाटक के कुर्ग क्षेत्र में कोडागु की सुगबुगाहट सुनायी दी। बिहार में अलग मिथिलांचल और अलग भोजपुर के लिए गोलबंदी की कोशिशें शुरू हो गयीं।

विशालकाय राज्यों को विभाजित करके छोटे राज्य बनाने के तर्क को सबसे ज्यादा बल सन् 2000 में मिला जब संसद ने तीन नये राज्य बनाने का प्रस्ताव पारित किया। बिहार और मध्य प्रदेश के आदिवासी इलाकों का पुनर्गठन करके झाड़खण्ड और छत्तीसगढ़ की रचना की गयी। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्र को उत्तराखण्ड के नाम से अलग प्रांत बना दिया गया। इन राज्यों के पीछे भी लम्बे अरसे तक की गयी राजनीतिक गोलबंदी थी। आदिवासियों का अलग प्रदेश बनाने के एजेंडे के साथ झाड़खण्ड मुक्ति मोर्चा कई दशकों तक आंदोलन करता रहा। अलग उत्तराखण्ड बनवाने के लिए पहाड़ों की जनता ने जुझारू आंदोलन चलाया। राज्य पुनर्गठन के इस चौथे दौर के बाद छोटे राज्यों की दलील 2009 में फिर से सामने आयी जब केंद्र सरकार आंदोलनकारी दबाव में अलग तेलंगाना बनाने के प्रस्ताव पर सिद्धांततः सहमत हो गयी। अगस्त 2013 में केंद्र सरकार ने एक अलग तेलंगाना राज्य बनाने का औपचारिक फैसला कर लिया।

एक अनुमान के अनुसार नयी सदी में पहले दशक के अंत तक उत्तर प्रदेश की आबादी 20 करोड़ से थोड़ी ही कम होगी; अर्थात् वह ब्राजील, रूस और पाकिस्तान से भी बड़ी प्रशासनिक इकाई है। इसी तरह महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल और आंध्र प्रदेश फ्रांस और ब्रिटेन से भी बड़े हैं। दूसरी तरफ

सिक्किम में केवल साठ लाख लोग रहते हैं। मिज़ोरम और अरुणाचल प्रदेश की आबादी क्रमशः 11 और 13 लाख है। योजना आयोग के साथ लम्बे अरसे तक जुड़े रहे सार्वजनिक वित्त के विशेषज्ञ एन.जे. कुरियन की मान्यता है कि देश में इस समय अत्यंत विषम आकारों वाले 28 राज्य हैं और इस संख्या को बढ़ा कर 50 तक किया जा सकता है। हर बड़े राज्य को दो या तीन टुकड़ों में बाँटा जाना ताकि हर राज्य की आबादी एक से चार करोड़ के बीच रह जाए।

झाड़खण्ड, छत्तीसगढ़ और उत्तराखण्ड के 2004-5 और 2008-9 के बीच हुए विकास पर अगर निगाह डाली जाए तो पहली नज़र में पलड़ा छोटे राज्यों के पक्ष में झुका हुआ नज़र आता है। स्थापना के तुरंत बाद इन राज्यों के शुरुआती दिक्कतों से ज़रूर जूझना पड़ा, पर इस दौर के गुज़र जाने के बाद ये राज्य औसतन क्रमशः 8.45 प्रतिशत, 7.35 प्रतिशत और 9.31 प्रतिशत की दर से विकसित हुए। आँकड़ों के लिहाज़ से आकर्षक लगने वाली यह विकास-दर हासिल होने के कारणों पर भी विचार किया गया है। उत्तराखण्ड को पहाड़ी राज्य होने के कारण केंद्र सरकार ने हिमाचल प्रदेश और कश्मीर जैसी टैक्ट-रियायतें दे रखी हैं। इसी वजह से इस प्रदेश ने बड़े पैमाने पर औद्योगिक निवेश आकर्षित किया है। झाड़खण्ड और छत्तीसगढ़ खनिजों (कोयला और लौह अयस्क) की दृष्टि से काफ़ी समृद्ध राज्य हैं। बिहार व मध्य प्रदेश के हिस्से के रूप में उनका यह आर्थिक लाभ पटना और भोपाल चला जाता था। अलग राज्य बनने के बाद यह फ़ायदा वे स्वयं उठा रहे हैं। लेकिन झाड़खण्ड और छत्तीसगढ़ की बढ़ी हुई विकास-दर का कारण केवल खनिज-सम्पत्ति ही नहीं है। ये दोनों राज्य 2001 के बाद से देश के सबसे ज्यादा औद्योगिक उत्पादन करने वाले दस राज्यों की सूची में भी शामिल हैं। कारखाना-निर्माण क्षेत्र में उन्हें असाधारण कामयाबी मिली है और उन्होंने राजस्थान, पंजाब, महाराष्ट्र, हरियाणा और तमिलनाडु से बेहतर परिणाम हासिल किये हैं।

क्या पूर्वांचल, हरित प्रदेश, भोजपुर, मरु प्रदेश और बुंदेलखण्ड की रचना होने पर उन्हें भी इसी तरह के आर्थिक उछाल का लाभ मिलेगा? विशेषज्ञों की राय में इसकी कोई गारंटी नहीं है। इनमें न तो कोई पहाड़ी इलाका है, और न ही इन क्षेत्रों में खनिज सम्पदा है। केवल गोरखालैंड के समर्थक दावा कर सकते हैं कि उनका क्षेत्र दार्जिलिंग की वजह से पर्यटन की आमदनी वाला है और वहाँ चाय के बागान हैं। गोरखालैंड वनोपजों से भी सम्पन्न है।

ज़ाहिर है कि औद्योगिक मोर्चे पर छोटे राज्यों ने बड़े राज्यों के मुकाबले कहीं बेहतर प्रगति करके दिखाई है। पर प्रशासन, क़ानून और व्यवस्था और राजनीतिक संस्कृति के मामले में इन्हें छोटे होने के कारण कोई विशेष लाभ नहीं दिखाई दे रहा है। छत्तीसगढ़ और झाड़खण्ड के आदिवासी

इलाके माओवादी हिंसा से बुरी तरह पीड़ित है जिसके कारण राज्यों के अन्य हिस्सों में हो रहे औद्योगिक विकास का उनकी जनजातियों को फायदा नहीं हो पा रहा है। इसके मुकाबले अगर आंध्र प्रदेश जैसे विशाल राज्य द्वारा माओवादी समस्या से मुकाबला करने का रिकॉर्ड देखा जाए तो वह अधिक बेहतर लगता है।

राजनीतिक दृष्टि से छत्तीसगढ़ में स्थिरता है, पर झाड़खण्ड बार-बार सरकारें बदलने के कारण अस्थिरता का नमूना बन चुका है। छत्तीसगढ़ और झाड़खण्ड दोनों ही माओवादी विद्रोह का केंद्र बने हुए हैं। उत्तराखण्ड भी कमोबेश स्थिर है। इससे लगता है कि किसी राज्य का छोटा होना अपने-आप में बेहतर राजनीतिक संस्कृति की कोई गारंटी नहीं है। राज्य का आकार कैसा भी हो, उसे सक्षम राजनीतिक नेतृत्व मिलना एक ऐसी पूर्व-शर्त है जिसका कोई विकल्प नहीं हो सकता।

देश के संघीय ढाँचे और केंद्र-राज्य संबंधों की समस्या पर गौर करने वाले विशेषज्ञों में छोटे राज्यों की माँग के बारे में एकराय है कि भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के बाद उठी छोटे राज्यों की माँग के पीछे राजनीतिक और आर्थिक प्रबंधन की समस्या है। तेलंगाना के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। 1956 में तेलंगाना के नेताओं और आंध्र प्रदेश के राजनीतिक नेतृत्व के बीच एक समझदारी बनी थी कि इस पिछड़े हुए इलाके के विकास पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। इसी वायदे के मुताबिक इस क्षेत्र के लिए बजट में अलग से प्रावधान किया जाता था, पर 1973 के बाद ऐसा नहीं किया गया जिसके परिणामस्वरूप परस्पर अविश्वास बढ़ता चला गया। जिन राज्यों में वित्तीय बँटवारा नीचे तक करने पर ध्यान दिया गया है, वहाँ अलग राज्यों की माँगें थोड़ी-बहुत सुगबुगाहट के बाद खामोश हो जाती हैं।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मणिपुर, मिज़ोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, बिहार, राजस्थान, राज्यों की राजनीति, संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. स्वामीनाथन अंकलेसैरैया (2009), 'दि इकॉनॉमिक केस फ़ॉर क्रिएटिंग स्माल स्टेट्स', *इकॉनॉमिक टाइम्स*, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

राज्यों की राजनीति

(Politics of States)

अस्सी के दशक के आखिरी वर्षों में कांग्रेस की पराजय और केंद्र में गठजोड़ सरकारों के सिलसिले की शुरुआत के बाद से तुलनात्मक राजनीति के विद्वानों ने अपना ध्यान राज्यों की राजनीति पर केंद्रित किया है। इससे पहले राजनीतिक विमर्श में राज्यों में होने वाली राजनीति की समझ केंद्र की राजनीति की रोशनी में बनायी जाती थी, और राज्य अपने-आप में अध्ययन का स्वतंत्र विषय नहीं थे। लेकिन पिछले बीस साल के घटनाक्रम का विश्लेषण स्पष्ट करता है कि असल में केंद्रीय राजनीति राज्यों के राजनीतिक रुझानों का जोड़ बन चुकी है। राज्य एक स्वतंत्र राजनीतिक दायरे के रूप में उभर चुके हैं और अब उनके नेताओं को केंद्र की सत्तारूढ़ ताकतों का छत्रप या सूबेदार भर मानना एक भूल होगी। राष्ट्रीय राजनीति में एक ख़ास तरह के क्षेत्रवाद का उदय हुआ है जो अपने वजूद में स्वायत्त होते हुए भी राष्ट्रीय इकाई के साथ परस्पर अभिन्न संबंधों में सकारात्मक रूप से बँधा हुआ है। मतदाता अब केवल कांग्रेस और उसके खिलाफ़ खड़े विपक्ष में से किसी एक को चुनने के लिए ही मजबूर नहीं हैं। हर राज्य में उनके पास चयन के अलग-अलग विकल्प मौजूद हैं। विचारधारारण और आंदोलन न केवल राज्यों के स्तर पर स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं, बल्कि उनका असर कहीं देर तक रहता है। राज्यों के स्तर पर राजनीतिक सहभागिता का स्तर उच्चतर और सघन हुआ है जिससे लोकतंत्र के आधार को व्यापकता मिली है। राज्यों की राजनीति की एक अन्य विशेषता वहाँ की प्रभुत्वशाली जाति या समुदाय द्वारा सत्ता में लम्बे अरसे तक टिके रहना भी है। अध्येताओं ने जानने की कोशिश भी की है कि इस विकास-क्रम में भारतीय लोकतंत्र के लिए किस तरह के फलितार्थ निहित हैं।

राज्यों की राजनीति को आधार बना कर सैद्धांतिक सूत्रीकरण की शुरुआत साठ के दशक में मायरन वीनर ने की थी। इस लिहाज़ से वीनर को अपने समय से आगे माना जायेगा कि उन्होंने कांग्रेस के वर्चस्व के ज़माने में राज्यों के अध्ययन के आधार पर एक तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य विकसित करने का आग्रह किया। वीनर की यह राय समाज-वैज्ञानिकों की उस प्रवृत्ति के खिलाफ़ जाती थी जिसके तहत या तो राजनीति के अखिल भारतीय प्रारूपों की खोज की जाती थी, या फिर किसी एक राज्य को केंद्र बना कर अध्ययन किये जाते थे। अस्सी के दशक के उत्तरार्ध में कई समाज-वैज्ञानिकों ने दो या दो से अधिक राज्यों के तुलनात्मक अध्ययन पेश करके वीनर की परम्परा को आगे बढ़ाया। नब्बे के दशक के राजनीतिक घटनाक्रम ने राज्यों को राजनीतिक

कारोबार के प्रमुख मंच के रूप में स्थापित कर दिया। राज्य आधारित पार्टियों की गतिविधियों पर गहरी नज़र डाली जाने लगी और राज्य स्तरीय चुनावी परिणामों के विश्लेषण के माध्यम से राष्ट्रीय नतीजों को स्पष्ट किया जाने लगा।

राज्यों की राजनीति के देर से हुए उभार के पीछे एक खास तरह का इतिहास है। अंग्रेजों के ज़माने में ब्रिटिश शासित क्षेत्रों में राजनीतिक गोलबंदी कहीं सघन और विकसित थी, बमुक़ाबले देशी रियासतों के। यह पैटर्न आज़ादी के बाद भी जारी रहा और शुरुआती सालों में पूर्व-राजाओं और स्वतंत्र पार्टी को उन राज्यों में उल्लेखनीय सफलता मिली जहाँ अंग्रेजों और उपनिवेशवाद विरोधी राज्यों के बीच सीधा अंतर्विरोध नहीं था। आज़ादी के साठ साल बाद आज यह इतिहास राज्यों की राजनीति पर असर डालने लायक नहीं रह गया है। लेकिन तीस और चालीस के दशक की विचारधारात्मक विरासत अभी भी राज्यों को प्रभावित करती है। जो कम्युनिस्ट या समाजवादी आंदोलन उस ज़माने में केरल, पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा, बिहार और उत्तर प्रदेश में राजनीतिक गहमागहमी के केंद्र हुआ करते थे, उनका असर आज भी देखा जा सकता है। इसी तरह आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और ओडीशा जैसे प्रांतों में चलने वाले प्रतिरोध आंदोलनों की छाप आज भी इन राज्यों की राजनीति पर है। कुछ राज्यों के पास सामाजिक न्याय के आंदोलनों की विरासत है (तमिलनाडु और केरल), और कुछ के पास आम्बेडकर आंदोलन की (महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश)। कुछ राज्यों पर उस ज़माने में पैदा हुए पृथकतावादी रुझान आज भी दिखाई पड़ते हैं (नगालैण्ड, मिज़ोरम और पंजाब)।

आज़ादी के बाद कुछ राज्यों का अस्तित्व केवल भौगोलिक भर था। मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश जैसे विशाल राज्य एक अपेक्षाकृत समरूप राजनीतिक समुदाय के रूप में नहीं उभर पाये थे। भाषा और राजनीतिक संस्कृति के अस्मितागत रूपों के लिहाज़ से ये राज्य आज भी देश के कई राज्यों से पीछे हैं। लेकिन कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि भाषाई आधार पर राज्यों की रचना से कई राज्य (आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब) को उनकी अलग राजनीतिक अस्मिता प्राप्त कर चुके हैं। तमिलनाडु को द्रविड़ आंदोलन ने, असम को बहिरागत विरोधी मुहिम ने, मिज़ोरम को पृथकतावादी बगावत ने और पश्चिम बंगाल को कम्युनिस्ट आंदोलन ने एक राजनीतिक समुदाय में गठित कर दिया है। महाराष्ट्र और गुजरात ने भी पिछले दिनों अपनी क्षेत्रीय अस्मिता के ज़रिये इसी दिशा में क्रदम बढ़ा दिये हैं। राज्यों के इस अस्मितागत विकास में जातिगत और धार्मिक चेतना की भी भूमिका है।

विविध कारकों के आधार पर राज्यों के अधिकाधिक एकीकृत राजनीतिक इकाई में बदलते जाने के दो मुख्य

परिणाम निकले हैं। अब वे केंद्र के साथ अधिक विश्वास के साथ संबंध रख सकते हैं अर्थात् राज्य जितना एकीकृत होगा, उतने ही गहरे संबंध उसके केंद्र आधारित बृहत्तर संघ के साथ होंगे। दूसरी ओर यह भी देखने में आया है कि अस्मितागत विकास के बावजूद राज्यों में उपक्षेत्रीय पहचानों का उभार जारी है। राज्यों के राजनीतिक समरूपीकरण की प्रतिक्रिया में उत्तर बंगाल, पश्चिमी ओडीशा, पूर्वांचल, हरित प्रदेश, बुंदेलखण्ड, तेलंगाना और विदर्भ जैसी उप-क्षेत्रीय अस्मिताओं की दावेदारी पहले के मुक़ाबले और मुखर हुई है। उप-क्षेत्रीय अस्मिताओं को क्षेत्रीय विकास परिषदों और स्वायत्तशासी परिषदों के प्रावधान के ज़रिये संतुष्ट करने की कोशिश में राज्य और संघ के बीच एक तरह का गठजोड़ देखा जा सकता है। लेकिन इसका दूसरा पहलू यह भी है कि राज्य इन उप-क्षेत्रीय अस्मिताओं के साथ सत्ता में साझेदारी करने के लिए तैयार नहीं है। अगर वे उनमें ऐसी साझेदारी के लिए राजनीतिक इच्छा-शक्ति होती तो इन परिषदों की आवश्यकता ही न पड़ती। राज्यों के भीतर पंचायती राज संस्थाओं के विकास ने लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित किया है। 73वें संविधान संशोधन के गर्भ से निकले पंचायती राज संस्थाओं के नये रूप ने स्त्रियों, दलितों और अन्य पिछड़े वर्ग की स्थानीय शक्तियों के लिए सहभागिता का रास्ता साफ़ किया है।

राज्यों के उभार ने राष्ट्रीय मंच पर क्षेत्रीय रंगों में रँगी राजनीति तो पेश कर दी है, पर इससे राज्यों के भीतर लोकतांत्रिक संस्कृति की गारंटी नहीं हो पायी है। राज्यों के भीतर उभरने वाले बहुसंख्यकवाद के विभिन्न रूपों और परिणामवादी रवैये के मुक़ाबले सच्चे लोकतांत्रिक विचार की स्थापना अभी बाक़ी है। जहाँ तक सत्ता के सामाजिक आधार का सवाल है, गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, हरियाणा और पंजाब में मँझोली जातियों ने अपना वर्चस्व क्रायम करने में सफलता प्राप्त की है। केरल, तमिलनाडु, बिहार और उत्तर प्रदेश में यह प्रक्रिया इन जातियों के परे चली गयी है। पश्चिम बंगाल, ओडीशा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हिमाचल और उत्तराखण्ड जैसे राज्यों में पारम्परिक रूप से ऊँची जातियों के हाथ में ही सत्ता की बागडोर है।

आर्थिक दृष्टि से देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि पिछले बीस साल से चल रही भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया और बाज़ार की ताक़तों के स्थापित हो रहे वर्चस्व ने राज्यों की वह क्षमता घटा दी है जिसके ज़रिये वे कॉरपोरेट और अन्य संगठित हितों का प्रतिरोध कर पाते थे। ऐसे कई उदाहरण सामने आये हैं जिनसे लगता है कि राज्य सरकारों को आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली ताक़तों के एजेंट की तरह काम करने में कोई हिचक नहीं रह गयी है।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मणिपुर, मिजोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, बिहार, राजस्थान, राज्यों का पुनर्गठन-1, 2 और 3, भारतीय संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. मायरन वीनर (1968), *स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
2. योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर (2009), 'टेन थीसिज़ ऑन स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया', संदीप शास्त्री, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *इलेक्ट्रोरल पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. रॉब जेनकिंस (1984), *रीजनल रिफ्लेक्शंस : कम्पेयरिंग पॉलिटिक्स एक्रॉस इण्डियाज़ स्टेट्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

राजनय

(Diplomacy)

राजनय वह कला है जिसके ज़रिये कोई राज्य किसी दूसरे राज्य या राज्यों से युद्ध, शांति, व्यापार, अर्थशास्त्र, संस्कृति, पर्यावरण और मानवाधिकार संबंधी मसले सुलझाता है। इस कला में पारंगत राजनयिकों के हाथ में ही विदेश नीति की बागडोर रहती है। उन्हें विभिन्न देशों में स्थित दूतावासों में तैनात किया जाता है। ये प्रशिक्षित राजनयिक ही विभिन्न स्तरों पर संबंधित प्रश्नों पर समझौता वार्ताएँ चला कर संधियों और समझौतों की ज़मीन तैयार करते हैं जिन्हें बाद में सत्तारूढ़ प्रतिष्ठान द्वारा स्वीकृति प्रदान की जाती है। ये वार्ताएँ द्विपक्षीय भी हो सकती हैं और बहुपक्षीय भी। डिप्लोमेसी को राजनय के साथ किंचित नकारात्मक अर्थों में कूटनीति के तौर पर भी देखा जाता है, क्योंकि राजनयिक अपनी कुशलता से बिना युद्ध में उतरे सामरिक लाभ की स्थिति में आने का उपक्रम करने की कोशिशें करते हैं। राजनय के दो मुख्य पहलू होते हैं : इसी के ज़रिये राज्य दुनिया के सामने अपना प्रतिनिधित्व करते हुए अपनी दावेदारियाँ पेश करता है, और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाली राष्ट्रीय हितों की प्रतियोगिता में राज्य के हितों की रक्षा की जाती है। समझा जाता है कि 1815 के बाद

अंतर्राष्ट्रीय ताकतों के बीच जब भी टकराव की नौबत आयी, केवल दस फ़्रीसदी मामलों में ही बात युद्ध तक पहुँची, वरना बाकी सभी प्रकरणों में राजनय के ज़रिये समस्याएँ सुलझा ली गयीं।

विदेश नीति के दस्तावेज़ अक्सर सामान्य पदावली और भाषा में तैयार किये जाते हैं, और नीति-विषयक लक्ष्यों को धरती पर उतारने के लिए स्पष्ट उपायों का उनमें जिक्र नहीं होता। एक कुशल राजनयिक से उम्मीद की जाती है कि वह हर बार ताज़े हालात की रोशनी में उन सामान्य वक्तव्यों के भीतर ठोस अर्थों को पढ़ने में कामयाब होगा। एक बेहतर राजनयिक से नीतिगत वक्तव्यों को परे जाकर राज्य के व्यापक हित में काम करने की अपेक्षा भी की जाती है। ऐसी सरकार शायद ही कोई होगी जिसकी विदेश नीति में अंतर्विरोध और विच्छिन्नताएँ न हों। विदेश नीति एक-दूसरे को काटते स्वयं और व्याख्याओं के बीच से निकाल कर सुसंगत संरचना प्रदान करने का काम राजनयिकों द्वारा किया जाता है।

आधुनिक राजनय का उद्गम तेरहवीं सदी के इटली में माना जाता है जब मिलान के फ्रांसेस्को सेफ़रोज़ा उत्तरी इटली के दूसरे नगर-राज्यों में अपने स्थाई दूतावास क्रायम किये। पहले रिनेसाँ के इस दौर में तुस्केनी और वेनिस भी राजनय के केंद्र बने। राजदूत द्वारा अपना परिचय-पत्र राज्य के मुखिया के सामने पेश करने की परम्परा भी युरोप के इसी क्षेत्र में पड़ी। मिलान ने ही 1455 में पहली बार अपना प्रतिनिधि फ्रांस के राजदरबार में भेजा। लेकिन, मिलान ने फ्रांस के दूत को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। उसे शक था कि फ्रांसीसी दूत स्थानीय हुकूमत के कामकाज में हस्तक्षेप न करने लगे। बहरहाल, कुछ ही वर्षों के भीतर प्रमुख युरोपीय ताकतें आपस में दूतों की अदला-बदली करने लगीं। स्पेन ने 1487 में पहली बार इंग्लैण्ड के दरबार में अपना स्थाई प्रतिनिधि भेजा। सोलहवीं सदी तक आते-आते दूसरे देशों में अपने स्थाई राजदूत रखने की परम्परा तक्ररीबन स्थापित हो गयी।

एशियाई राज्य व्यवस्थाओं में भी राजनय की पुरानी परम्परा है। ईसा पूर्व तीसरी सदी में चंद्रगुप्त मौर्य के महामात्य (प्रधानमंत्री) विष्णुगुप्त चाणक्य (कौटिल्य) द्वारा रचित ग्रंथ अर्थशास्त्र में राजनय से संबंधित सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। इसके मुताबिक राजनय की भूमिका राजा को दूसरे राज्यों से गठबंधन बनाने के ज़रिये प्रतिद्वंद्वी राज्यों को मात देने की होनी चाहिए। कौटिल्य ने सिफ़ारिश की है कि दूसरे दरबारों में भेजे गये दूतों को वहाँ लम्बी अवधियों तक रहना चाहिए। वे यह भी सलाह देते हैं कि ज़रूरत पड़ने पर विदेशी दूतों को निष्कासित करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

ईसा से छह सौ वर्ष पूर्व चीन के सामरिक रणनीतिकार सुन जू द्वारा रचित ग्रंथ *द आर्ट ऑफ वार* में भी राजनय की कला के बारे में उल्लेखनीय चर्चा मिलती है।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विद्वानों ने राजनय के कामकाज को तीन भागों में बाँटा है : सूचना एकत्रित करना, छवि का प्रबंधन और नीतिगत कार्यान्वयन। किसी भी देश के दूतावास की पहली जिम्मेदारी यह पता लगाने की होती है कि उस देश का स्थानीय राजनीतिक नेतृत्व क्या सोच रहा है, उसकी अर्थव्यवस्था की स्थिति क्या है और सत्तारूढ़ ताकतों को किस क्रिस्म के राजनीतिक विरोध का सामना करना पड़ रहा है। इन्हीं सूचनाओं के आधार पर यह आकलन किया जा सकता है कि उस देश के संदर्भ में किस तरह की विदेश नीति अपनायी जायेगी। कोई भी सरकार अपने राजनयिकों की आँखों और कानों से ही किसी अन्य देश को देखती और सुनती है। राजनयिकों द्वारा भेजे गये तारों और संदेशों के आधार पर ही विदेश नीति का विकास होता है। दूतावास अपने देश की छवि बेहतर करने का नियोजित प्रयास भी करता है। पब्लिक रिलेशंस के नेटवर्क और आधुनिक संचार साधनों की मदद से दूतावास स्थानीय मीडिया को फ़ायदेमंद क्रिस्म की सूचनाएँ सप्लाई करता है और उसकी कोशिश होती है कि किसी क्रिस्म की नकारात्मक पब्लिसिटी न होने पाये। दूतावासों को अपने देश के वैदेशिक कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की जिम्मेदारी भी निभानी पड़ती है। फ़ौजी अड्डे खोलने के अधिकारों से लेकर विदेशी निवेश सुलभ कराने के क़दमों तक और आर्थिक सहायता के वितरण से लेकर तकनीकी मदद प्राप्त करने तक का उत्तरदायित्व दूतावासों के कंधों पर रहता है।

इस बात पर अच्छी-खासी बहस है कि आज के ज़माने में राजनय की उपयोगिता बढ़ी है या कम हुई है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि संचार और आवागमन के साधनों का जैसे-जैसे विकास हो रहा है, वैसे-वैसे राजदूतों की अहमियत घटती जा रही है। जिस ज़माने में यात्रा और संचार की सुविधाएँ मुहैया नहीं थीं, राजदूत लम्बे अरसे तक किसी देश में तैनात रहते थे। उनकी हैसियत एक हद तक स्वायत्त रहती थी और विदेश नीति पर अमल काफ़ी-कुछ उनके विवेक पर निर्भर रहता था। उन्हें अपनी सरकार की तरफ़ से बहुत कम निर्देश मिल पाते थे। आज स्थिति बदल गयी है। राजदूतों को विदेश मंत्रालयों से नित्य-प्रति संदेशों, सुझावों, निर्देशों और विश्लेषणों की डाक मिलती रहती है। राज्यों के मुखिया अब किसी दूसरे राज्य के मुखिया से सम्पर्क करने के लिए अपने राजदूत के मोहताज नहीं रह गये हैं। वे टेलिफ़ोन पर आपस में सीधी बात कर लेते हैं और उनके बीच अक्सर होने वाली शिखर वार्ताओं में राजदूत की भूमिका ज़्यादा से ज़्यादा पूरक और सहयोगी की रह गयी है। आजकल सर्वोच्च

नीति-निमाताओं के बीच शटल डिप्लोमेसी या विशेष दूत भेजने का चलन भी बढ़ गया है। सत्तर के दशक में अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन और उनके विदेश मंत्री हेनरी किसिंगर द्वारा की गयी शटल डिप्लोमेसी इसका उदाहरण है।

दूसरी तरफ़ एक विचार यह भी है कि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने विभिन्न राज्यों के बीच अंतर-निर्भरता की मात्रा बहुत बढ़ा दी है। अब दुनिया पुरानी युरोकेंद्रित राज्य प्रणाली पर टिकी रहने के बजाय एक भूमण्डलीय अंतर्राष्ट्रीय समाज जैसी बनती जा रही है। इस परिस्थिति ने बहुपक्षीय राजनय की सम्भावनाएँ बढ़ायी हैं। ऐसे मुद्दों की कोई कमी नहीं है जिनमें विभिन्न सरकारों के बीच सहयोग क़ायम करने के लिए बहुपक्षीय प्रबंधन की आवश्यकता हो। आणुविक प्रसार, शस्त्र-नियंत्रण, वाणिज्य, आतंकवाद निरोध जैसे प्रश्नों पर तो बहुपक्षीय राजनय की भूमिका अनिवार्य मानी जाती है। इसी तरह संयुक्त राष्ट्र और उसकी संस्थाएँ समय-समय पर खाद्य, जनसंख्या वृद्धि, पर्यावरण और अन्य वैश्विक सरोकारों से संबंधित सम्मेलनों और बैठकों का आयोजन करती रहती हैं। इस संदर्भ में भी बहुपक्षीय राजनय की भूमिका प्रबल होती है।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, पृथकतावाद, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निःशस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट क़ानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

संदर्भ

1. सर अर्नेस्ट सेटौ (1917/1998), *अ गाइड टू डिप्लोमेटिक प्रैक्टिस*, ग्रीन एंड को., लंदन और न्यूयॉर्क
2. जी.आर. बेरिज (2005), *डिप्लोमेसी : थियरी ऐंड प्रैक्टिस*, तीसरा संस्करण, पालग्रेव, बेसिंगस्टोक.
3. किशन एस. राणा और जोबन कुरबालिजा (सम्पा.) (2007), *फ़ॉरेन मिनिस्ट्रीज़ : मैनेजिंग डिप्लोमेटिक नेटवर्क्स ऐंड ऑप्टीमाइज़िंग वेल्यू*, डिप्लोफ़ाउंडेशन.
4. जॉर्ज कनिंघम (2005), *जरनी टु बिक्रम अ डिप्लोमेट : विद अ गाइड टु क़ैरियर इन वर्ल्ड एफ़ेयर्स*, एफ़पीए ग्लोबल विज़न बुक्स.

— अभय कुमार दुबे

राजनीति में व्यक्ति की भूमिका

(Individual's Role in Politics)

राजनीतिक के साथ सामाजिक की धारणा गुँथी हुई है। प्रश्न यह है कि राजनीति और समाज के इस समीकरण में व्यक्ति की भूमिका क्या है? इसी सवाल को इस तरह से भी पूछा जा सकता है कि क्या लेनिन के होने या न होने से रूसी इतिहास की गति पर कोई फ़र्क पड़ने वाला था? अगर 1920 में पोलियो से विकलांग होने के बजाय रूज़वेल्ट का देहांत हो जाता तो क्या अमेरिका महामंदी और द्वितीय विश्व-युद्ध की परिस्थिति का उसी तरह मुकाबला करता? अगर भारतीय राजनीति में गाँधी का उदय न होता तो प्रतिवेदन और ज्ञापन देने वाली कांग्रेस पार्टी उपनिवेशवाद विरोधी जनांदोलन में बदल पाती? या अगर साठ के दशक के आखिरी सालों में इंदिरा गाँधी की जगह किसी और के हाथों में पार्टी की बागडोर होती तो क्या बिखरती हुई 'कांग्रेस-प्रणाली' का रूपांतरण लोकलुभावन और करिश्माई नेतृत्व वाले दल में हो पाता? इसी तरह अगर मार्गरेट थैचर ने राजनीति करने के बजाय वकालत करने का फैसला किया होता तो अस्सी के दशक में ब्रिटिश राजनीति की शकल-सूरत क्या होती? अगर 1994 में जॉन स्मिथ की मृत्यु न हो गयी होती और उनकी जगह टोनी ब्लेयर ने न ली होती तो क्या लेबर पार्टी नया रूप धारण कर पाती? अगर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने दो लाइनों के संघर्ष में माओ की बात न मान कर उनके आलोचकों की मानी होती तो क्या चीन क्रांति सम्पन्न कर पाता? समाज-विज्ञान की दुनिया के पास इन प्रश्नों का कोई सैद्धांतिक उत्तर नहीं है। इतिहास या विज्ञान हमारे सामने इस उलझन का कोई समाधान पेश नहीं करता कि संस्थागत, वैचारिक और सामाजिक परिवेश से परे जाकर कोई व्यक्ति इतिहास और राजनीति पर अपनी मुहर कैसे लगाता है।

दार्शनिकों और चिंतकों ने इस बात पर काफ़ी दिमाग खपाया है कि राजनीतिक विश्लेषण के केंद्र में नेतृत्वकारी हस्तियों की

आकांक्षाएँ, आस्थाएँ और उपलब्धियाँ होनी चाहिए या फिर उसे उन निर्वैयक्तिक शक्तियों की जाँच-पड़ताल करनी चाहिए जो व्यक्तियों के आचरण को तय करती हैं? राजनीति को सिर्फ व्यक्तियों के आईने में देखने वाले मानते हैं कि उसकी रचना महान नेताओं के हाथों होती है। यही विचार उस समय अतिवादी रूप ग्रहण कर लेता है जब 'फ़ासिस्ट फ़्यूहररशिप' या 'सर्वोच्च नेता' या 'राजनीतिक प्राधिकार' या 'महान खेवनहार' के हाथों में कोई देश या समूह अपना भविष्य सौंप देता है। फ़ासीवाद के पैरोकार मुसोलिनी और हिटलर को सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञानी नेता के रूप में पेश करते थे। भारत में नक्सलवादी आंदोलन में चारु मजूमदार को राजनीतिक प्राधिकार का मूर्तिमान स्वरूप मान लिया गया था। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी माओ त्से-तुंग को महान खेवनहार मानती थी। जाहिर है कि राजनीति और व्यक्ति के रिश्ते को समझने का यह तरीका उन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पहलुओं को नज़रअंदाज़ करता है जो इतिहास की गति को लाजमी तौर पर प्रभावित करते हैं।

इसके विपरीत दूसरा रवैया सामाजिक-आर्थिक कारकों को इतना महत्त्व दे देता है कि राजनीतिक प्रक्रिया में व्यक्ति की भूमिका इतिहास की कठपुतली से ज्यादा नहीं रह जाती। इस यांत्रिक मार्क्सवादी रवैये का उदाहरण सोवियत संघ और पूर्वी युरोप के कई कम्युनिस्ट राज्यों के रूप में मिल सकता है। यह नज़रिया आर्थिक नियतिवाद की देन था जिसके अनुसार मान लिया जाता है कि राजनीतिक, विधिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक जीवन 'आर्थिक उत्पादन की विधि' द्वारा निर्धारित होता है। इतिहास और मानवीय व्यवहार का प्रत्येक आयाम वर्ग-संघर्ष के विकास की रोशनी में देखा जाता है। ऐसा सिद्धांत मानवीय व्यवहार का आकलन करने में निजी अस्मिता या स्वेच्छा की भूमिका को तरज़ीह नहीं देता। हर घटना की एजेंसी इतिहास को मान लिया जाता है। मार्क्स इस तरह के संकीर्ण नियतिवाद के समर्थक नहीं थे, पर वे आत्मगत कार्रवाई को निर्णायक महत्त्व देने के लिए भी तैयार नहीं थे। उनका कहना था : मुर्दा पीढ़ियों की परम्पराओं का बोझ जिंदा पीढ़ियों के दिमाग



(ऊपर से) फ्रेंकलिन डिलानो रूज़वेल्ट (1882-1945), इंदिरा गाँधी (1917-1984) और मार्गरेट थैचर (1925-2012)

पर एक दुःस्वप्न की तरह लदा रहता है। मार्क्स के अधिकतर अनुयायी उनके द्वारा प्रस्तावित इस रूपक का रचनात्मक और परिष्कृत इस्तेमाल करने में नाकाम रहे हैं।

एक तरह से व्यक्ति की भूमिका का आकलन करने के मामले में मार्क्स के साथ-साथ नीत्शे के सिद्धांतों को भी एकतरफ़ा दोहन का शिकार होना पड़ा है। मार्क्स के चिंतन से सोवियत सिद्धांतकारों ने आर्थिक नियतिवाद निकाला, तो नीत्शे के चिंतन का बेजा इस्तेमाल नाज़ीवादियों ने किया। नीत्शे ने अपनी रचना *दस स्पोक़ ज़रथ्रुस्त* (1883-85) में 'सुपरमैन' का विचार प्रतिपादित किया था। सुपरमैन के ज़रिये वे एक ऐसे व्यक्ति की सम्भावनाओं की तरफ़ इशारा कर रहे थे जो चालू नैतिकताओं की सीमाओं से आगे जाकर अपने लिए अलग तरह के मूल्यों और जीवन की सृष्टि कर सके।

इन दो दृष्टिकोणों के बीच क्या कोई तीसरा दृष्टिकोण भी है? दरअसल, व्यक्ति राजनीति और इतिहास की रचना करते हैं, पर ऐसा करते समय वे कुछ विशिष्ट बौद्धिक, संस्थागत, सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों के दायरे में होते हैं। बहुत कम राजनेता ऐसे होते हैं जिन्होंने चिंतन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान किया हो। लेनिन, माओ और गाँधी जैसे लोग बहुत कम हुए हैं। ज़्यादातर नेताओं का कृतित्व किसी न किसी युग के चिंतकों से प्रभावित होता है। मसलन, थैचराइज़ेशन और रेगनोमिक्स में ऐडम स्मिथ और रिकार्डो से लेकर हायक और फ़्रीडमैन तक के क्लासिकल और नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के तत्त्व थे। मार्क्स और कौंस के विचारों को भी राजनीतिक इतिहास की रचना का श्रेय दिया जाता है, पर दिलचस्प बात यह है कि इन असाधारण चिंतकों के विचार भी कुछ विशिष्ट बौद्धिक परम्पराओं से प्रभावित थे। लेकिन इन लोगों ने उन परम्पराओं के इतर जा कर सृजनशील होने की क्षमता दिखाई। इसका एक दिलचस्प उदाहरण फ़्रांसीसी क्रांति के पितामह समझे जाने वाले रूसो के कृतित्व में मिलता है। समझा जाता है कि रूसो की देन समझे जाने वाले कुछ विचार सबसे पहले उनके साथ उठने-बैठने वाली चिंतक-मण्डली के अन्य विद्वानों के दिमाग़ में आये थे, पर उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव तभी डाला जब रूसो ने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से उनकी व्याख्या कर दी।

दूसरे, व्यक्तियों और संस्थाओं के बीच का संबंध भी बहुत-कुछ असर डालता है। संस्थागत पहलू का प्रभाव धीरे-धीरे काफ़ी बढ़ गया है जिसके कारण राजनीतिक गति में व्यक्ति की विशिष्ट भूमिका कुछ कमतर लगने लगी है। जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर की मान्यता थी कि आधुनिक औद्योगिक समाजों में विधिक और बुद्धिसंगत प्राधिकार के संस्थागत रूपों ने मोटे तौर पर करिश्माई और पारम्परिक प्राधिकार के रूपों को पृष्ठभूमि में धकेल दिया है। आज अमेरिका, ब्रिटेन और भारत के सर्वोच्च पदों (राष्ट्रपति और

प्रधानमंत्री) पर बैठे लोगों के लिए निजी तौर पर करिश्माई होना ज़रूरी नहीं रह गया है। उनका संस्थागत महत्त्व ही सर्वोपरि है।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं निकाला जा सकता कि पद और संस्था का हर नेता एक सा ही उपयोग करेगा। इसीलिए कहा जाता है कि ब्रिटेन का प्रधानमंत्री पद उस व्यक्ति के मुताबिक़ काम करता है जो उस पर आरूढ़ होता है। करिश्माई और मज़बूत इच्छा-शक्ति वाले प्रधानमंत्री उन्हीं शक्तियों के आधार पर भिन्न नतीजे निकाल लेते हैं। 1979 से 1990 के बीच मार्गरेट थैटर ने जो कर दिखाया वह उनके पहले और बाद के कई प्रधानमंत्री नहीं कर पाये। भारत में जवाहरलाल नेहरू और इंदिरा गाँधी के कार्यकाल इसी तरह की मिसालें पेश करते हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमंड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पर्नाप्टिकन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रासीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, व्यक्तिवाद, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. डेनियल बायनम और केनेथ पोलॉक (2001), 'लेट अस प्रेज़ नाव ग्रेट मेन', *इंटरनैशनल सिक्विरिटी*, खण्ड 25, अंक 4.
2. जी.वी. प्लेखानोव (1898), 'द रोल ऑफ़ द इंडिविडुअल इन हिस्ट्री', *नौचोये औबोज़िनी (साइंटिफ़िक रिव्यू)*, मास्को. आर्ट-बिन.कोम/आर्ट/ओपीएलईसीएचइएनजी.एचटीएमएल : 11 सितम्बर, 2013 को देखा गया.
3. देबोराह जी. मार्टिन, सृजन हैंसन और डेनियाले फ़ोटेन (2007), 'व्हाट काउंट्स एज़ एक्टिविज़म? द रोल ऑफ़ इंडिविजुअल इन क्रिएटिंग चेंज', *वुमंस स्टडीज़ क्वार्टरली*, खण्ड 35, अंक 3/4.

— अभय कुमार दुबे

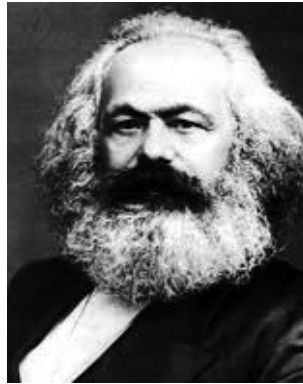
राजनीतिक अर्थशास्त्र

(Political Economy)

राजनीतिक अर्थशास्त्र किसी समाज में राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के बँटवारे की जानकारी देते हुए बताता है कि सत्ता का यह वितरण वैकासिक और अन्य नीतियों पर किस तरह का प्रभाव डाल रहा है। इसी बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र उन बुद्धिसंगत फ़ैसलों का अध्ययन करता है जो राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं के संदर्भ में लिए जाते हैं। इस अध्ययन में तर्कसंगत आधारों की रोशनी में समष्टिगत प्रभावों पर गौर किया जाता है। अट्टारहवीं सदी के मध्य में प्रकाशित ऐडम स्मिथ की रचना *वेल्थ ऑफ़ नेशंस* से लेकर उन्नीसवीं सदी में प्रकाशित जॉन स्टुअर्ट मिल की रचना *प्रिंसिपल्स ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी* और कार्ल मार्क्स की रचना *कैपिटल : अ क्रिटिक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी* तक के लम्बे दौर में अर्थशास्त्र का अनुशासन मुख्य तौर से राजनीतिक अर्थशास्त्र के नाम से ही जाना जाता था। दरअसल, समाज-वैज्ञानिकों की मान्यता थी कि राजनीतिक कारक आर्थिक परिणामों पर अनिवार्य ही नहीं बल्कि निर्णयकारी प्रभाव डालते हैं। बीसवीं सदी में राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र के अनुशासन अलग होते चले गये। नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के प्रभाव में अर्थशास्त्र की पद्धतियाँ राजनीति से अपेक्षाकृत स्वायत्त हो कर विकसित हुईं और अर्थशास्त्रियों का जोर उपभोक्ताओं और कम्पनियों के ऊपर पड़ने वाले सरकारी नियंत्रणों और बाज़ार के विकास की परिस्थितियों पर होता चला गया। अभी पिछले कुछ दशकों से एक बार फिर राजनीति और अर्थशास्त्र के गठजोड़ की बातें होने लगी हैं, और नये राजनीतिक अर्थशास्त्र की चर्चा सुनायी देने लगी है। राजनीतिक अर्थशास्त्र का इस नये उभार में ख़ास बात यह है कि यह राजनीति के आर्थिक महत्त्व को रेखांकित करने के लिए आधुनिक अर्थशास्त्र की परिष्कृत विश्लेषणात्मक पद्धतियों का इस्तेमाल करता है।

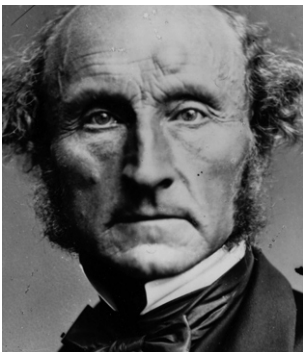
आर्थिक विज्ञान के इतिहासकारों के मुताबिक़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी (राजनीतिक अर्थशास्त्र) का पद

पहली बार 1615 में मोंक्रेतीन द वातविले द्वारा प्रयोग किया गया था। फ़्रांस का यह वणिक्वादी विद्वान् चाहता था कि आर्थिक विज्ञान की परिभाषा को उन सीमाओं से बाहर निकाला जाए जिनमें यूनानी चिंतकों ने उसे सीमित कर दिया है। प्राचीन यूनानियों के अनुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र घर-खर्च तक सीमित था। मोंक्रेतीन ने इस विचार में राज्य की संस्था के इर्द-गिर्द होने वाले चिंतन यानी राजनीति को भी जोड़ दिया। 1761 में सर जेम्स स्टुअर्ट पहले अंग्रेज़ अर्थशास्त्री थे जिन्होंने इस पद का उल्लेख अपनी पुस्तक ऐन *इनक्वैरी इन्टु द प्रिंसिपल्स ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी* के शीर्षक में किया।



कार्ल हाइनरिख मार्क्स (1818-1883)

ऐडम स्मिथ का विचार था कि राजनीतिक अर्थशास्त्र का काम जनता को जीवनयापन के लिए पर्याप्त आमदनी उपलब्ध कराने की प्रावधान करना है, और दूसरी ओर सरकार के लिए इतने राजस्व का इंतज़ाम करना है जिससे सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। राजनीतिक अर्थशास्त्र को स्मिथ द्वारा दी गयी परिभाषा के दायरे से निकाल कर कहीं व्यापक अर्थ देने का काम कार्ल मार्क्स ने किया। उनके समकालीन जे.एस. मिल की दिलचस्पी पूँजीवाद की आलोचना में नहीं थी (हालाँकि आधी सदी तक उनकी रचना आर्थिक विज्ञान के अध्यापन में इस्तेमाल की जाती रही), लेकिन उन्होंने मूल्य, व्यापार, धन, आबादी, वेतन, आर्थिक प्रणाली और आर्थिक नीति के संदर्भ में राजनीतिक अर्थशास्त्र की व्याख्या की। पर मार्क्स ने ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र से ग्रहण किया कि आर्थिक विनिमय तभी समतामूलक हो सकता है जब दोनों पक्षों द्वारा लगाया गया श्रम-मूल्य बराबर हो। लेकिन, जब एक पक्ष श्रम ख़रीदने वाला और दूसरा श्रम बेचने वाला होता है तो श्रम ख़रीदने वाला हमेशा ही किसी भी विनिमय में बहुत ज़्यादा लाभ हासिल कर लेता है। इसी लाभ के दम पर उसके पास उत्तरोत्तर पूँजी जमा होती चली जाती है। इस पूँजी संचय के गहन और दूरगामी आर्थिक-सामाजिक फलितार्थ होते हैं और इसके गर्भ से प्रभुत्व व अधीनस्थता



जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873)

की सामाजिक संरचनाएँ जन्म लेती हैं। दरअसल, मार्क्स जिस उलझन का हल सुझा रहे थे, वह कभी अरस्तू ने अपनी *निकोमैकियन इथिक्स* में उठायी थी। अरस्तू के इस विमर्श में आधुनिक राजनीतिक अर्थशास्त्र के बीज निहित थे। अरस्तू का कहना था कि दो लोग जब किन्हीं दो चीज़ों का आपस

में विनिमय करते हैं तो उनमें से एक बेहतर और एक कमतर होती ही है। ऐसे में दोनों में से किसी एक पक्ष को दूसरे के मुकाबले अधिक लाभ होना लाजमी है। उनका सवाल था कि दोनों के लाभों को बराबर कैसे किया जाए, क्योंकि लाभों की असमता एक विषम समाज को जन्म दे सकती है। अरस्तू के पास इस समस्या का हल नहीं था। मार्क्स का युग तो राष्ट्रों के विकास का युग था, इसलिए उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि पूँजीवाद बड़े पैमाने पर सम्पत्ति जमा करता चला जाता है और एक मुकाम पर पहुँच कर राष्ट्र के विकास में मुख्य भूमिका निभाता है। लेनिन ने मार्क्स के इसी विचार का विस्तार करते हुए दिखाया कि किस तरह उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के जरिये पूँजीवाद अपना अंतर्राष्ट्रीय विस्तार करता है।

मार्क्स और लेनिन के विमर्श का लाभ उठा कर अर्थशास्त्री कई तरह की रैडिकल धारणाओं का प्रतिपादन कर पाये। उन्होंने योजनापूर्वक राजनीति और अर्थशास्त्र को आपस में मिला दिया, पूँजीवाद की प्रकृति और राजनीतिक दलों के इरादों की जाँच की। इसी सिलसिले में सार्वजनिक उत्पादन, उस पर पड़ने वाले बाहरी प्रभावों और इजारेदारियों का विश्लेषण किया गया। अलग-अलग सरकारों द्वारा संसाधनों का बँटवारा करने की प्रक्रिया की भी व्याख्या की गयी। लोकोपकारी राज्य की अवधारणा के सूत्रीकरण में राजनीतिक अर्थशास्त्र के वामपंथी पहलुओं की प्रमुख भूमिका रही। पचास के दशक में रिचर्ड एम. टिटमस ने युरोप की ज़मीन पर लोकोपकारी राज्य को तीन मॉडलों में बाँट कर देखा। उन्होंने बताया कि एंग्लो-सेक्सन देश लोक उपकार की राजनीति केवल तभी अपनाते हैं जब बाज़ार विफल हो जाता है। यह आंशिक क्रिस्म का लोक उपकार है। जर्मनी और नीदरलैण्ड जैसे देशों में लोक उपकार की राजनीति अर्थशास्त्र में औद्योगिक उपलब्धियों को बेहतर बनाने के लिए मिश्रित की जाती है। स्कैंडिनेवियन देशों में संस्थागत पुनर्वितरणकारी मॉडल की तरह लोक उपकार की राजनीति की जाती है। हाल ही में लोकोपकारी राज्य की व्याख्या कल्याणकारी पूँजीवाद के रूप में भी की गयी है। द *श्री वल्ड्स ऑफ़ वेलफ़ेयर कैपिटलिज़्म* में गोस्ता एस्पिंग-ऐंडरसन ने लोकोपकारी राज्य की पूँजीवादी जड़ों को स्पष्ट करते हुए दिखाया है कि ये मॉडल उदारतावादी, अनुदारतावादी और सामाजिक-जनवादी क्रिस्म के हैं।

बीसवीं सदी के मध्य में हुए नियो-क्लासिकल अर्थशास्त्र ने राजनीतिक अर्थशास्त्र के विपरीत राजनीति के प्रभाव से स्वतंत्र आर्थिक विज्ञान की वकालत की। इस प्रवृत्ति के बोलबाले के दौर में सम्भवतः जोसेफ़ शुमपीटर की रचना *कैपिटलिज़्म, सोशलज़्म एंड डेमोक्रेसी* एक ऐसी कृति थी जिसमें अंतर्निहित था कि अर्थशास्त्र का अध्ययन राजनीति के अध्ययन से जुड़ा है। बाज़ार की विफलता की रोशनी में

राजनीतिक अर्थशास्त्र ने पिछले कुछ दशकों में अपनी दावेदारी फिर से पेश की है। इसका एक बड़ा प्रमाण उस समय मिला जब दिसम्बर, 2007 में नोबेल पुरस्कार लेते हुए तीन अर्थशास्त्रियों (लियोनिड हुरविज़, एरिक मैस्कन और रोज़र मेयरसन) ने अलग-अलग भाषण दिये। तीनों ने अपने-अपने तरीकों से राजनीतिक संस्थाओं और आर्थिक संस्थाओं के एकीकरण की ज़रूरत को रेखांकित ही नहीं किया बल्कि यह भी कहा कि यह एकीकरण आम तौर पर हो चुका है। उनका कहना था कि आख़िरकार दोनों ही क्रिस्म की संस्थाएँ अपने-अपने क्रिस्म के तंत्रों की नुमाइंदगी करती हैं, उनके बीच परस्पर निर्भरता है, और दोनों ही परिणाम हासिल करने में अनिवार्य भूमिका निभाती हैं। मेयरसन का कहना था कि अर्थशास्त्र को प्रमुखता देनी आवश्यक है, पर यह उसे राजनीति से काट कर नहीं दी जा सकती। प्रत्येक सामाजिक संस्था विभिन्न तरह के प्रोत्साहनों को आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं से मिला कर खड़ी की जाती है। बेहतर सामाजिक संस्था वह होती है जिसमें यह मिश्रण बुद्धिमानीपूर्वक किया जाता है। तभी वह ग़लत निर्णयों और विभिन्न बाधाओं से पार पाने के लिए सक्रिय और समन्वित प्रयास कर पाती है।

इसमें कोई शक नहीं कि अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के अलगाव ने ज्ञान के क्षेत्र को विकसित करने में अहम योगदान किया है। विद्वानों की कई पीढ़ियों ने एक-दूसरे से स्वतंत्र और स्वायत्त अध्ययन करके न जाने कितने सिद्धांतों और विचारों का प्रतिपादन किया है। इस प्रक्रिया में नये और बेहतर विश्लेषणात्मक परिप्रेक्ष्यों में विषय को पुनः परिभाषित किया गया है। लेकिन, व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह अलगाव कभी विशुद्ध आर्थिकी या विशुद्ध राजनीतिक-विज्ञान के विकास का रास्ता नहीं खोल पाया। अब एक बार फिर दोनों के एकीकरण की चर्चा होने लगी है, हालाँकि दोनों ही अनुशासनों के विद्वान पहले से ही परस्परव्यापी क्षेत्रों में कार्यरत हैं। यहाँ तक कि नवउदारतावादी नीतियों में भी यह निर्भरता बढ़ी है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड तांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, लोकोपकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कीसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिक्वाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्वाफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा

अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट कानून, भारत में शोयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाजार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, राजनीतिक अर्थशास्त्र : भारतीय आयाम, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटी, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. जेम्स स्टुअर्ट मिल (1844), *एसेज ऑन द अनसेटलड क्वेश्चंस ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, जेडब्ल्यू पार्कर, लंदन.
2. कार्ल मार्क्स (1867/1976), *कैपिटल : अ क्रिटिक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, पेंगुइन.
3. ए. ड्रैजेन (2000), *पॉलिटिकल इकॉनॉमी इन मैक्रोइकॉनॉमिक्स*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.
4. ए. लिंडबेक (1971), *द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ़ लेफ्ट : ऐन आउटसाइडर्स व्यू*, हार्पर एंड रो, न्यूयॉर्क.
5. ए.एच. मेल्टज़र (1991), *पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क और ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

राजनीतिक अर्थशास्त्र, भारतीय परिदृश्य

(Political Economy, Indian Perspective)

राजनीतिक अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से भारतीय राज्य की आर्थिक सफलताओं और विफलताओं का व्यापक और गहन अध्ययन किया गया है। मोटे तौर पर विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था की समष्टिगत (मैक्रो) तस्वीर अन्य विकासशील देशों के मुकाबले खराब नहीं रही है, पर व्यष्टिगत (माइक्रो) आयामों के लिहाज़ से भारतीय राज्य की विफलताएँ अफ़सोसनाक हैं। यह स्थिति उस ज़माने में भी थी जब वाणिज्य और उद्योग पर ख़ासे सरकारी नियंत्रण थे, और पब्लिक सेक्टर की ज़बरदस्त अहमियत थी। अस्सी के दशक से धीरे-धीरे और नब्बे के दशक में तेज़ी से हटे नियंत्रणों, बाज़ारोन्मुख नीतियों के बोलबाले और पब्लिक सेक्टर के विनिवेशीकरण के बावजूद अर्थव्यवस्था का यह विरोधाभास ख़त्म नहीं हुआ। यह अलग बात है कि अर्थव्यवस्था के समष्टिगत बंदोबस्त की मोटे तौर पर प्रशंसा करने वाले इस दायरे की दो प्रमुख विफलताओं को नज़रअंदाज़ कर देते हैं। भारतीय राज्य की पहली मैक्रो

नाकामी है भूमि-सुधारों का असमान स्तर। बड़े-बड़े इलाकों में भूमि-सुधार आज़ादी के साठ साल बाद भी सिरे से गायब हैं। दूरगामी आर्थिक असर वाले इस उपाय की कसौटी पर भारतीय राज्य की राजनीतिक इच्छा-शक्ति खुद को कसने में कामयाब नहीं हो पायी है। दूसरी मैक्रो नाकामी है आर्थिक सुधारों से पहले और उनके होने के बीस साल बाद भी राजकोषीय घाटे को नियंत्रित न कर पाना। इसका परिणाम अधिरचनात्मक क्षेत्रों में पर्याप्त निवेश न कर पाने की मजबूरी के रूप में सामने आया है।

कुल मिला कर इस परिस्थिति का नतीजा यह निकला है कि आज़ादी के बाद कभी धीमे तो कभी तेज़ गति से हुई आर्थिक वृद्धि का लाभ बड़े और मँझोले व्यापारिक घरानों, बड़े और मँझोले किसानों, वेतनभोगी तबके की ऊपरी सतह और मज़दूर वर्ग के संगठित हिस्से की ऊपरी परत को ही सबसे ज्यादा हुआ है। यही लोग मिल कर भारतीय अभिजन की रचना करते हैं। दूसरी तरफ़ नैशनल सैम्पल सर्वे के आँकड़ों के मुताबिक 1991 यानी आर्थिक सुधार शुरू होने से पहले तक देश के आधे से ज्यादा घर-परिवारों के पास महज़ पचास हज़ार रुपये की सम्पत्तियाँ थीं। देहात में केवल दस फ़ीसदी और शहर में केवल चौदह फ़ीसदी घर ऐसे थे जिनके पास ढ़ाई लाख रुपये से ज्यादा की सम्पत्तियाँ पायी गयी थीं। नैशनल कौंसिल ऑफ़ एप्लायड इकॉनॉमिक रिसर्च के अनुसार सुधार शुरू हो जाने के आठ-नौ साल बाद भी यानी 1998-99 तक देश के केवल बारह फ़ीसदी घरों की आमदनी ही 1.05 लाख रुपये का आँकड़ा पार कर पायी थी। चालीस फ़ीसदी घरों की हालत तो यह थी कि उन्हें केवल 35 हज़ार रुपये प्रति वर्ष की आमदनी पर गुज़र-बसर करनी पड़ रही थी। व्यष्टिगत नाकामियों के कारण भारत अपने नागरिकों को बुनियादी सामाजिक सेवाएँ देने के मामले में कई विकासशील देशों से भी पीछे है। चाहे वे सेवाएँ वयस्क साक्षरता की हों, टीकाकरण अभियान या कुपोषण के खिलाफ़ संघर्ष हो। ग़रीबी घटाने, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के मामले में भारतीय राज्य योजनाएँ बनाने और घोषणाएँ करने में तो अन्य विकासशील देशों से बहुत आगे रहता है, पर परिणामों के मामले में उसे पिछड़ना पड़ता है। अपने घोषित आर्थिक-राजनीतिक लक्ष्यों को न वेध पाने की इस भारतीय कमी पर विद्वानों ने काफ़ी दिमाग़ खपाया है।

राजनीतिक अर्थशास्त्रीय दृष्टि से किये गये एक विश्लेषण के अनुसार अभिजन दायरे में आने वाले विभिन्न तबकों ने आर्थिक वृद्धि का लाभ तो उठाया है, पर वे एकीकृत अभिजन की भूमिका निभाने में नाकाम हैं। भारतीय अभिजन अन्य देशों के अभिजन के मुकाबले सामाजिक रूप से कहीं अधिक बँटा हुआ है। राजनीतिशास्त्रियों के लिहाज़ से यह विभेदीकरण सामूहिक कार्रवाई करने की उसकी क्षमता सीमित कर देता है। पहले तो एक लक्ष्य पर एकमत

होना मुश्किल होता है, और अगर मतैक्य बन भी गया तो उसे वेधने के लिए जरूरी आपसी तालमेल की उपलब्धि नहीं हो पाती। भारतीय अभिजन जानते हैं कि देश की राजनीतिक-आर्थिक समस्याओं की जड़ में अधिरचनात्मक खामियाँ हैं। न हमारे पास जरूरत के मुताबिक बिजली है, न सड़कें हैं, न परिवहन है, न दूरसंचार उतना विकसित है, न ही उतने बंदरगाह हैं और न ही सिंचाई की आवश्यकतानुसार व्यवस्था है। अधिरचनात्मक निवेश को फल देने में लम्बा समय लगता है, और उसके लिए अभिजनों को अपने कुछ लाभ भी छोड़ने पड़ सकते हैं। उन्हें कम क्रीमत पर मिलने वाली बिजली, विश्वविद्यालयी शिक्षा, खाद, सिंचाई, पेट्रोल, डीजल, रसोई और गैस का लोभ छोड़ना होगा, क्योंकि रियायती दरों पर उन्हें मुहैया करायी जाने वाली इन सुविधाओं के कारण अर्थव्यवस्था को लगातार राजकोषीय घाटे के संकट का सामना करना पड़ता है। इससे भारतीय राज्य की अधिरचनात्मक निवेश करने की क्षमता कमजोर पड़ जाती है। अभिजन सब्सिडियों के जरिये मिलने वाले लाभों का एक अंश भी छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। यह एक हकीकत है कि दो-तिहाई सरकारी सब्सिडियाँ अपेक्षाकृत खुशहाल तबके ही खा जाते हैं।

इस समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। लोकतंत्र के विस्तार और गहनता में वृद्धि होने के कारण पिछले कुछ दशकों में समाज के ऐसे हिस्सों को प्रगति करने का मौका मिला है जो कभी मातहत स्थिति में हुआ करते थे, या सामाजिक बहिर्वेशन का शिकार थे। अब ये तबके भी भारतीय राज्य के संसाधनों पर अपनी दावेदारी पेश कर रहे हैं। अभिजन में हाल-फ़िलहाल शामिल हुए ये समुदाय भी सब्सिडियों का लाभ उठाना चाहते हैं। विभिन्न समुदायों के राजनीतिक प्रतिनिधियों के बीच लेन-देन के आधार पर कुशलतापूर्वक हुकूमत चलाने वाली 'कांग्रेस' प्रणाली के खात्मे और उसकी जगह छोटी और क्षेत्रीय पार्टियों के बोलबाले के कारण दीर्घकालीन दृष्टिकोण से नीतियाँ बनाना और उन पर अमल करना मुश्किल होता जा रहा है।

विरोधाभास यह भी है कि अपनी इन कमजोरियों के बावजूद भारतीय राज्य को राजनीतिक अर्थशास्त्र के आईने में अभी तक एक 'ताक़तवर राज्य' के रूप में ही देखा जाता है। इसके पीछे कारण शायद यह है कि कोटा-परमिट राज्य के अपेक्षाकृत खात्मे और आर्थिक सुधारों के बीस वर्ष बाद भी खेतिहर क्षेत्र के बाहर उत्पादन, सम्पत्ति और रोज़गार के संगठित क्षेत्रों में भारतीय राज्य सबसे बड़ा खिलाड़ी बना हुआ है। लेकिन ताक़तवर राज्य वह होता है जो दूरगामी नीतियाँ बना सके और अल्पकालीन क्रिस्म के राजनीतिक दबावों के सामने झुकने से इनकार कर दे। जाहिर है कि भारतीय राज्य ऐसा नहीं कर पा रहा है। मुश्किल यह भी है कि भारतीय राज्य अपनी

आर्थिक विफलता के लिए तक्ररीबन किसी के सामने ठोस रूप से जवाबदेह नहीं है। कहने के लिए चुनाव होते हैं और मतदाता अक्सर तत्कालीन सरकारों को उखाड़ देते हैं, लेकिन आर्थिक प्रश्नों पर चुनावी गोलबंदी के उदाहरण भारत में तलाशने पर भी कठिनाई से मिलेंगे। अस्मिता की राजनीति करने वाला एक नेता हो सकता है कि एक के बाद एक कई चुनाव जीतता चला जाए, पर साथ ही यह भी हो सकता है कि उसके समर्थन आधार की गरिमा, उसके भीतर अशिक्षा का बोलबाला और स्वास्थ्य सेवाओं की बुरी दशा की ज़िम्मेदारी उसी नेता द्वारा की गयी दीर्घकालीन नीतियों की उपेक्षा से जुड़ी हो।

भारतीय संघवाद से जुड़ी दुविधाओं ने भी राजनीतिक अर्थशास्त्र के भारतीय परिदृश्य को प्रभावित किया है। क्षेत्रीय सरकारें एक तरफ़ तो केंद्रीय राजनीति की नियामक बनती जा रही हैं, पर दूसरी तरफ़ केंद्र पर उनकी राजकोषीय निर्भरता भी बढ़ती जा रही है। उन्हें भी अपने राज्य में राजनीति को साधने के लिए तरह-तरह की माँगों के सामने झुकना पड़ता है जिसके कारण उनमें से कई वित्तीय रूप से दिवालिया होने के कगार पर पहुँच चुकी हैं। आर्थिक रूप से सक्षम और अक्षम राज्यों के बीच की खाई लगातार बढ़ती जा रही है।

आर्थिक विकेंद्रीकरण की हालत यह है कि 73वें और 74वें संविधान संशोधन के कारण पंचायतों और स्वायत्तशासी संस्थाओं को अधिकार-सम्पन्न किया जा सका है, पर तीन-चार राज्यों के अलावा कहीं और प्रभावी विकेंद्रीकरण नहीं हुआ है। मीडिया का आकार और राजनीतिक प्रभाव बढ़ने के साथ-साथ सूचना के अधिकार का क़ानून बन जाने के कारण उम्मीद बँधी है कि योजनाओं पर होने वाले खर्च और उसके परिणामों के बीच की खाई के संबंध में सरकारी उत्तरदायित्व में बढ़ोतरी होगी। यह दूसरी बात है कि अभी तक इन दोनों आयामों के सकारात्मक प्रभावों के बारे में जो भी जानकारी मिली है, वह पर्याप्त नहीं है।

बुनियादी सामाजिक सेवाएँ न दे पाने और अपनी ही योजनाओं को लागू न कर पाने की निरंतर अक्षमता के कारण धीरे-धीरे एक राय यह बनती जा रही है कि स्वास्थ्य, शिक्षा आदि के मामले में बेहतर प्रबंधन करने के लिए राज्य को निजी क्षेत्र को मौका देना चाहिए, भले ही इन सेवाओं के लिए निवेश राज्य को ही करना पड़े। प्राइवेट-पब्लिक पार्टनरशिप के तौर पर भी व्यक्त किये जाने वाले इस प्रस्ताव के राजनीतिक फलितार्थों पर अभी तक गम्भीरता से नहीं सोचा गया है।

कुल मिला कर भारत में दिक्कत यह है कि ख़राब गवर्नेंस, दोषपूर्ण मॉनेटरिंग, भ्रष्टाचार, धीमी न्याय-व्यवस्था, काले धन के बोलबाले, बढ़ती हुई ग़रीबी, सामाजिक हितों के बजाय अभिजनों (पूँजीपति, प्रशासक, राजनेता) द्वारा अपने स्वहित के लिए प्रयासरत रहने के कारण अर्थव्यवस्था अल्पविकास और विषमताओं से ग्रस्त रही है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिचरणा, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, लोकोपकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजकशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली।

संदर्भ

1. प्रणव वर्धन (1998), *द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ़ डिवेलपमेंट इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. देवेश कपूर (2010), 'द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ़ स्टेट', नीरजा गोपाल जयल और प्रताप भानु मेहता (सम्पा.), *द ऑक्सफ़र्ड कम्पेनियन टु द पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. ज्यॉ डेज़ और अमर्त्य कुमार सेन (2002), *इण्डिया: डिवेलपमेंट एंड पार्टिसिपेशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. विजय जोशी और आई.एम.डी. लिटिल (1994), *इण्डियाज़ मैक्रोइकॉनॉमिक्स एंड पॉलिटिक्स इकॉनॉमी, 1964-91*, वर्ल्ड बैंक, वाशिंगटन डीसी.
5. अतुल कोहली (1987), *द स्टेट एंड पॉवर्टी इन इण्डिया: द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिफ़ॉर्म*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

राजनीतिक और राजनीति

(Political and Politics)

समाज-विज्ञान में 'राजनीतिक' या 'पॉलिटिकल' महज़ एक गुण अथवा विशेषण का नाम नहीं है जिसका काम किसी अन्य पद के साथ मिल कर उसके राजनीतिक तत्त्व के बारे में बताना भर हो। इसे पाँच विशिष्ट अर्थों के संदर्भ में समझा जाता है : किसी समुदाय द्वारा अपने उत्तम जीवन की प्राप्ति के लिए निर्णय लेने की सामूहिक प्रक्रिया, एक समुदाय द्वारा दूसरे पर अपनी सत्ता आरोपित करने की विधियाँ, समुदाय के कल्याण के लिए राज्य की सत्ता का इस्तेमाल, राज्य की सत्ता

की मदद से एक समूह द्वारा दूसरे पर अपनी सत्ता थोपना और उन मूल्यों की संकल्पना करना जिनके आधार पर कोई समूह अपना जीवन और आचरण चलाना चाहता है। इन पाँचों में मानकीय पहलू भी हैं और अनुभवपरक आयाम भी।

इस पद का इतिहास प्राचीन यूनान से शुरू होता है। यूनानी भाषा में 'पोलिस' का शाब्दिक अर्थ है नगर, पर उसका व्यापक अर्थ एक ऐसी जगह से है जो एक मुश्तरका दुनिया या एक समुदाय से ताल्लुक रखती हो। इस लिहाज़ से पॉलिटिकल का मतलब हुआ उस समुदाय द्वारा या उसमें किया गया कुछ भी, और उसके बारे में या उसमें लिए गये निर्णय और उन्हें लेने की प्रक्रिया। यहाँ निर्णय प्रक्रिया का तात्पर्य फ़ैसले करने की एक खास विधि से है : अर्थात् हिंसा और बल प्रयोग के बिना शब्दों के इस्तेमाल और समझाने-बुझाने के जरिये किये गये निर्णय। राजनीतिक की प्रकृति शब्दों से बनती है, ताक़त से नहीं। इसके दूसरे मतलब का ताल्लुक इससे है कि लिए जाने वाले निर्णय किस बारे में हैं।

पहले संदर्भ में राजनीतिक के तहत न केवल समुदाय के जीवन के बारे में बल्कि अनिवार्यतः उसके उत्तम जीवन के बारे में चर्चा की जाती थी। यह तय किया जाता था कि समुदाय की सदस्यता किसे और क्यों मिलनी चाहिए, उसके ऊपर शासन करने अथवा समुदाय के बारे में बुनियादी निर्णय करने का अधिकार किसे होना चाहिए, संसाधनों का आबंटन किसे और कैसे होना चाहिए। ऐसा सोच-विचार करने में अनुभवपरक और मानकीय विधियाँ पूरी तरह मिल जाती थीं। सामाजिक व राजनीतिक दायरों का, प्राइवेट-पब्लिक का और घर-बाहर का फ़र्क भी मिट जाता था। इसीलिए इस दौर में सामाजिक सिद्धांत राजनीतिक सिद्धांत की भाषा में ही व्यक्ति होता था। उस युग के दार्शनिकों की रचनाओं में राजनीतिक और सामाजिक विषय वस्तुएँ परस्पर गुँथी हुई मिलती हैं।

चूँकि वे तमाम फ़ैसले समुदाय के बुनियादी विषयों के बारे में किये जाते थे और उन्हें करने की प्रक्रिया में माना जाता था कि पूरा समुदाय भागीदारी कर रहा है, इसलिए निर्णय प्रक्रिया समुदाय की सामूहिक ताक़त पर निर्भर करती थी। समुदाय की इस सामूहिक सत्ता का अध्ययन ही राजनीतिशास्त्र, राजनीति विज्ञान या राजनीतिक दर्शन था। लेकिन, जैसा कि हमें पता है कि यूनान के उस निर्णयकारी समुदाय की सामूहिकता में दासों, स्त्रियों और विजातीय तत्वों की भागीदारी नहीं थी। सामूहिकता की वह परिभाषा उस समय के लोगों को स्वाभाविक लगती थी, लेकिन आज हम जानते हैं कि व्यावहारिक रूप में वह कुछ लोगों की कुछ दूसरे लोगों पर सत्ता के अलावा कुछ नहीं थी।

आधुनिक युग में इस सत्ता का तात्पर्य काफ़ी हद तक स्पष्ट हो चुका है। आज सत्ता का अर्थ है कुछ लोगों द्वारा

कुछ दूसरों के हितों के बारे में फ़ैसले लेने का अधिकार ताकि वे उन्हें हाशिये पर डाल सकें, उनका बहिर्वेशन कर सकें, और इस प्रकार उन्हें अपने और अपने भविष्य के बारे में किसी भी तरह का फ़ैसला करने के अधिकार से वंचित कर सकें। इस तरह प्राचीन यूनान में राजनीतिक और राजनीति विज्ञान सत्ता की जिस अवधारणा का अध्ययन करता था उसका मानकीय अर्थ सामुदायिक और सामूहिक सत्ता से था। आधुनिक युग में राजनीतिक विज्ञान द्वारा सत्ता की उन प्रक्रियाओं, तौर-तरीकों और संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है जिनके जरिये लोगों का एक समूह दूसरे समूह को निर्णय प्रक्रिया में भाग लेने से वंचित करता है।

आधुनिकता ने राजनीतिक और राजनीति को एक अन्य अर्थ भी दिया है। इसका संबंध राज्य की संस्था की गतिविधियों से है जिसके तहत समाज को प्रभावित करने वाले सभी निर्णय उससे अलग हो कर एक संस्थागत ढाँचे के तहत किये जाते हैं। जैसे ही राजनीति के केंद्रीय सरोकारों में राज्य को प्रमुखता मिलती है, वैसे ही राजनीतिक में गुंथी हुई सामाजिक की अवधारणा उससे छूट कर अलग हो जाती है। सामाजिक के राजनीतिक से अलग होते ही, राजनीति विज्ञान और राजनीतिक सिद्धांत की अधिकतर ऊर्जा राज्य की विवेचना में खपने लगी है। उसकी विषय-वस्तुएँ सरकार, न्यायपालिका, अधिकारीतंत्र, सेना और पुलिस जैसे राज्य के अंगों के आस-पास गोलबंद होने लगती हैं। दूसरी तरफ़ समाज-विज्ञान और सामाजिक सिद्धांत का काम उन संरचनाओं और संस्थाओं का अध्ययन करना हो जाता है जो राज्य के दायरे के बाहर रहती हैं।

इस विश्लेषण के आधार पर राजनीतिक और राजनीति के चार अर्थ उभरते हैं : पहला, समुदाय के उत्तम जीवन के बारे में निर्णय लेने के लिए सामूहिक सत्ता की अभिव्यक्ति जिसमें राजनीतिक का तात्पर्य सत्ता से भी है और नैतिक मूल्यों से भी। दूसरा, कुछ समूहों द्वारा अन्य समूहों को अधीनस्थ बनाने के लिए सत्ता का इस्तेमाल जिसके पीछे मुख्यतः संकीर्ण उद्देश्य ही होते हैं और जिनके तहत सत्ता और स्वार्थ आपस में मिल जाते हैं। तीसरा, सार्वजनिक कल्याण अथवा मूल्यों को हासिल करने के लिए राज्य की सत्ता का प्रयोग। चौथा, एक समूह द्वारा दूसरे समूह पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए राज्य की सत्ता का प्रयोग।

सवाल यह है कि राजनीतिक के दायरे में ये चारों अर्थ एक साथ कैसे काम कर सकते हैं? पहला और तीसरा आखिर दूसरे और चौथे के साथ कैसे रह सकता है? इसी मुकाम पर मानकीय और अनुभवपरक के बीच एक तरह का विभाजन नज़र आता है। अधीनस्थ समूह निर्णय प्रक्रिया से बाहर कर दिया जाता है, पर इस वंचना के प्रभाव में वह एक

ऐसे जगत की कल्पना और रचना का कार्यक्रम ले सकता है जिसमें हर व्यक्ति साझे हितों और मूल्यों के आधार पर निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी कर सके। इस तरह पहला और तीसरा तात्पर्य मानकीय और नैतिक बन कर वह हासिल करने की कोशिश करता है जो दूसरे और चौथे के तहत बहुत कम या बिल्कुल ही नहीं प्राप्त हो सकता।

इसी जगह हमें राजनीतिक और राजनीति का एक पाँचवाँ मतलब भी मिलता है। जैसे ही हम राजनीति का इस्तेमाल उन मूल्यों के संदर्भ में करना शुरू करते हैं जिनका संबंध किसी एक नगर या समुदाय के सदस्यों से परे जा कर समग्र मानवता और उसके समान मूल्यों से हो, वैसे ही पोलिस के साथ कॉस्मोपोलिस जुड़ जाता है। इस पाँचवें अर्थ के अंतर्गत ही राजनीति नये मूल्यों और नयी दुनियाओं को कल्पित करने के उद्यम के रूप में उभरती है। ज़ाहिर है कि राजनीति विज्ञान का यह पाँचवाँ अर्थ कमोबेश अमूर्त होगा, और धरती की ठोस हकीकतों से परे भी जाएगा।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमंड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रांसीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकेल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, व्यक्तिवाद, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. राजीव भार्गव, (2008), 'व्हाट इज़ पॉलिटिकल थियरी', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉंगमैन, नयी दिल्ली.
2. टेरेंस बाल, (1989), जेम्स फैर और रसेल एल. हैंसन (सम्पा.), *पॉलिटिकल इन्वोवेशंस ऐंड कंसेप्टुअल चेंज*, केम्ब्रिज, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस.
3. जॉन ड्रायज़ेक, (2006), बीन. होनिंग अऔ ऐन फ़िलिप्स (सम्पा.), *अ हेंडबुक ऑफ़ पॉलिटिकल थियरी*, ऑक्सफ़र्ड, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस.
4. स्टीवन ल्यूक्स, (1979), 'पॉवर ऐंड एथॉरिटी', टॉम बोटमोर और रॉबर्ट निस्वेट (सम्पा.), *अ हिस्ट्री ऑफ़ सोसियोलॉजिकल एनालैसिस*, लंदन, हाइनमैन.

— अभय कुमार दुबे

राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम

(सम्पत्ति, लोकतंत्र और न्याय)

(Feminist Aspects of Political Philosophy)

राजनीतिक दर्शन की दुनिया में नारीवादी सिद्धांतकारों ने उन दायरों को रेखांकित किया है जिन्हें पारम्परिक रूप से अ-अराजनीतिक माना जाता रहा था। उन्होंने परिवार, बच्चों के लालन-पालन, जेंडर, देह, सेक्सुअलिटी और मानवीय संबंधों के इर्द-गिर्द नयी विषय-वस्तुओं का सूत्रीकरण किया। इस प्रक्रिया में नारीवादियों ने जॉन लॉक, कार्ल मार्क्स, जिग्मंड फ्रॉयड के साथ-साथ जॉन रॉल्स जैसे दार्शनिकों की परियोजनाओं को अपनी कसौटी पर कस कर देखा और व्यक्ति और राज्य के अंतःसंबंधों के नये विन्यास के सुझाव दिये।

नारीवादी राजनीतिक दर्शन आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की इस दावेदारी से सहमत नहीं है कि जिस व्यक्ति या इन्डिविजुअल के इर्द-गिर्द उसने अपनी धारणाएँ सूत्रबद्ध की हैं, वह लैंगिक रूप से तटस्थ है यानी व्यक्ति का मतलब स्त्री भी हो सकता है और पुरुष भी। नारीवाद का कहना है कि यह व्यक्ति नामक शै दरअसल केवल पुरुष और पुरुष ही है। इस सिलसिले में कैरॉल पेटमन ने विशेष रूप से जॉन लॉक की रचना *टू ट्रीटाइजिज ऑफ़ गवर्नमेंट* में स्त्रियों को सम्पत्ति के दायरे से बहिष्कृत करने का उल्लेख किया है। पेटमन के मुताबिक लॉक का राजनीतिक सिद्धांत जाहिरा तौर पर रॉबर्ट फ़िलमर द्वारा किये गये पितृसत्ता के बचाव के खिलाफ़ सूत्रबद्ध किया गया था, पर वह अंत में पितृसत्ता के आधुनिक रूप को न्यायसंगत ठहराता हुआ नज़र आता है। लॉक की निगाह में स्त्री और पुरुष के बीच समानता नहीं हो सकती। वे कहते हैं कि स्त्री की हैसियत स्वाभाविक रूप से पुरुष की अधीनस्थ है, और पत्नी की पति के प्रति अधीनता का आधार प्रकृति में है। पेटमन मानती हैं कि लॉक का सिद्धांत तत्कालीन समाज में मौजूद कई सामंती विषमताओं को चुनौती देता है, पर वह परिवार के भीतर मौजूद लैंगिक ऊँच-नीच को प्रश्नांकित करने में दिलचस्पी नहीं दिखाता। इसका कारण यह है कि परिवार सार्वजनिक दायरे से बाहर समझा जाता है, और स्त्री परिवार के दायरे में सीमित रहने के लिए बाध्य है। परिवार निजी और गैर-राजनीतिक दायरे में आता है और उसके भीतर स्त्री की सक्रियता उसे सम्पत्ति, संसाधनों और अधिकारों से वंचित कर देती है। परिणामस्वरूप पुरुष नागरिकता के सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त कर पाता है, और स्त्री पूरी तरह से नागरिक नहीं बन पाती। लॉक के बाद आधुनिक लोकतंत्रों ने लम्बे अरसे तक स्त्रियों को कई नागरिक अधिकारों से महरूम रखा।

उन्हें न तो वोटिंग का अधिकार मिला, और न ही पिता की सम्पत्ति में हिस्सेदारी मिली। हर जगह पुरुष को उनका प्रतिनिधि मान लिया गया। पुरुष को मिले अधिकारों में ही स्त्री के अधिकार निहित समझ लिए गये।

पेटमन का विचार है कि राजनीतिक सिद्धांत सामाजिक और राजनीतिक दायरों की चौहद्दी इस आधार पर तय करता है कि उसमें क्या-क्या शामिल है और क्या-क्या शामिल नहीं है। वह पारिवारिक और नातेदारी के संबंधों को सार्वजनिक जीवन में शामिल नहीं करता। वह सामाजिक स्पेस, जिसमें स्वतंत्र और समान हैसियत वाले व्यक्ति अन्योन्यक्रिया करते हुए अपना काम करते हैं, पारिवारिक दुनिया के लिए अपने दरवाज़े बंद रखता है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर नारीवाद द्वारा परिवार के भीतर सम्पत्ति के वितरण का सवाल उठाया गया है, क्योंकि यह वितरण ही तय करता है कि नागरिक के तौर पर स्त्री का सामाजिक अस्तित्व कैसे परिभाषित होगा। नारीवादियों के अलावा राजनीतिक सिद्धांत ने परिवार की संस्था पर समानता और न्याय के लिहाज़ से ग़ौर करने में हमेशा हिचक दिखाई है।

दक्षिण एशिया के संदर्भों में बीना अग्रवाल ने सरकारी नीतियों के सूत्रीकरण और कार्यान्वयन में व्यक्त होने वाले ऐसे रवैये की आलोचना की है। अपनी रचना *जेंडर ऐंड क्रमांड ओवर प्रॉपटी* में वे बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में कई दक्षिण एशियायी देशों में कार्यान्वित पुनर्वितरणकारी नीतियों की अंतर्निहित प्रवृत्तियों को सामने लाती हैं। अग्रवाल का कहना है कि जब भूमि सुधार होते हैं या किसी अन्य संसाधन का बँटवारा होता है तो ज़मीन के पट्टे परिवार के मुखियाओं को दिये जाते हैं जो आम तौर पर पुरुष ही होते हैं। चूँकि परिवार समानता और न्याय के सार्वजनिक दायरे से बाहर की संस्था है इसलिए पचास और साठ के दशक में भारत, श्रीलंका और पाकिस्तान में लागू की गयी भूमि वितरण की नीतियों के तहत ज़मीन स्वतंत्र रूप से स्त्रियों को नहीं मिल सकी। अग्रवाल दूसरा महत्वपूर्ण सवाल स्वामित्व और नियंत्रण का उठाती हैं। अगर सम्पत्ति के क्रान्ती स्वामित्व के मामले में लैंगिक समानता का ध्यान रखा भी जाता है, तो भी व्यवहार में स्वामित्व मिलने के बावजूद स्त्रियाँ सम्पत्ति पर व्यावहारिक नियंत्रण से वंचित ही रहती हैं। पारम्परिक पूर्वग्रहों और वास्तविक सत्ता संबंधों के कारण ज़्यादातर एशियाई स्त्रियों को ज़मीन पर अपने मालिकाना हक़ की ठोस दावेदारी में दिक्कत आती है। इस तरह स्त्री और सम्पत्ति के समीकरण में न केवल वैधानिक बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक पहलू भी महत्वपूर्ण बन जाते हैं।

नारीवाद ने उदारतावादी लोकतंत्र को भी गहराई से प्रश्नांकित किया है। उसका कहना है कि लोकतंत्र का यह बहु-प्रचलित रूप परिवार और घर के दायरे को

लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के बाहर रखता है, जबकि इस दायरे में श्रम विभाजन से लेकर सत्ता संबंध तक असमान हैं। परिवार और घर को निजी दायरे में डाल देने से वह क्षेत्र राजनीति से अलग पड़ जाता है जिसके कारण उसका लोकतंत्रीकरण सम्भव ही नहीं रह जाता। सार्वजनिक और निजी का बँटवारा भी कुछ इस तरह से किया जाता है कि घरेलू कामकाज और बच्चों के लालन-पालन में स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले श्रम का अवमूल्यन हो जाता है। स्त्री-श्रम के अवमूल्यन की यह प्रवृत्ति अन्य क्षेत्रों में भी जारी रहती है। नारीवादियों ने समानता की उदारतावादी अवधारणा की इस दृष्टि से भी आलोचना की है कि उसके कारण पुरुषों का लैंगिक वर्चस्व और पुष्ट होता है। समानता का मतलब अगर विभेदों को खत्म करना है तो असमान सत्ता संबंधों की परिस्थितियों में इसका परिणाम पहले से हावी पक्ष के प्रभुत्व के सुदृढ़ होने में निकलना लाज़मी है। स्त्री और पुरुष के बीच विभेद खत्म करने का मतलब हक़ीक़त में पौरुष संबंधी मानकों को ही स्त्रियों के लिए कसौटी मान लेना ही हो सकता है। नारीवादियों का दावा है कि अगर लोकतांत्रिक सिद्धांत को वास्तव में समतामूलक बनाना है तो उसके भीतर विभेदों की मान्यता और स्वीकारोक्ति के साथ समतामूलक के आग्रह का समावेश करना होगा। नारीवादी लोकतंत्र में प्राथमिकताओं और हितों को स्वाभाविक रूप से प्रदत्त मानने के भी खिलाफ़ हैं। उसकी जगह वे सशक्तीकरण के विचार को स्थापित करने की तजवीज़ करती हैं ताकि उसके जरिये वे शोषण के प्रति सजग हो सकें, आत्मविश्वास हासिल करते हुए अपनी परिस्थितियों को बदलने की सक्रिय पहलक़दमी कर सकें। ऐसा करने के लिए ज़रूरी है कि स्त्रियाँ लोकतांत्रिक गतिविधियों में अधिक भागीदारी करें, पर ऐसा तभी हो सकता है जब उदारतावादी लोकतंत्र सहभागिता की सीमित रखने के अपने रवैये में संशोधन करे।

नारीवादी दार्शनिक राजनीतिक सिद्धांत में प्रचलित न्याय की उस परिभाषा से सहमत नहीं हैं जिसके आधार में नीतिशास्त्र की सार्वभौम, वस्तुनिष्ठ और निर्वैयक्तिक मान्यताएँ मौजूद हैं। कैरल गिलिंगन ने तर्क दिया है कि व्यक्ति की आत्मपरकता को समझने के दो रास्ते हैं। एक रास्ता वह है जिसे जॉन रॉल्स अपनी रचना *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस* में अपनाते हैं और जिसके मुताबिक़ एक अलग-थलग और अमूर्त क्रिस्म की आत्मपरकता कल्पित की जाती है। दूसरा रास्ता नारीवादियों का है जिसके तहत व्यक्ति की इयत्ता को समझने के लिए एक संयोजी (जुड़ी हुई और जोड़ने वाली) संकल्पना सामने आती है। अमूर्त आत्मपरकता पुरुष के रवैये के अनुकूल है जिसके आधार पर निष्पक्ष, सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ न्याय की अवधारणा उभरती है। लेकिन, स्त्री के भीतर व्यक्ति होने वाली संयोजी आत्मपरकता मुख्यतः

देखभाल, स्नेह और परवाह करने के गुणों पर आधारित है। एक अन्य नारीवादी विद्वान ने न्याय की इन दो अलग-अलग नीतियों के उदाहरण के रूप में इब्राहीम और सेरेस के दृष्टांत पेश किये हैं। वे कहती हैं कि इब्राहीम तटस्थ, सार्वभौम और बुद्धिसंगत उसूलों के लिए अपने बेटे की बलि देने के लिए तैयार हो गये थे, पर सेरेस अपने बेटे की सुरक्षा और देखभाल को प्राथमिकता देते हुए किसी भी सिद्धांत की बलि देने के लिए तैयार दिखती हैं।

कैथरीन मैकिनन और जोआन ट्रोंटो जैसी विदुषियाँ कहती हैं कि इस तरह का द्विभाजन अंत में दोनों लिंगों की वर्तमान रूढ़ छवियों को ही मज़बूत करता नज़र आएगा। आख़िर यह क्यों मान लिया जाए कि पुरुष स्नेह और देखभाल करने के गुणों से वंचित ही होता है? इसी तरह यह क्यों मान लिया जाना चाहिए कि स्त्री के भीतर बुद्धिसंगत, सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ होने की क्षमता हो ही नहीं सकती? यह सही है कि आज की दुनिया में इस तरह का द्विभाजन कई बार हक़ीक़त के तौर पर नज़र आता है, पर असल में यह अट्टारहवीं सदी के बाद युरोप में हुए कई परिवर्तनों का फलितार्थ है। दरअसल, स्त्री की परस्पर संयोजी प्रवृत्ति और पुरुष की स्वायत्त प्रवृत्ति आम तौर पर एक असमान संदर्भ का नतीजा है। इसी असमान संदर्भ के कारण स्त्री और पुरुष के भीतर विषम मूल्यांकन के आधार पर इयत्ता की भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ पैदा होती हैं। संयोजी बोध अपने आप में मूल्यवान है पर उसे इयत्ता के स्वायत्त बोध का आनुषंगिक बनना होगा, न कि उसका प्रतिलोम।

सूज़न मोलर ओकिन ने नारीवादी नज़रिये से न्याय के सिद्धांत को गढ़ने का सबसे जोरदार प्रयास किया है। अपनी रचना *जस्टिस, जेंडर एंड फ़ेमिली* में वे कहती हैं कि न्याय पर होने वाली दार्शनिक चर्चाओं में परिवार के दायरे को शायद ही कोई महत्त्व दिया जाता हो। रॉल्स भी परिवार को अपने विमर्श में शामिल नहीं करते। परिवार को 'निजी' दायरे में मान लिया जाता है, और न्याय को 'सार्वजनिक'। इस हक़ीक़त की कोई परवाह नहीं की जाती कि न्याय का विचार क़ानूनों और संस्थाओं की जिस दुनिया का विधेयक है, वह दुनिया ही परिवार और उसके कामकाज के लिए विधेयक की हैसियत रखती है। आख़िरकार सम्पत्ति, उत्तराधिकार, तलाक़, गोद लेने जैसे क़ानून ही पारिवारिक जीवन को नियंत्रित-संचालित करते हैं। यानी जो सार्वजनिक है उसका सीधा असर निजी दायरे पर पड़ता है। सार्वजनिक दायरे में लोगों का जीवन पारिवारिक दायरे में उनके जीवन के तत्त्वों से रचा जाता है। परिवार के भीतर श्रम का असमान विभाजन बाहर की दुनिया में स्त्रियों के जीवन को तरह-तरह से समस्याग्रस्त करता है। वे उन विषमताओं का शिकार होती जाती हैं जिन्हें सामाजिक परम्पराओं द्वारा पुष्ट किया जाता है। रसोई, बच्चों

के लालन-पालन और घर का कामकाज उनकी ऊर्जा को इस क्रम में सोख लेता है कि वे घर की दहलीज से बाहर के जीवन का आनंद उठाने लायक ही नहीं रह जातीं।

ओकिन की दलील है कि परिवार के भीतर की असमानताओं के प्रति मौन रखने वाला न्याय का कोई भी सिद्धांत अपूर्ण है। उदारता, त्याग, धैर्य और सेवा जैसे गुणों की आड़ में अगर परिवार में अन्याय पाला पोसा जाता है, और बच्चे उसी माहौल में बड़े होते हैं, तो उनके भीतर न्याय-बोध कैसे पैदा हो सकता है? इस पहलू की उपेक्षा करने की गलती रॉल्स ने भी की है। रॉल्स की दुनिया में तो केवल परिवार के पुरुष मुखिया एक साथ बैठ कर न्याय के उसूल को स्वीकार करते नज़र आते हैं। वे परिवार की संस्था को समाज की बुनियादी इकाई मान कर कहते हैं कि न्याय के उसूल उसी के लिए बनाने जरूरी हैं, पर परिवार के भीतर होने वाले अन्याय की चर्चा नहीं करते। ओकिन सुझाव देती हैं कि रॉल्स जिसे 'नाजानकारी का आवरण' कह रहे हैं, उसमें व्यक्ति को यह भी नहीं पता नहीं होना चाहिए कि वह पुरुष है या स्त्री। अपने लिंग को जाने बिना ही उससे उम्मीद की जानी चाहिए कि वह उस परिवार का मूल्यांकन करे जो समाज की बुनियादी संरचना है। तभी वह परिवार के भीतर होने वाली नाइंसाफ़ियों का मूल्यांकन कर पायेगा और केवल तभी न्याय का एक वास्तविक मानवीय विचार सूत्रबद्ध किया जा सकेगा।

नारीवादी राजनीतिक दार्शनिक सत्ता को पितृसत्ता की अवधारणा की रोशनी में परखते हैं। पितृसत्ता प्रभुत्व की एक ऐसी सर्वव्यापी संरचना है जो हर स्तर पर काम करती है। पितृसत्ता के तहत कोई स्त्री व्यक्तिगत स्तर पर सत्तावान भी हो सकती है। लेकिन उसे पितृसत्तात्मक शासन द्वारा तय की गयी सीमाओं में ही काम करना होगा। मसलन, घर के दायरे में स्त्री सास के रूप में तो एक हद तक सत्ताधारी हो सकती है, पर बेटी, बहू, पत्नी या बहिन के रूप में नहीं। हर जगह उसकी स्थिति पुरुष के सापेक्ष और उसके साथ संबंध के तहत ही परिभाषित होने के लिए मजबूर है। अकेली और पृथक् कोई अस्मिता न होने के कारण वह अदृश्य और सत्ता से वंचित होने के लिए अभिशप्त है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नैसी शोर्दरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवाद परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट (1972/1975), *अ विंडीकेशन ऑफ़ द राइट्स ऑफ़ वुमैन*, पेंगुइन बुक्स, हारमंड्सवर्थ.
2. एल. एल्कोफ़ और ई. पॉटर (1993), *फ़ेमिनिस्ट इपिस्टेमोलॉजीज़*, रॉटलेज़, लंदन.
3. एल. एंटनी और सी. विट (सम्पा.) (1993), *अ माइंड ऑफ़ वंस ओन*, वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर, सीओ.
4. नैसी शोर्दरौ (1978), *द रिप्रोडक्शन ऑफ़ मदरिंग*, युनिवर्सिटी ऑफ़ केलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.
5. जे. फ्लेक्स (1983), 'पॉलिटिकल फ़िलॉसफ़ी ऐंड पैट्रियार्कल अनकांशस', सांद्रा हार्डिंग और एम. हिंतिका (सम्पा.), *डिस्कवरिंग रियलिटी : फ़ेमिनिस्ट पर्सपेक्टिवज़ ऑन इपिस्टेमोलॉजी, मेटाफ़िज़िक्स, ऐंड द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ साइंस*, डी. रीडल, लंदन.
6. विल किमलिका (2009), 'नारीवाद', विल किमलिका, समकालीन राजनीति दर्शन, दूसरा संस्करण (अनुवाद : कमल नयन चौबे) पियर्सन नयी दिल्ली.

— श्रुति

राजनीतिक मनोविज्ञान

(Political Psychology)

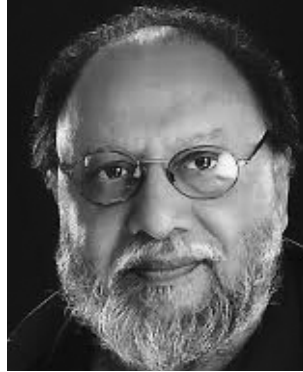
राजनीतिक मनोविज्ञान कोई स्वतंत्र अनुशासन न होकर राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान का एक खास तरह का जोड़ है। इसकी संरचनागत बनावट द्वितीय विश्व-युद्ध के पहले तैयार हुई थी। इसे राजनीतिशास्त्र का एक उप-क्षेत्र भी कहा जाता है। इसके जरिये मनोविश्लेषण का इस्तेमाल करके राजनीतिक नेतृत्व और राजनीतिक प्रवृत्तियों के बारे में गहरी अंतर्दृष्टियाँ विकसित की गयी हैं। इसके अलावा राजनीतिक मनोविज्ञान के औजारों की मदद से वोट डालने का फैसला लेने, जनमत बनाने की प्रक्रिया और प्रतीकों का राजनीति का भी विश्लेषण किया गया है। प्रौद्योगिकी के विकास ने राजनीतिक मनोविज्ञान को नये चरण में पहुँचा दिया है। मानस की गहराइयों में झाँक सकने वाले सवाल (प्रोजेक्टिव क्वेश्चंस) के जरिये लिए गये साक्षात्कारों, प्रवृत्तिमूलक पैमानों (एटीट्यूडनल स्केल्स) और भावनात्मक सूचकांकों (इमोशनल कोशेंट) के चलन के साथ-साथ कम्प्यूटर की अनूठी मदद मिलने से राजनीतिक मनोविज्ञान पहले के मुकाबले समाज-विज्ञान में अपनी दावेदारी अधिक मज़बूती से पेश कर रहा है।

तीस के दशक में हैरल्ड ड्वाइट लैसवेल ने राजनीति में भागीदारी के आधारभूत निजी कारणों की बेहद सृजनशील जाँच करते हुए राजनीतिक विज्ञान (पॉलिटिकल साइंस) और मनोविज्ञान (साइकोलॉजी) के संश्रय से हो सकने वाले बौद्धिक लाभों पर रोशनी डाली थी। लैसवेल को राजनीतिक मनोविज्ञान का पितामह माना जाता है। मनोविश्लेषकों की मदद से तैयार की गयी एडोर्नो की रचना *द एथॉरिटेरियन पर्सनैलिटी* राजनीतिक मनोविज्ञान की एक बेहतरीन कृति है। इसके निष्कर्षों के मुताबिक माँ-बाप द्वारा थोपी गयी दण्डात्मक हिंसा और कठोर अनुशासन के तहत बड़े होने वाले बच्चे आगे चल कर निरंकुश नेताओं के सामने समर्पण करते नज़र आते हैं। ऐसा बचपन गुज़ारने वाले लोग परम्परानिष्ठ होने के साथ-साथ विध्वंसकारी, अंधविश्वासी और अपने व्यक्तित्व के दरवाज़े बंद रखने वाली शिस्तीयतों में विकसित हो जाते हैं। एडोर्नो ने अपना यह काम चालीस के दशक के एकदम आखिर में किया था।

लेकिन, पचास और साठ के दशक में तस्वीर बदल गयी। व्यवहारवादी रुझानों के तहत राजनीतिशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानों के तर्ज पर गढ़ने का उद्यम किया जाने लगा। इस दौर में राजनीतिक मनोविज्ञान को कुछ उपेक्षा के दौर से गुज़रना पड़ा। लेकिन जैसे ही कोरे व्यवहारवाद की सीमाएँ साफ़ हुईं, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका और निजी धरातल पर उसकी चालक-शक्ति रेखांकित करने के लिए एक बार फिर राजनीतिशास्त्रियों को मनोविज्ञान के औज़ारों की तरफ़ देखना पड़ा। भारतीय राजनीतिशास्त्र में भी प्रशिक्षित मनोविदों ने योगदान किया है। इनमें आशिस नंदी और सुधीर कक्कड़ प्रमुख हैं। इसी तरह भारत के प्रमुख राजनीतिशास्त्री रजनी कोठारी ने मनोविज्ञान की मदद लेकर भारतीय राजनीतिक शिस्तीयत के समाजीकरण का सूत्रीकरण किया है।

चाहे समाजशास्त्र हो या राजनीतिकशास्त्र, इन अनुशासनों में इस बात को लेकर विवाद होता रहा है कि सामूहिकता के व्यक्तिगत आयामों पर कितना ध्यान दिया

जाना चाहिए। जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने कहा था कि सामूहिक रूप से किया गया कोई भी आचरण, भले ही वह राजनीतिक क्यों न हो, व्यक्तिगत सक्रियताओं और अन्योन्यक्रियाओं का ही योगफल होता है। अमेरिकी लोकतंत्र के फ्रांसीसी अध्येता टॉकवील ने भी राजनीतिक प्रणालियों के कामकाज की पड़ताल करते समय उनमें अंतर्निहित मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया था। मनो



(दायें से) हैरल्ड ड्वाइट लैसवेल (1902-1978), सुधीर कक्कड़ (1938-), आशिस नंदी (1937-) और कर्ट लेविन (1890-1947)

विश्लेषण (साइकोएनालिसिस) को राजनीतिक विश्लेषण के लिए इस्तेमाल करने की सम्भावनाओं का सुराग इस सिद्धांत के जनक फ्रॉयड की रचनाओं से मिलता है। फ्रॉयड ने लियोनार्डो द विंची की मनोवैज्ञानिक जीवनी लिखने के लिए उनके मानस में झाँक कर यह पता लगाने की कोशिश की थी कि युरोपीय ज्ञानोदय के इन अनूठे महारथी की रचनात्मकता के स्रोत कहाँ निहित थे। फ्रॉयड द विंची द्वारा देखे गये एक सपने का विश्लेषण करके नतीजा निकाला था कि उनकी सृजनशीलता का उद्गम उनकी दमित समलैंगिक यौन-कामनाओं में निहित था। फ्रॉयड की इस रचना ने

मनोवैज्ञानिक जीवनी लिखने की विधा का ही सूत्रपात कर दिया।

फ्रॉयड से प्रेरणा लेकर कर्ट लेविन ने बच्चों के तीन अलग-अलग समूहों की गतिविधियों का बारीक अध्ययन करके यह पता लगाने की कोशिश की कि नेतृत्व की निरंकुश क्रिस्म, मनमौजी क्रिस्म और लोकतांत्रिक क्रिस्म के फलितार्थ क्या-क्या हो सकते हैं। लेविन जानना चाहते थे कि हिटलर के नेतृत्व में ऐसी क्या मोहक-शक्ति थी जिसके कारण उसके साथी हर हालत में उसके अनुयायी बने रहते थे। लेविन ने देखा कि नेतृत्व की निरंकुश प्रवृत्तियों की चुगली खाने वाला बच्चों का दल कठोर परिश्रमी तो है, पर उसे निगरानी की ज़रूरत रहती है। दूसरे, वह बच्चों के दूसरे दलों के मुकाबले तीस गुना ज़्यादा आक्रामक है, वह अपनी ही चीज़ें नष्ट कर डालता है और उसकी जिम्मेदारी दूसरों पर डालने से नहीं हिचकता। इस तरह से वह अपनी कुटाएँ, अपना गुस्सा और

अपनी आक्रामकता कमजोर बच्चों पर निकालता है।

अनुसंधान का यह सिलसिला लैसवेल की रचनाओं में अपने चरम पर पहुँचा। उन्होंने राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान को स्पष्ट रूप से जोड़ते हुए अपना विमर्श तैयार किया। उनका दावा था कि व्यक्ति अपने मनोगत द्वंद्वों को अपने से बाहर मौजूद राजनीति की दुनिया पर प्रक्षेपित करता है जिसके गहरे और दूरगामी नतीजे निकलते हैं। लैसवेल के बाद राजनीतिक मनोविज्ञान का विकास उनके दिखाये हुए रास्ते पर ही हुआ। लेकिन उनके प्रभाव से अनुसंधान की प्रक्रिया में एकतरफापन भी आया। आज भी राजनीतिक मनोविज्ञान व्यक्ति के मानसिक द्वंद्वों के राजनीति पर पड़ने वाले असर की तो जाँच करता है, पर राजनीति के व्यक्ति के मानस पर पड़ने वाले प्रभाव की उपेक्षा कर देता है।

इस एकतरफापन के बावजूद इस हकीकत से इनकार नहीं किया जा सकता है कि राजनीतिक मनोविज्ञान ने कई मशहूर राजनीतिक हस्तियों (जैसे बुद्धो विल्सन, हिटलर, स्तालिन) और उनके द्वारा किये गये फैसलों के भीतरी कारणों का पता लगाने में कामयाबी हासिल की है। साथ ही इस अनुशासन के तहत कई बार निजी इरादों और उनके सामाजिक फलितार्थों के बीच संबंध को उघाड़ा जा सका है। इस तरह के अध्ययनों के आधार पर विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि राजनेता सामान्य लोगों से भिन्न कुछ अलग तरह के व्यक्ति होते हैं। उन्हें एक-दूसरे के खिलाफ खड़े विकल्पों में से किसी एक को चुनने का जोखिम उठाना पड़ता है, वे हमेशा जीत या हार की जद्दोजहद में फँसे रहते हैं, और अक्सर उनके लिए हुए फैसलों के पीछे न्याय या निष्पक्षता के आग्रह भी देखे जा सकते हैं। इस लिहाज से राजनीतिक मनोविज्ञान ने राजनेताओं के जीवन में कई तरह की चालक-शक्तियों की शिनाख्त की है : प्रतिष्ठा या हैसियत पाने की लालसा, ठोस मुद्दों के लिए काम करने का रुझान, मित्रता और सहकार की आवश्यकता, नैतिक दायित्व पूरा करने का आग्रह, राजनीतिक अखाड़े में जम कर प्रतियोगिता करने की इच्छा, कमतर होने के एहसास का मुकाबला करने के लिए राजनीतिक जीवन का आसरा लेना और जीवन की एकरसता खत्म करने के लिए प्रेरणादायक लक्ष्यों का चुनाव। जरूरी नहीं कि किसी एक नेता में ये सभी रुझान पाये जायें। इन आग्रहों के विभिन्न विन्यास हो सकते हैं जिनसे अलग-अलग राजनीतिक शिखरियों का जन्म हो सकता है। मसलन, एक विनम्र संन्यासी की भाँति क्रांति का आह्वान करने वाला नेता अपने नैतिक उग्रवाद को कसौटी की तरह पेश करने वाले नेता से भिन्न हो सकता है। बावजूद इसके दोनों ऊपर से देखने में एक से लग सकते हैं। इसी तरह अपने ही ऊपर मुग्ध रहने वाले नेता और जनता के विभिन्न तबकों को आसानी से लुभा लेने वाले नेताओं में भी फ़र्क़ होता है।

मतदाता द्वारा वोट डालने का फैसला करने की प्रक्रिया के जो भी अध्ययन हुए हैं, उन पर भी मनोविज्ञान के अनुशासन की स्पष्ट छाप है। 1960 में एक समाज-मनोविद फ़िलिप कनवर्स ने *अमेरिकन वोटर* नामक रचना प्रकाशित की। इसके मुताबिक़ मतदाता द्वारा लिया गया निर्णय काफी-कुछ उन राजनीतिक निष्ठाओं और परिप्रेक्ष्यों से प्रभावित होता है जिनके बीच उसका लालन-पालन होता है। इस प्रक्रिया में पास-पड़ोस, शिक्षा, जातीय-धार्मिक-वर्गीय निष्ठाएँ भी अहम भूमिका निभाती हैं। राजनीतिक मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य के ही तहत एक भिन्न सूत्रीकरण के अनुसार वोटर आम तौर पर टूटे-फूटे राजनीतिक ज्ञान का शिकार होने के कारण बचकाना रवैया अपनाता है। उसे ग़लत, अप्रासंगिक और अपूर्ण सूचनाओं की खुराक दी जाती है, और वह मीडिया या चुनाव-मुहिम के शोरगुल में डूब कर अपने फैसले लेता है। इसके ठीक विपरीत एक तीसरा सूत्रीकरण मान कर चलता है कि मतदाता में बुद्धिसंगत निर्णय लेने की क्षमता होती है। यह थियरी मतदाता को एक ऐसे उपभोक्ता की तरह देखती है जो ख़रीद-फ़रोख़्त करने से पहले फ़ायदे-नुक़सान का विश्लेषण करने में यत्नी करता है।

देखें : एरिक फ़्रॉम, कार्ल गुस्ताव युंग, ज़ाक लकाँ, जिंमंड फ़ॉयड-1 और 2. मनोविज्ञान-1 और 2, मनोविश्लेषण, मनोविश्लेषण और नारीवाद।

संदर्भ

1. हैरल्ड लैसवेल (1930), *साइकोपैथालॉजी एंड पॉलिटिक्स*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.
2. थियोडोर एडोर्नो वगैरह (1950), *द एथॉरिटेरियन पर्सनैलिटी*, हार्पर, न्यूयॉर्क.
3. बी. ग्लैड (1991), 'पॉलिटिकल साइकोलॉजी : व्हेयर हैव वी बीन? व्हेयर आर वी गोइंग?', डब्ल्यू. क्रोटी (सम्पा.), *पॉलिटिकल साइंस : लुकिंग टु द फ्यूचर* (खण्ड 3), नार्थवेस्टर्न युनिवर्सिटी प्रेस, इवांस्टन, आईएल.
4. जी. सियर्स, एल. हडी और आर. जेरविस (2003), *ऑक्सफ़र्ड हैंडबुक ऑफ़ साइकोलॉजी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड, यूके.
5. एम. एल्डमैन (1985), *द सिम्बोलिक यूज़ ऑफ़ पॉलिटिक्स*, युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉइ प्रेस, शिकागो.

— अभय कुमार दुबे

राजनीतिक समाज

(Political Society)

राजनीतिक समाज की अवधारणा भारतीय समाज-वैज्ञानिक पार्थ चटर्जी की देन है। इसके जरिये उन्होंने नागर समाज की सीमाओं को स्पष्ट करते हुए कम आमदनी पर गुजर-बसर करने वाले अधिकार-वंचित तबकों के दैनंदिन जीवन-संघर्ष और उसकी राजनीति का सिद्धांतीकरण किया है। पार्थ चटर्जी राजनीतिक समाज के आईने में भारतीय राज्य के बदले हुए चरित्र की भी शिनाख्त करते हैं। इस विचार के मुताबिक राजनीतिक समाज के दायरे में ऐसे लोग (जैसे झुग्गीवासी, रिक्शा चालक, फ़ेरी और रेहड़ी-पटरी लगा कर ज़िंदगी गुज़ारने वाले देहाती और शहरी ग़रीब) आते हैं जिनके साथ सरकार और उसकी वैधानिकता पूर्णतः अधिकारसम्पन्न नागरिकों जैसा सुलूक करने के लिए तैयार नहीं होती। हालाँकि भारत में पैदा होने के नाते उनके पास संविधानसम्मत नागरिकता है, पर उसके बावजूद राज्य की निगाहों में उनकी रिहाइश और रोज़ी वैधानिकता के हाशिये पर रहती है। परिणामस्वरूप उन्हें नागर समाज की सदस्यता का मौक़ा नहीं मिल पाता। दिलचस्प बात यह है कि सम्पूर्ण वैधानिकता का उपभोग न करने के बावजूद आबादी के बड़े-बड़े हिस्सों का निर्माण करने वाले इन समुदायों के लिए सरकार को कोई न कोई नीति बनानी पड़ती है। उन्हें राज्य प्रदत्त सुविधाएँ मिलती तो हैं, पर इस तरह नहीं कि उन सुविधाओं के जरिये वे नियमित नागरिकों की श्रेणी में आ जाएँ। पार्थ चटर्जी का तर्क है कि नागर समाज पर हावी शहरी मध्य-वर्ग के मानस पर कॉरपोरेट पूँजी ने अपना दबदबा क़ायम कर लिया है, जबकि यह राजनीतिक समाज ग़ैर-कॉरपोरेट पूँजी की नुमाइंदगी करता है। राजनीतिक समाज के लोग अनौपचारिक क्षेत्र में तो आते हैं, पर इसका मतलब यह नहीं निकाला जा सकता कि वे किसी भी तरह के संगठन से वंचित हैं। यह ज़रूर है कि उनकी गतिविधियाँ पूँजी संचय के तर्क के मुताबिक संचालित नहीं होतीं, पर उनके पास अपने हितों को बुलंद करने के लिए अक्सर बड़े-बड़े और प्रभावी संगठन होते हैं।

2004 में प्रकाशित अपनी कृति *द पॉलिटिक्स ऑफ़ गवर्नर्स : रिफ्लेक्शंस ऑन पॉलिटिकल सोसाइटी इन मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड* में पार्थ चटर्जी ने राजनीतिक समाज का सिद्धांत पेश किया है। वे भारतीय राजनीतिक जीवन को दो दायरों में बाँट कर देखते हैं : नागर समाज और राजनीतिक समाज। नागर समाज वह है जिसकी रचना विधिसम्मत और सुपरिभाषित घटकों से मिल कर हुई है। इसका गठन पूँजीवादी लोकतंत्र के क्लासिकल मॉडल की तरह हुआ है। यह समाज सामाजिक महत्त्वाकांक्षाओं से लैस उन शिक्षित

और पेशेवर तबकों से भरा हुआ है जिन्होंने अपनी क्रिस्मत की डोर कॉरपोरेट पूँजी के भविष्य से बाँध ली है। इस समाज के सदस्य नागरिक होने के लिए क़ानूनी अधिकारों पर ज़ोर देते हैं। उनका आग्रह होता है कि सार्वजनिक स्थानों और संस्थाओं को स्थापित शिष्टाचार के आधार पर चलाया जाना चाहिए। ये लोग अनौपचारिक क्षेत्र से जुड़ी अव्यवस्था और अराजकता को सख्ती से नापसंद करते हैं। दूसरी तरफ़ राजनीतिक समाज है जिसकी गतिविधियाँ पूँजीपति वर्ग द्वारा स्थापित मानकों के मुताबिक नहीं चलतीं। किसी भी शिक्षित और शहरी मध्यवर्गीय की तरह नागरिक होने के बावजूद इस समाज के सदस्यों को सरकारी एजेंसियों से अपने हक़ और सुविधाओं के लिए जद्दोजहद करनी पड़ती है। सरकार इन लोगों के साथ संवैधानिक रूप से परिभाषित अधिकारों और क़ानूनों के स्थिर दायरे में संवाद नहीं करती। सरकारी एजेंसियाँ उन्हें एक तरह के अस्थायी, वक्र के मुताबिक बदलते रहने वाले और अस्थिर बंदोबस्त के तहत देखती हैं।

पार्थ चटर्जी का कहना है कि नागर समाज से इतर मौजूद राजनीतिक समाज ही भारत को पश्चिमी लोकतंत्रों की प्रतिकृति होने से बचाता है। हमारे देश में होने वाली लोकतांत्रिक राजनीति का ज़्यादातर हिस्सा इसी समाज के सदस्यों से बनता है। पूँजीपति वर्ग की नैतिक-राजनीतिक अगुआई से मुक्त राजनीतिक समाज की अवधारणा का इस्तेमाल पार्थ चटर्जी ने यह दिखाते में भी किया है कि इसके कारण भारतीय 'पैसिव रेवोल्यूशन' की संरचना बदल गयी है। सुदीप्त कविराज ने ग्राम्शी प्रदत्त पैसिव रेवोल्यूशन की अवधारणा का सहारा ले कर यह दिखाया था कि उत्तर-औपनिवेशिक भारत में प्रभुत्वशाली वर्गों का विन्यास भारत की विशेष स्थितियों के कारण अलग तरह का है। चूँकि कोई भी वर्ग अपना एकांत वर्चस्व क़ायम करने लायक ताक़त नहीं रखता, इसलिए इन वर्गों को वर्चस्व में साझेदारी करनी पड़ रही है। कविराज ने औद्योगिक पूँजीपतियों, ग्रामीण अभिजन और नौकरशाह-प्रबंधकीय प्रभुवर्ग के सापेक्षिक उभार और गिरावट के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन करते हुए कहा था कि इनके साझे वर्चस्व के भीतर हमेशा एक खींचातानी चलती रहती है। यह प्रतियोगिता जिस राजनीतिक स्पेस में घटित होती है, उसका संचालन औद्योगिक या ग्रामीण पूँजीपतियों के असर से काफ़ी-कुछ आज़ाद भारतीय राज्य के हाथों में है। चटर्जी कहते हैं कि अब ऐसी स्थिति नहीं रही। भारतीय राज्य अब स्वायत्त न रह कर कॉरपोरेट पूँजी के नैतिक-राजनीतिक वर्चस्व के तले आ गया है। पार्थ चटर्जी के मुताबिक केंद्र और राज्यों की सरकारों पर नियंत्रण करने के लिए कॉरपोरेट पूँजी राजनीतिक दलों और चुनावी गोलबंदी के बजाय नौकरशाह-प्रबंधकों, मुद्रित व दृश्य-श्रव्य मीडिया और न्यायपालिका वगैरह का इस्तेमाल करती है। राजकीय क्षेत्र पर इस पूँजी का रुतबा इस क्रूर छ़ा गया है कि



पार्थ चटर्जी (द पॉलिटिक्स ऑफ़ द गवर्नर्स : रिफ्लेक्शंस ऑन पॉलिटिकल सोसाइटी)

मार्क्सवादी समेत तक्ररीबन सभी तरह की पार्टियाँ निजी निवेश पर आधारित तेज़ आर्थिक विकास की रणनीति पर सहमत हो गयी हैं।

चटर्जी के मुताबिक राजनीतिक समाज एक ऐसी संरचना है जो ग्राम्शी की निष्क्रिय क्रांति से बाहर खड़ी है। नागरिक होते हुए भी सरकार द्वारा पूर्ण नागरिकता के वाहक न समझे जाने वाले तबकों को अपनी रिहाइश और रोज़ी-रोटी की गारंटी के लिए बड़ी-बड़ी एसोसिएशनों और संगठन बनाने पड़ते हैं ताकि पालिका अधिकारियों, पुलिस, ऋणदाता बैंकों वगैरह से निबटा जा सके। ये एसोसिएशनों मुनाफ़े, आधुनिक बाज़ार, माँग और सरकारी स्पेस की स्थितियों के मुताबिक कार्यरत रहती हैं। एक इलाक़े में रेहड़ी लगाने वालों का संगठन नये खोमचे वालों को वहाँ नहीं घुसने देता ताकि उसके सभी सदस्यों की रोज़ी ठीक से चलती रहे। लेकिन अगर धंधा अच्छा चल रहा है तो वह नये लोगों को भी उसमें साझा करने देगा। यह प्रवृत्ति कॉरपोरेट पूँजी से अलग है जिसकी दिलचस्पी अपने संचय में होती है। एसोसिएशनों का स्थानीय राजनेताओं, इलाक़े के प्रभावी राजनीतिक दलों और उनके ज़रिये सत्ता के सोपानों से ताल्लुक़ रहता है। राजनीतिक समाज के ये संगठन एक साथ आर्थिक और राजनीतिक भूमिकाएँ निभाते हैं।

राजनीतिक समाज का यह मॉडल अगर कॉरपोरेट पूँजी और नागर समाज से भिन्न है, तो यह सहकारी आंदोलन और कम्युनिस्ट सरकारों द्वारा चलाये गये सामूहिकतावादी

प्रयोगों से भी मेल नहीं खाता। चटर्जी को लगता है कि राजनीतिक समाज की संरचनाएँ शहरों के अनौपचारिक क्षेत्र में अधिक प्रभावशाली हैं। ग्रामों में इनकी स्थिति कमजोर है। इसका मतलब यह हुआ कि देहात में छोटे और भूमिहीन किसान बहुत हद तक अपने टिके रहने के लिए प्रत्यक्ष सरकारी मदद पर निर्भर हैं। इस स्थिति का ताल्लुक़ किसानों की आत्महत्याओं और उद्योगों के लिए ज़मीन अधिग्रहण करने से जुड़े विवादों से है।

पार्थ चटर्जी का यह भी दावा है कि राजनीतिक समाज को शासकीयता के अराजनीतिकृत विचार की रोशनी में नहीं देखा जाना चाहिए। राजनीतिक समाज केवल लाभों और सेवाओं के यांत्रिक विनिमय के दायरे में ही सक्रिय नहीं रहता। सरकार से अपनी माँगें मनवाने के लिए उसे अक्सर प्रत्यक्ष सामूहिक राजनीतिक कार्रवाई (जो परिस्थिति के अनुसार जुझारू और हिंसक भी हो सकती है) का आसरा लेना पड़ता है। सरकार उसकी बात अक्सर मजबूरन ही मानती है, और मानते हुए भी उसे नियम के मुताबिक़ न कह कर अपवाद करार देती है। अगर कुछ लोगों ने किसी ज़मीन पर ग़ैर-क्रान्ती क्रब्ज़ा कर लिया है या उसे जोतने लगे हैं, अथवा अगर कुछ लोग किसी सड़क की पटरी पर सामान बेचते रहने के बाद उसे अधिकार की तरह पेश करने लगे हैं, तो एक तरह वे सरकार को निर्मंत्रित करते हैं कि वह उन्हें अपवाद मान कर ऐसा करते रहने की इजाज़त दे दे।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, आधुनिकता, अरविंद घोष, आधुनिकीकरण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, जातियों का राजनीतीकरण, धीरूभाई शेट, पार्थ चटर्जी, बंगाल का नवजागरण, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारत में सामाजिक आंदोलन, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, रजनी कोठारी, राज्य-1 और 2, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, राजा राममोहन राय, विवेकानंद, विनायक दामोदर सावरकर, सुदीप्त कविराज, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक, सामाजिक आंदोलन।

संदर्भ

1. पार्थ चटर्जी (2004), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ द गवर्नर्स : रिफ्लेक्शंस ऑन पॉलिटिकल सोसाइटी इन मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. सुदीप्त कविराज (1989), 'ए क्रिटीक ऑफ़ पैसिव रेवोल्यूशन', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीक्ली*, खण्ड 23, अंक 45-7.

— अभय कुमार दुबे

राजनीतिक समाजशास्त्र

(Political Sociology)

राजनीतिक समाजशास्त्र सामाजिक विन्यास के राजनीतिक परिणामों और राजनीतिक विन्यास के सामाजिक परिणामों पर ध्यान देता है। पार्टियों हों, दबाव-समूह हों या सामाजिक आंदोलन, हर क्रिस्म का राजनीतिक कर्ता अपनी कार्रवाइयाँ एक व्यापक सामाजिक संदर्भ में करता है। इस प्रक्रिया में वह जेंडर, वर्ग और राष्ट्रीयता जैसी सामाजिक संरचनाओं को प्रभावित करता है, और बदले में वे संरचनाएँ उस पर प्रभाव डालती हैं। चूँकि ये संरचनाएँ असमान हैं इसलिए उनके बीच सत्ता का बँटवारा भी लाजमी तौर पर असमान रहता है। किसी राजनीतिक समाजशास्त्री के लिए यह सत्ता उस क्षमता का नाम है जिसके जरिये किसी लक्ष्य की प्राप्ति का या किसी हित को साधने का प्रयास किया जाता है, भले ही वह लक्ष्य या हित किसी अन्य के लक्ष्य या हित के टकराव में हो। इस लिहाज से राजनीतिक समाजशास्त्री हित-समूहों, राज्य की रचना-प्रक्रिया, पुराने और नये सामाजिक आंदोलनों, वर्गीय आधार, जनमत, अभिजनों, मजदूर संगठनों, नागर समाज और राजनीतिक सहभागिता जैसी विषय-वस्तुओं का अध्ययन करते समय सत्ता और प्रभुत्व की संरचनाओं को रेखांकित करते हैं। वे पता लगाते हैं कि सामाजिक जीवन में सत्ता किस तरह काम करती है; व्यक्तियों, संगठनों, समुदायों और देशों में उसका बँटवारा किस तरह से होता है; और सत्ता के किसी भी बँटवारे के सामाजिक कारण और फलितार्थ क्या हो सकते हैं। राजनीतिक समाजशास्त्र दो विकसित अनुशासनों का संकर रूप है, इसलिए मुख्य तौर पर समाजशास्त्र में प्रशिक्षित विद्वान राजनीतिक समाजशास्त्री की भूमिका निभाते समय 'सोसियोलॉजी ऑफ़ पॉलिटिक्स' का परिप्रेक्ष्य अपनाते नज़र आते हैं, और दूसरी तरफ़ मुख्यतः राजनीतिशास्त्र में प्रशिक्षित समाज-वैज्ञानिक 'पॉलिटिकल साइंस ऑफ़ सोसाइटी' के नज़रिये का इस्तेमाल करते हैं।

उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी की शुरुआत के कई समाज-वैज्ञानिकों के विमर्श में राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का रचनात्मक संश्रय दिखाई पड़ता है। मार्क्स,

स्पेंसर, वेबर, पार्संस और दुर्खाइम की रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इस संकर अनुशासन को उस समय अपने विस्तार का काफ़ी मौक़ा मिला जब आधुनिकीकरण का प्रत्यय और उसकी प्रक्रिया सदी का केंद्रीय आयाम बन कर उभरी। राजनीतिक समाजशास्त्रियों की पहली पीढ़ी के प्रमुख हस्ताक्षर थे गैब्रियल आलमोंड, सेमूर मार्टिन लिपसेट, स्टाइन रोक्कन और रॉबर्ट दाहल। इन लोगों ने पूँजीवादी समाज में लोकतंत्र की सम्भावनाओं का आकलन करने के लिहाज से सत्ता के बँटवारे पर सामाजिक विन्यास के प्रभाव का अध्ययन किया। इस विमर्श के गर्भ से तीन तरह की सैद्धांतिकियाँ निकलीं : अभिजन सिद्धांत, बहुलवादी सिद्धांत और वर्ग आधारित सिद्धांत।



गैब्रियल ए. आलमोंड (1911-2002)

अभिजन सिद्धांत इस विश्वास पर आधारित है कि आधुनिक समाज में विभिन्न समूह लगातार सत्ता और प्रभुत्व की जद्दोजहद में लगे रहते हैं। टकराव के इन सिलसिलों के कारण समाज प्रभुत्व स्थापित करने वालों और प्रभुत्व स्वीकार करने वालों में बँट जाता है। परिणामस्वरूप एक अभिजन वर्ग की रचना होती है। चूँकि समाज भी समरूप नहीं है, इसलिए यह अभिजन भी समरूप नहीं होता। उसके भीतर भी एक मथानी सी चलती रहती है। अभिजन एक-दूसरे को प्रतिस्थापित करते रहते हैं। साथ में पुराने और नये अभिजन का एक-दूसरे के साथ अभिन्न जुड़ाव भी होता है। यह परिघटना व्यापक समाज में भी घटित होती है, और राजनीतिक पार्टियों जैसे संगठनों में भी। आधुनिकीकरण के तहत होने वाला समाज-परिवर्तन इसी तरह आगे बढ़ता है।



सेमूर मार्टिन लिपसेट (1922-2006)

बहुलवादी सिद्धांत आधुनिक समाज को एक बेहद पेचीदा और विभेदित संरचना के रूप में देखता है। इसलिए एक ही क्रिस्म का अभिजन सभी जगह सत्ता हासिल नहीं करता, बल्कि तरह-तरह के अभिजन विभिन्न क्षेत्रों में सत्ता हासिल करते हैं। इनमें आपस में टकराव तो होता है, लेकिन बहुलवादी सिद्धांतकारों के मुताबिक यह टकराव लोकतंत्र के लिए हानिकारक नहीं होता। उल्टे प्रगति की सम्भावना खुलती है और विभिन्न समूहों के हित सधते हैं। अभिजनों के बीच का टकराव विनाशकारी रूप न ग्रहण कर ले, इसलिए इन सिद्धांतकारों ने सामाजिक समूहों के परस्पर-व्यापी होने पर जोर दिया है। अगर ऐसा होगा तो इस विमर्शकारों के

मुताबिक आधुनिकीकरण का परिणाम लोकतंत्रीकरण में निकलेगा।

वर्ग आधारित सिद्धांत ने अपनी प्रेरणाएँ पारम्परिक मार्क्सवाद से ग्रहण नहीं की। उसके लिए वर्ग के मुख्यतः दो मतलब हैं : औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रिया में किसी का स्थान कहाँ है (जैसे मजदूर वर्ग), और सामाजिक तारतम्यता में किसका क्या मुकाम है (जैसे मध्य वर्ग या शासक वर्ग)। मोटे तौर पर इन सिद्धांतकारों की मान्यता है कि आधुनिकीकरण न केवल समाज की जटिलता और विभेदीकरण में बढ़ोतरी करता है, उसके कारण उत्पादन क्षमता और अमीरी भी बढ़ती है। परिणामस्वरूप वर्ग-संघर्ष मंद हो जाता है और वितरणमूलक समझौतों की आवश्यकता बढ़ती चली जाती है। उभरता हुआ मध्य वर्ग राजनीतिक अधिकारों की दावेदारी करता हुआ लोकतांत्रिक मूल्यों को प्रोत्साहन देने लगता है। इन तमाम पहलुओं के मिले-जुले असर के कारण ऊँचे आर्थिक विकास के दौर से गुजर रहे देशों में लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया समृद्ध होती है।



रॉबर्ट एलन डाल (1915-)

जाहिर है कि ये तीनों सैद्धांतिक रवैये अलग-अलग मुकामों से किये गये अध्ययनों के निचोड़ के तौर पर सामने आये थे। तीनों में एक प्रवृत्ति समान थी कि वे पूँजीवादी समाज और उदारतावादी लोकतंत्र को ही क्रमिक मानवीय विकास के अंतिम लक्ष्य के तौर पर देख रहे थे। इस प्रयोजनमूलकता को सख्ती से आड़े हाथों लिया गया। इसे विचारधारात्मक रूप से पक्षपातपूर्ण और ज्ञानमीमांसा के लिहाज से अनावश्यक क्रार दिया गया। आलोचना के सिलसिले ने तीन वैकल्पिक सैद्धांतिकियों को जन्म दिया।

पहला वैकल्पिक सिद्धांत मार्क्सवाद की देन था। इसके पैरोकारों ने दावा किया कि पूँजीवाद और उदारतावादी लोकतंत्र मानव समाज का अंतिम लक्ष्य न हो कर महज एक संक्रमणकालीन चरण है। मार्क्सवादियों ने राज्य की संस्था की रचना और उसके विकास पर विशेष ध्यान दिया। साथ ही उन्होंने सत्तामूलक सामाजिक-आर्थिक विषमताओं को रेखांकित करने का फ़ैसला किया। बैरिंगटन मूर की रचना *सोशल ओरिजंस ऑफ़ डिक्टेटरशिप ऐंड डेमोक्रेसी* इस विमर्श का बेहतर परिणाम मानी जाती है। साठ के दशक के आखिर में निकोस पूलांत्साज द्वारा किये गये पूँजीवादी समाज के वर्गीय और सत्तामूलक विश्लेषण ने भी इस विमर्श को गहराई से प्रभावित किया।

राजनीतिक समाजशास्त्र के इस मार्क्सवादी अध्याय की खास बात यह थी कि इसमें आर्थिक पहलुओं पर पर्याप्त जोर देते हुए भी इस सिलसिले में किसी भी तरह के घटाववादी रुझान को खारिज कर दिया गया था। इन विद्वानों

ने राजनीतिक और सामाजिक परिघटना की दोतरफ़ा अन्योन्यक्रिया पर बल दिया ताकि सत्ता और प्रभुत्व की संरचनाओं का खुलासा हो सके। इसी प्रक्रिया को और आगे बढ़ाते हुए और सरलीकृत मार्क्सवादी रुझानों से और पीछा छुड़ाते हुए नव-मार्क्सवादी विद्वानों ने टकराव सिद्धांत और फ्रैंकफ़र्ट स्कूल द्वारा विकसित क्रिटिकल थियरी (आलोचनात्मक सिद्धांत) का सहारा लिया। टकराव सिद्धांत

की आधारभूत मान्यता यह थी कि संसाधन सीमित हैं इसलिए उन पर क्रब्जे के लिए या उनके बँटवारे के लिए स्वाभाविक तौर पर टकराव और प्रतियोगिता होनी है। इसलिए मानवीय संबंधों की आधारभूत प्रकृति सहयोग और सहमति न हो कर टकराव मानी जानी चाहिए। इस बौद्धिक रवैये के गर्भ से *पॉवर इलीट* जैसी धारणाएँ निकलीं। क्रिटिकल थियरी प्राकृतिक विज्ञानों के प्रभाव के कारण आधुनिकीकरण के अध्ययन पर हावी प्रत्यक्षवादी रुझानों की सफ़ाई का एजेंडा लेकर सामने आयी। इन प्रयासों ने बोर्दियो के ज़रिये सांस्कृतिक पूँजी और हेबरमास

के ज़रिये पब्लिक स्फ़ेयर (या सार्वजनिक दायरा) जैसे विमर्शों को जन्म दिया।

उत्तर-आधुनिकतावाद और उत्तर-संरचनावाद ने राजनीतिक समाजशास्त्र में सांस्कृतिक आयाम का समावेश किया। फूको और गिडेस की रचनाएँ इस दौर को परिभाषित करती नज़र आयीं। बुद्धिसंगत चयन के सिद्धांत ने एक बार फिर राज्य और समाज के अध्ययन में आर्थिक प्रश्न को रेखांकित किया। सोवियत संघ के विघटन के बाद नब्बे के दशक में राजनीतिक समाजशास्त्रियों की नयी पीढ़ी ने नयी परिस्थितियों की रोशनी में पचास और साठ के दशक में विकसित हुए विमर्श पर एक बार फिर निगाह डाली। इनपुट (जैसे मतदान संबंधी निर्णय) के ज़रिये व्यष्टिगत और आउटपुट (जैसे राजनीतिक सुधार) के ज़रिये समष्टिगत करने के अभ्यस्त रहे राजनीतिक समाजशास्त्रियों के सामने सवाल यह था कि सैद्धांतिकियों के इस खजाने के माध्यम से भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के कारण हुए परिवर्तनों और नयी प्रौद्योगिकियों के चलन के कारण तेज़ हुई बदलाव की गति की व्याख्याएँ की जा सकती हैं? जाहिर है कि आज सोशल और पॉलिटिकल पहले की तरह अलग-अलग श्रेणियाँ नहीं रह गयी हैं। आज के राजनीतिक समाजशास्त्रियों के सामने अस्मिताओं की बढ़ती हुई जटिलता, नागरिकता के नये रूपों और नये सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन की चुनौती है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद,

उपयोगितावाद, ऐडमंड बर्क, क्रांति, ज्याँ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ्रांसीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशांट, माइकल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, व्यक्तिवाद, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. माइकल मान (1986), *द सोर्सिज़ ऑफ़ सोशल पॉवर, खण्ड 1, अ हिस्ट्री ऑफ़ पॉवर फ़्रॉम द बिगिनिंग टु एडी 1760*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. बैरिंगटन मूर जूनियर (1066), *सोशल ओरिजिंस ऑफ़ डिक्टेटरशिप ऐंड डेमोक्रेसी : लॉर्ड ऐंड पीजेंट इन द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न वर्ल्ड*, बीकन प्रेस, बोस्टन.
3. के. फ़ॉक्स (2000), *पॉलिटिकल सोसियोलॉजी : ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन*, न्यूयॉर्क युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. टी. जानोस्की, आर. अल्फ़र्ड, ए. हिक और एम.ए. श्वार्ज़ (सम्पा.) (2005), *द हैंडबुक ऑफ़ पॉलिटिकल सोसियोलॉजी : स्टेट्स, सिविल सोसाइटीज़ ऐंड ग्लोबलाइज़ेशन*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, यूके.

— अभय कुमार दुबे

राजा राममोहन राय

(Raja Rammohan Roy)

राजा राममोहन राय (1772-1833) भारतीय आधुनिकता के पहले सिद्धांतकार और स्त्री-मुक्ति के पुरोगामी थे। हालाँकि उनका कर्मक्षेत्र उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में बंगाली नवजागरण तक सीमित था, लेकिन उनका सामाजिक-धार्मिक कार्यक्रम अगली एक सदी तक समग्र भारतीय समाज के लिए रैडिकल सुधारों का वाहक साबित हुआ। राममोहन के जीवन का मनो-राजनीतिक अध्ययन करने वाले आशिस नंदी के मुताबिक वे पहले आधुनिक भारतीय थे जिन्होंने अपनी प्राचीनता पर गर्व करने वाले एक कृषि प्रधान समाज में स्त्रीत्व और पुरुषत्व की स्थापित भूमिकाओं और समझ को सिद्धांत और व्यवहार में प्रश्नांकित करते हुए उलटने की

तजवीज़ की। उन्होंने आग्रह किया कि चिंतन की दृढ़ता, संकल्प, भरोसे और पुण्य के संदर्भ में स्त्री स्वाभाविक रूप से पुरुष के मुकाबले श्रेष्ठ होती है। इसलिए उसे अपना 'सत' साबित करने के लिए मृत पति की चिता पर जलने की ज़रूरत नहीं है। राममोहन की मान्यता थी कि स्त्री के बजाय 'सत' साबित करने की जिम्मेदारी तो पुरुष की होनी चाहिए जो स्वाभाविक रूप से दुर्बल होता है। उनके प्रयासों से न केवल सती प्रथा पर क़ानूनी रोक लगने की पुख़्ता ज़मीन तैयार हुई, बल्कि स्त्री का सवाल समाज सुधारों के अखिल भारतीय एजेंडे के केंद्र में आ गया।

राममोहन राय के व्यक्तित्व और कृतित्व को कुछ ऐसे व्यापक प्रभाव वाले मानकों का वाहक भी समझा जा सकता है जिन्होंने आगे चल कर सार्वजनिक क्रियाशीलता और मूल्यवत्ता, राजसत्ता के सामाजिक उपयोग एवं परम्परा के साथ आधुनिकता के रिश्ते को निर्णायक रूप से परिभाषित किया। उन्होंने धर्म, राजनीति, सार्वजनिक प्रशासन, शिक्षा, भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान किये। उनके नेतृत्व में समाज सुधारकों, विद्वानों और समर्पित कार्यकर्ताओं की लम्बी परम्परा शुरू हुई जिसने बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों तक बंगाली समाज को परिवर्तनशील और विचारोत्तेजित बनाये रखा। रजनी कोठारी ने अपनी क्लासिक रचना *भारत में राजनीति : कल और आज* में राममोहन राय के बारे में लिखा है कि भारतवासियों को उदारतावादी मूल्यों की शिक्षा देने में उन्होंने अपना सारा जीवन खपा दिया।

राममोहन की निजी जीवन-शैली पर धार्मिक या आध्यात्मिक प्रभाव बहुत कम था। पर वे मानते थे कि हिंदुओं को धर्म-सुधार की बहुत ज़रूरत है, क्योंकि उसके बिना वे राजनीतिक लाभों की उपलब्धि नहीं कर सकते। उनका कहना था, 'हिंदुओं की मौजूदा व्यवस्था उनके राजनीतिक लाभ की दृष्टि से सुनियोजित नहीं है। ... ज़रूरी है कि कम से कम राजनीतिक लाभ और सामाजिक राहत के लिए ही उनके धर्म में कुछ तब्दीलियाँ की जाएँ।' 1816 में अंग्रेज़ी भाषा में 'हिंदूइज़म' शब्द का पहली बार प्रयोग करने वाले राममोहन ने ईसाई, इस्लाम और हिंदू धर्मों के श्रेष्ठ तत्त्वों को आपस में जोड़ कर *ब्रह्म समाज* आंदोलन की स्थापना की जिसके फ़ौरी और दूरगामी प्रभाव बंगाली समाज में परिवर्तन के उल्लेखनीय कारक साबित हुए।

कलकत्ता से करीब सौ किमी. दूर स्थित राधानागोर गाँव में जन्मे राममोहन के पिता रमाकांत राय कुलीन वैष्णव ब्राह्मण थे, पर उनकी माता तारिणी देवी शाक्ति परिवार से थीं। इस परिवार की यह धार्मिक विविधता उस समय के बंगाल के लिहाज़ से अनूठी थी। राममोहन के बचपन की दूसरी अनूठी बात यह थी कि एक विस्तृत संयुक्त परिवार के बजाय वे एक ऐसे छोटे परिवार में पले-बढ़े जिसमें पिता के



राजा राममोहन राय (1772-1833)

बजाय माँ की हुकूमत चलती थी। दस साल की उम्र तक ही राममोहन की तीन शादियाँ हो चुकी थीं। उनकी पहली पत्नी बचपन में ही चल बसीं, दूसरी (जिनसे उन्हें रमा प्रसाद और राधा प्रसाद नामक दो पुत्र हुए) की मृत्यु 1824 में हुई और तीसरी पत्नी की मृत्यु के बाद भी कुछ दिन तक जीवित रहीं। राममोहन के जीवन का सबसे बड़ा विरोधाभास यह था कि जिस माँ के दबंग व्यक्तित्व से उन्हें स्त्री की स्वाभाविक दृढ़ता का सुराग मिला, उसी माँ के ख़िलाफ़ वे सम्पत्ति और पारिवारिक मामलों को लेकर आजीवन मुक़दमेबाज़ी करते रहे।

गाँव की पाठशाला में उन्होंने बंगाली के साथ-साथ कुछ-कुछ संस्कृत और फ़ारसी सीखी। नौ साल की उम्र में पटना के एक मदरसे में उन्होंने फ़ारसी और अरबी की बाक्रायदा शिक्षा प्राप्त करनी शुरू की। इस पढ़ाई-लिखाई के कारण उन्हें कुरान की शिक्षाओं का ज्ञान हुआ जिसका उनके शुरुआती चिंतन पर गहरा प्रभाव पड़ा। आम तौर पर उन दिनों किसी बंगाली ब्राह्मण बालक पर इस तरह के प्रभाव अपवादस्वरूप ही पड़ते थे। कहा जाता है कि उनकी माँ इससे चौंक गयीं जिसके कारण दो साल बाद ही उन्हें बनारस भेज दिया गया जहाँ उन्होंने संस्कृत, वेदों-उपनिषदों समेत हिंदू शास्त्रों का अध्ययन शुरू किया। लेकिन, कुरान, सूफ़ीमत और एकेश्वरवाद के शुरुआती प्रभावों के कारण राममोहन ने

हिंदू धर्मग्रंथों को उसी रोशनी में समझना जारी रखा। आगे चल कर जिस तीखेपन के साथ उन्होंने मूर्तिपूजा विरोधी रवैया अख़्तियार किया, उसके पीछे यही पृष्ठभूमि थी। राममोहन की संस्कृत शिक्षा पूरी नहीं हो पायी और वे बनारस में टिकने के बजाय लम्बी-लम्बी यात्राएँ करने लगे। 1794 में पिता द्वारा भेजा गया खोजीदल उन्हें कुछ बौद्धों की सोहबत से निकाल कर परिवार में वापस लाया।

1795 में राममोहन की मुलाक़ात संस्कृत के विद्वान और तांत्रिक हरिहरानंद विद्यावागीश ने ईसाई मिशनरी विलियम कैरी से करवायी। कैरी का मक़सद था ब्राह्मणों की मदद से बाइबिल का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद करके ईसाइयत के प्रसार में योगदान करना। करीब दो साल तक विद्यावागीश और कैरी की सोहबत में राममोहन ने जिन विचारों का विकास किया, वे ही आगे चल कर ब्रह्म समाज आंदोलन की आधारभूत सामग्री बने। इन्हीं विचारों के आधार पर विद्यावागीश के साथ मिल कर राममोहन ने अत्यंत विवादास्पद पुस्तक 'महानिर्वाण तंत्र' की रचना भी की। 1797 में राममोहन कलकत्ता आकर गरीब अंग्रेज़ों को सूद पर कर्ज़ देने का महाजनी धंधा करने लगे। 1803 से 1815 तक उन्होंने मुर्शिदाबाद की अपील अदालत के रजिस्ट्रार थॉमस वुडफ़र्ड के निजी मुंशी की नौकरी की। कुछ आरोपों के कारण यह काम छोड़ने के बाद कम्पनी के एक कलेक्टर जॉन डिग्बी के साथ जुड़ गये जिसके कारण इस अवधि में उनका ज़्यादातर समय रंगपुर में गुज़रा।

उन्नीसवीं सदी के अधिकतर भारतीय अभिजनों की ही तरह राममोहन राय के जीवन में भी परम्परा और आधुनिकता का द्वैध विद्यमान था। वे दो एकदम अलग-अलग क्रिस्म के घरों में अपना समय गुज़ारते थे। ख़ान-पान, वेशभूषा और रहन-सहन के लिहाज़ से एक घर में वे किसी विक्टोरियन जेंटिलमेन की भाँति रहते, और दूसरे में अपनी पत्नियों और संतानों के साथ पारम्परिक बंगाली ब्राह्मण की तरह। पारम्परिक घर में जब पत्नियाँ उनके कमरे में घुसतीं, पश्चिमी शिष्टाचार के तहत वे कुर्सी से खड़े हो जाते थे, हालाँकि उनके रूढ़िभंजक रवैये के कारण पत्नियों से उनकी कभी नहीं पटी।

दरअसल, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी पूर्व और पश्चिम का संश्लेषण। लेकिन, यह दृष्टांत भी उनके रूढ़िभंजक लेकिन जटिल व्यक्तित्व को पूरी तरह से परिभाषित नहीं करता। शौक्रीन तबीयत के धनी राममोहन बंगाली, मुग़लई और पश्चिमी व्यंजनों का आनंद लेते थे। अपने युरोपीय दोस्तों के साथ बेहतरीन सुराओं का पान करने वाले राममोहन ने एक मुसलमान रसोइया भी रख रखा था जिससे परम्परानिष्ठ कोलकाता वासियों को बड़ी

उलझन होती थी। इसके बावजूद जब वे लंदन गये तो अपने साथ एक ब्राह्मण रसोइये को ले गये। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशकों ने जब उनके सम्मान में भोज दिया तो उन्होंने पक्के ब्राह्मण की तरह केवल उबला हुआ भात और पानी ग्रहण करना ही पसंद किया।

1820 में उनकी कृति *परसेप्ट्स ऑफ जीसस* का प्रकाशन हुआ जिसमें ईसा के नैतिक संदेश को ईसाई तत्वज्ञान और चमत्कार कथाओं से अलग करके पेश किया गया था। बंगाल में सक्रिय ईसाई पादरी वर्ग उनकी इस कोशिश से नाराज़ हो गया। उसके विरोध के परिणामस्वरूप राममोहन राय ने ईसाई जनता के नाम तीन अपीलें जारी करके अपने विचारों को और स्पष्टता प्रदान की। इसी के साथ उन्होंने *ब्राह्मणीकल मैगज़ीन* का प्रकाशन करके हिंदू आस्तिकता के वैचारिक नैरंतर्य को रेखांकित करने की चेष्टा भी की। राममोहन ने अपने धार्मिक विचारों को धरती पर उतारने के लिए 20 अगस्त, 1828 को ब्रह्म सभा का गठन किया और इसी वर्ष वेदांत कॉलेज की स्थापना भी की। इस प्रक्रिया का परिणाम 1830 में एक चर्च की स्थापना के रूप में निकला जिसमें किसी भी तरह की छवि या चित्र ले जाने की मुमानियत थी। इसी के साथ ब्रह्म समाज आंदोलन शुरू हुआ। 1818 से 1829 के बीच राममोहन राय ने सती प्रथा पर आक्रमण करते हुए तीन रचनाएँ प्रकाशित कीं। सती प्रथा के खिलाफ जनमत बनाने और अंग्रेजों को उस पर प्रतिबंध लगाने के लिए मनाने का श्रेय उनके प्रयासों को ही दिया जाता है। राममोहन ने भारतीय और पश्चिमी शिक्षा के संश्रय पर बल देते हुए वेदांत कॉलेज के साथ-साथ हिंदू कॉलेज और एंग्लो-हिंदू स्कूल की स्थापना की। उन्होंने आधुनिक शिक्षा और विशेष तौर से स्त्री शिक्षा के प्रसार में अगुआ भूमिका निभायी। बांग्ला व्याकरण की एक पुस्तक के रचयिता के रूप में उन्हें बांग्ला गद्य का निर्माता भी कहा जाता है। पत्रकार के तौर पर भी राममोहन को भारतीय पत्रकारिता का पुरोधा कहा जा सकता है। उनकी पत्रिका *संवाद कौमुदी* काफ़ी लोकप्रिय थी जिसमें प्रेस की आज्ञादी, ऊँचे पदों पर भारतवासियों की तैनाती, कार्यपालिका व न्यायपालिका के पृथक्करण जैसे मुद्दों पर चर्चा की जाती थी। कम्पनी सरकार द्वारा प्रेस का दमन करने पर 1829 और 1830 में उन्होंने इस नीति के खिलाफ़ दो प्रतिवेदन भी दिये।

राममोहन के प्रयासों को दुहरे विरोध का सामना करना पड़ा। एक तरफ़ उनका विरोध राधाकांत देव, गौरीकांत भट्टाचार्य और भवानी चरण बनर्जी जैसे सुधार विरोधी परम्परानिष्ठ लेखक और विद्वान कर रहे थे, वहीं उन्हें फ़्रांसीसी क्रांति और इंग्लिश रेडिकलिज़्म से अनुप्राणित आलोचना का भी सामना करना पड़ा जिसका नेतृत्व 'यंग बंगाल' और उसके एंग्लो-इण्डियन नेता हेनरी विवियन

डेरॉज़ियो के हाथों में था। यह अलग बात है कि डेरॉज़ियो के अनुयायी अपने कामों और वक्ताओं से समाज को चौंकाने के अलावा कोई स्थाई असर नहीं डाल पाये। लेकिन, राममोहन की परम्परा के आधार पर समाज सुधारों का नरम कार्यक्रम उनकी मृत्यु के बाद भी जारी रहा। उसकी कमान देवेन्द्रनाथ ठाकुर और अक्षय कुमार दत्त ने सँभाली। 1831 में राममोहन मुग़ल साम्राज्य के राजदूत के रूप में इंग्लैण्ड की यात्रा पर गये ताकि लॉर्ड बेंटिक द्वारा जारी किये गये सती विरोधी क़ानून के पक्ष में पैरोकारी की जा सके। वहाँ से उन्होंने फ़्रांस की यात्रा भी की। 27 सितंबर, 1833 को ब्रिस्टल के पूर्व में स्थित स्टैपलेटन नामक गाँव में मैनिनजाइटिस के रोग से उनका देहांत हो गया। राममोहन को दक्षिणी ब्रिस्टल के एमोस वेल कब्रिस्तान में दफन किया गया। 1843 में राममोहन के साथी और अनुयायी द्वारकानाथ ठाकुर ने इसी जगह उनका मक़बरा बनवाया जिसका जीर्णोद्धार आजकल कुछ कोलकातावासियों और कुछ भारतीय व्यापारियों के सहयोग से किया जा रहा है।

देखें : अरविंद घोष, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, कुमार आशान्, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चटर्जी, बंगाल का नवजागरण, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतीय आधुनिकता, भारतीय नवजागरण: तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, महाराष्ट्र में सुधारण-1 से 5 तक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, युरोपीय पुनर्जागरण, रवींद्रनाथ ठाकुर, विवेकानंद, हिंदी नवजागरण।

संदर्भ

1. सोफ़िया डी. कोलेट (1962), *द लाइफ़ ऐंड लैटर्स ऑफ़ राजा राममोहन राय*, सम्पादक : डी.के. विश्वास और पी.सी. गांगुली, साधारण ब्रह्म समाज, कोलकाता।
2. रजत के. राय द्वारा लिखित 'परिचय', वी.सी. जोशी (सम्पा.) (1975), *राममोहन राय ऐंड द प्रोसेस ऑफ़ मॉडर्नाइज़ेशन इन इण्डिया*, विकास, नयी दिल्ली।
3. कालिदास नाग और दिव्यज्योति बर्मन (सम्पा.) (1945-58), *द इंग्लिश वर्क्स ऑफ़ राजा राममोहन राय*, खण्ड 1, कोलकाता, साधारण ब्रह्म समाज।
4. एस.सी. चक्रवर्ती (सम्पा.) (1935), *द फ़ादर ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया*, कोलकाता, राममोहन राय सेंटेंरी कमेटी, खण्ड 2।
5. सुशोभन सरकार ()1981, 'रिलीजस थॉट ऑफ़ राममोहन राय', *बंगाल रिनेसाँ ऐंड अदर एसेज़*, पीपीएच, नयी दिल्ली।

— अभय कुमार दुबे

राधाकमल मुखर्जी

(Radhakamal Mukerjee)

अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और कला-चिंतन के महारथी राधाकमल मुखर्जी (1889-1968) बंगाली नवजागरण से जन्मी बौद्धिक संस्कृति की देन थे। उनका विमर्श समाजशास्त्र, इतिहास, सामाजिक पारिस्थितिकी, नैतिक मूल्य और भारतीय सभ्यता-संस्कृति से संबंधित विषयों पर गहराई से गौर करता है। पहले बरहामपुर और फिर कोलकाता विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य करने के बाद 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर वे वहाँ अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष बने और तीस वर्ष तक शिक्षण-कार्य किया। मुखर्जी काफ़ी मँजे हुए और प्रचुर लेखक थे जिन्होंने अनेक विषयों पर लिखा। उनकी 27 पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनमें प्रमुख हैं : *द रीजनल बैलेंस ऑफ़ मैन* (1938), *इण्डियन वर्किंग क्लास* (1940), *सोशल इकॉलॉजी* (1945), *द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ़ वैल्यूज़* (1955), *द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ सोशल साइंस* (1960) और *द डेस्टिनी ऑफ़ सिविलाइज़ेशन* (1964)। मुखर्जी ने समाज के अध्ययन को व्यापक रूप प्रदान करने की चेष्टा की और स्थानीयता और सार्वभौमिकता के प्रतिमानों के बीच सामंजस्य पैदा किया।

भारतीय समाज के अध्ययन के लिए राधाकमल ने मुख्यतः पारम्परिक व्यवस्था और अर्थव्यवस्था की बीच संबंध की छानबीन का रास्ता अपनाया। पश्चिम में जिस प्रकार बाज़ार के प्रारूप का विकास हुआ उसमें बाज़ार बहुत सी परम्पराओं और सामाजिक पहचानों से मुक्त था। राधाकमल का विचार था कि यह बाज़ार-प्रारूप भारतीय संदर्भों के उपयुक्त नहीं है। इसीलिए उन्होंने ग्रामीण भारत की आर्थिक बनावट समझने के लिए संस्कृति के प्रतिमानों को केंद्र में रखना पसंद किया। उनका आग्रह उन जीवन-मूल्यों को समझना था जो व्यक्ति के चुनाव व आचरण को निर्धारित करते हैं और जिनका असर उसके आर्थिक व्यवहार पर भी पड़ता है। मसलन, सवर्ण हिंदू द्वारा गोमांस न खाने या मुसलमान-यहूदी द्वारा सुअर के मांस से परहेज़ जैसी पारम्परिक प्रवृत्तियाँ दिखाती हैं कि संस्कृति व आर्थिक ढाँचे का संबंध कितना गहरा होता है।

मुखर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी से संबंधित धारणा का विकास किया। इसके तहत इतिहास के पटल पर मनुष्य की जीविका व आवास, पर्यावरण, भौगोलिक विशेषताओं और राजनीति की परस्पर निर्भरता का अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के लिए जब कोई शासक किसी राज्य या क्षेत्र

को जीत कर वहाँ अपने लोगों को बसाने का उपक्रम करेगा तो वहाँ के पर्यावरण के अनुरूप उसे नये क्रिस्म की सांस्कृतिक विशेषताएँ भी देखने को मिलेंगी। मानव-समाज इसी प्रकार राजनीति, पर्यावरण, भूगोल आदि विभिन्न कारकों के सम्मिलित प्रभाव को ग्रहण करता है और यही सामाजिक पारिस्थितिकी है। इस पूरी अवधारणा में समाज की मास्टर-साइंस यानी उच्चतर या महान विज्ञान की धारणा भी मौजूद है जो समाज का समग्र ज्ञान प्राप्त करने में हमारी सहायता कर सकती है। इस ज्ञान के आधार पर ही समाज का सामान्य सिद्धांत विकसित हो सकेगा। यह सामान्य सिद्धांत विभिन्न सामाजिक विज्ञानों को एकसूत्र में बाँधेगा और उनके बीच पायी जाने वाली सैद्धांतिक ज्ञान संबंधी दूरियों को भी समाप्त कर सकेगा।

मुखर्जी मानव व्यवस्था व शहरीकरण की प्रक्रिया में भारतीय मूल्यों की उपेक्षा न करने की वकालत भी करते थे और इस मामले में उनके उन पाश्चात्य समाजशास्त्रियों से मतभेद भी थे जो केवल शहरीकृत समस्याओं व मूल्य-निरपेक्ष योजनाओं को महत्त्वपूर्ण मानते थे। मुखर्जी का भरोसा शहरी नियोजन, नव-निर्माण व विकास, जनसंख्या के स्थानांतरण आदि को पारम्परिक संस्कृति के अनुरूप मूल्य-आधारित बनाने पर था। वे अंधाधुंध औद्योगिकीकरण के विनाश से बचने के लिए सामाजिक पारिस्थितिकी-विज्ञान से दिशा-निर्देश ग्रहण करने की अपील भी करते थे। उन्होंने भारत की पारम्परिक अर्थव्यवस्था, जिसमें दस्तकारी, बुनाई-नक्काशी, ग्रामोद्योग, शिल्प आदि शामिल हैं, को क्षेत्रीय विकास के लिए संरक्षित और विकसित करने की ओर ध्यान दिलाया। मुखर्जी की एक बड़ी चिंता भारतीय अर्थव्यवस्था के विस्तार के साथ असमान विकास को लेकर भी थी। इसलिए उन्होंने कुछ क्षेत्रों के विकसित होने और अन्य के अविकसित रह जाने के परिणामों के बारे में सचेत किया। गाँव की क्रीमत पर शहरों के विकास को उन्होंने विकास के सबसे ख़राब तरीकों में गिनाया है जिससे पूरा समाज असंतुलन का शिकार हो जाता है।

मुखर्जी ने समाज-विज्ञान में मूल्यों की अवधारणा को भी काफ़ी महत्त्व दिया है। इस बारे में उन्होंने अपनी दो पुस्तकों *द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ़ वैल्यूज़* (1949) और *डाइमेंशंस ऑफ़ वैल्यूज़* (1964) में विस्तार से लिखा है। मूल्यों को उन्होंने ऐसी मान्यताओं के रूप में देखा जो सामाजिक रूप से स्वीकृत इच्छाओं व लक्ष्यों का रूप तो लेती हैं पर समाजीकरण की प्रक्रिया में निजी या आत्मनिष्ठ प्राथमिकताओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं। उन्होंने मूल्यों को दो भागों में विभाजित किया। ये हैं साध्य मूल्य और साधन मूल्य। साध्य मूल्य वे होते हैं जो स्वयं में पूर्ण होते हैं, और व्यक्ति उन्हें आचरण में आत्मसात करता है। जैसे बौद्ध धर्म

में करुणा व अहिंसा का मूल्य; और हिंदुओं में सत्य, शिव व सुंदर के मूल्य जो मनुष्य के आंतरिक जीवन के लिए स्थाई महत्त्व रखते हैं और अपने-आप में लक्ष्य होते हैं। इसके विपरीत साधन मूल्यों का संबंध समाज के भौतिक जीवन से और साध्य मूल्यों के अनुरूप जीवन जीने से होता है। यानी अपनी शिक्षा, जीवनयापन, सम्पत्ति, सुरक्षा संबंधी जरूरतों की पूर्ति के लिए मनुष्य इन मूल्यों को ग्रहण करता है। मुखर्जी के अनुसार साध्य मूल्य वास्तव में अमूर्त मूल्य और साधन मूल्य विशिष्ट या अस्तित्वमूलक मूल्य के रूप में भी पहचाने जा सकते हैं। उन्होंने कुछ अन्य आधारों पर भी मूल्यों का श्रेणीगत विभाजन किया है। जैसे कि मूल्यों की जैविक, सामाजिक और आध्यात्मिक श्रेणियाँ उन्होंने मूल्यों के प्रकार्यात्मक पक्षों का विवेचन करते हुए यह भी बताया है किस प्रकार पर्यावरण व प्राकृतिक साधनों के अनुरूप कुछ मूल्य मानव-अस्तित्व और जीवन को सुचारु रूप से संचालित करते रहते हैं। उन्होंने नकारात्मक सामाजिक मूल्यों की भी चर्चा करते हुए बताया है कि सामाजिक जीवन में मूल्यों के साथ ग़ैर-मूल्य भी मौजूद होते हैं। ये ग़ैर-मूल्य ही नकारात्मक मूल्य हैं। मसलन, अपने स्वार्थ के लिए सभी साधनों का इस्तेमाल करने या युद्ध व प्रेम में सब जायज़ है या खून का बदला खून जैसे मूल्य।

मुखर्जी ने भारतीय परम्परा और मूल्यों के प्रति सराहना भाव व्यक्त करते हुए भी सार्वभौमिकता और सार्वभौम सभ्यता संबंधी प्रतिमानों के विकास में खास दिलचस्पी दिखाई। उन्होंने राष्ट्र, जाति और नृजातीयता की संकीर्ण भावनाओं में मनुष्यता को क़ैद रखने के स्थान पर मानव-समाज द्वारा सार्वभौमिकता का लक्ष्य प्राप्त करने की प्रक्रिया को अधिक महत्त्वपूर्ण माना। शायद इसीलिए जब 1946 में संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकारों की घोषणा हुई (जिसमें मानव-अस्तित्व की रक्षा व सम्मान संबंधी मूल्यों की सार्वभौमिकता का विशेष महत्त्व था) तो उन्होंने इसका खास तौर पर स्वागत किया। इन मानवाधिकारों के तहत पूरे विश्व में सभी लोगों के स्वाधीनता और सम्मान संबंधी अधिकारों को मान्यता प्रदान की गयी थी। मुखर्जी ने सामाजिक असमानता और विभिन्न देशों के मध्य शक्ति के आधार पर असमानता को दूर करने की जरूरत पर जोर दिया और विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न लोगों के बीच सम्पत्ति और संसाधनों के न्यायसंगत वितरण का समर्थन किया है।

मुखर्जी को भारतीय कला, संस्कृति और इतिहास में विशेष दिलचस्पी थी। इस संबंध में उन पर प्राच्यवाद और इंडोलॉजी का भी प्रभाव दिखता है। आर्थिक जीवन और सामाजिक मूल्यों के बीच संबंधों के अध्ययन को महत्त्व देने की भाँति ही उन्होंने भारतीय कलाओं और सामाजिक मूल्यों के अंतःसंबंधों की तरफ़ ध्यान खींचा है। पश्चिम व भारतीय

कला के बीच अंतर स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि भारतीय और एशियाई कला में सामुदायिकता, एकात्मकता और विराट आध्यात्मिकता का भाव प्रधान है, जबकि पश्चिमी कला के पीछे वैयक्तिकता का भाव प्रबल होता है या फिर कला ही उस कला का लक्ष्य होती है न कि अन्य मानवीय और आध्यात्मिक मूल्य। उन्होंने हिंदू, जैन और बौद्ध धर्म की अहिंसा व अनाक्रामकता की विशेष प्रशंसा करते हुए इन मूल्यों का भी भारतीय कला से संबंध जोड़ा। यानी सहिष्णु धर्म के साथ कलागत मूल्यों की सहिष्णुता को उन्होंने चिह्नित किया।

प्राच्यवाद के असर में हिंदू धर्म के बारे में कोई आलोचनात्मक दृष्टि अपनाने के स्थान पर उसके धर्मशास्त्रों और विधि-विधानों के लचीलेपन की प्रशंसा की। राधाकमल मुखर्जी ने प्रकृति व मानव-समाज के संबंधों पर बल देते हुए प्रकृति के विनाश के खतरों के बारे में चेतावनी दी। उन्होंने वनों की कटाई से होने वाले प्राकृतिक नुकसान के बारे में बहुत लिखा है। जैसे कि पेड़ों की कटाई के कारण मिट्टी का अनुपजाऊपन बढ़ना और बाढ़ में मिट्टी का बह जाना, इत्यादि। इसी प्रकार एक ही खेत में पूरे साल एक ही नक़दी फ़सल उगाने व प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन को उन्होंने विनाशकारी माना।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, गोविंद सदाशिव घुर्गे, प्रभुत्वशाली जाति, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिम्हचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेट, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, योगेश अटल, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2, त्रिलोकी नाथ मदन।

संदर्भ

1. राधाकमल मुखर्जी (1984), *द कल्चर ऐंड आर्ट ऑफ़ इण्डिया*, मुंशीराम मनोहर लाल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. राधाकमल मुखर्जी (2005), *द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ़ वैल्यूज़*, राधा पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली.
3. राधाकमल मुखर्जी (2005), *द डायनमिक्स ऑफ़ मॉरल्स*, राधा पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली.
4. राधाकमल मुखर्जी (1971), *द सोशल फ़ंक्शन ऑफ़ आर्ट*, ग्रीनवुड प्रेस.
5. राधाकमल मुखर्जी (2006), *द कम्युनिटी ऑफ़ कम्युनिटीज़*, राधा पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली.

— वैभव सिंह

रामअवतार शर्मा

(Ramawatar Sharma)

कवि और दार्शनिक रामअवतार शर्मा (1877-1928) *परमार्थदर्शनम्* जैसी विलक्षण कृति के रचयिता हैं। यह ग्रंथ षड्दर्शनों से आगे एक सातवाँ दर्शन रचने के उद्देश्य से लिखा गया था। रामअवतार शर्मा के दर्शन में न परब्रह्म है, न ईश्वर, न माया, न (वेदांत की) मुक्ति। न निर्गुण निराकार है, न सगुण साकार। जो है वह सर्वगुण और सर्वाकार है। परमार्थदर्शन के इस प्रवक्ता का प्रश्न है कि सर्वत्र साकार व्याप्त है, तो यह साकार निराकार से कैसे जन्म ले सकता है? असत् से सत् नहीं उपज सकता। इस तर्क से शर्माजी ने वेदांत के निर्गुण ब्रह्म और बौद्धों के शून्यवाद दोनों की छुट्टी कर दी है। उन्होंने दोनों की ओर से बनने वाले पूर्वपक्षों पर अपने सिद्धांत पक्ष को कसा नहीं है। वे पूछते हैं कि यदि आपने स्वयं विश्ववैचित्र्यवाद द्वारा सर्वात्मक सत्ता को अंशतः अज्ञेय मान लिया, तो वह निराकार नहीं है— यह दावे से कैसे कहा जा सकता है। रामअवतार शर्मा का परमार्थदर्शन एक ईश्वरविहीन और मायाविहीन विश्व की परिकल्पना प्रस्तुत करता है। ममता का त्याग उनके यहाँ मुक्ति की अनिवार्य शर्त है। गोविंद चंद्र पाण्डे ने लिखा है कि रामअवतार शर्मा एक मौलिक आलोचनाप्रवण तथा आधुनिक दार्शनिक थे। वे अपने विचारों में दयानंद से कहीं अधिक ज़्यादा क्रांतिकारी थे। अपनी बात पर वजन देते हुए वे उन्हें आधुनिक भारत के सर्वाधिक मौलिक और व्यवस्थित दार्शनिकों में एक बताते हैं। यदि अपने ही देश में शर्माजी को एक दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठा नहीं मिली, तो इसका कारण पाण्डे की दृष्टि में यही है कि उन्होंने अपनी रचनाएँ संस्कृत में लिखीं।

रामअवतार शर्मा हमारे समय की सर्वाधिक दिलचस्प और विलक्षण विभूतियों में से एक हैं। वे अपने जीवन काल में ही एक किंवदंती बन गये थे। उनका जन्म बिहार के छपरा में एक भूमिहार ब्राह्मण परिवार में हुआ। बारह वर्ष की आयु में वे अध्ययन के लिए काशी गये और उस समय के उद्भट विद्वान पण्डित गंगाधर शास्त्री से अध्ययन किया। पंद्रह वर्ष की आयु में उन्होंने जिस वर्ष काव्यतीर्थ की परीक्षा उत्तीर्ण की, उसी वर्ष संस्कृत में *धीरनैषधम्* नाम का एक बड़ा नाटक लिख डाला। इसके बाद बनारस के क्वींस कॉलेज से (जो बाद में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय बना और अब सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय कहलाता है) सर्वाधिक अंक प्राप्त कर साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त की। इस कॉलेज के प्रधानाध्यापक प्रख्यात प्राच्यविद्याविद् डॉ. वेनिस ने उन्हें अंग्रेज़ी का अभ्यास भी करने का सलाह दी। अपनी एकमात्र सम्पदा एक लोटा गिरवी रख कर युवा रामावतार

ने इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के खण्ड प्राप्त किये और उसका पाठ कर डाला। कहा जाता है कि पूरे इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में किस पृष्ठ पर कौन सी प्रविष्टि है, यह वे उस प्रविष्टि की तफ़्सीलों के साथ जुबानी बता देते थे। बाद में यह भी कहा जाने लगा कि उन्हें पूरी चैम्बर्स डिक्शनरी कंठस्थ है। यही समय था जब उन्होंने पाण्डे गोत्र नाम तज कर अपने आप को शर्मा कहना शुरू किया। चूँकि घर की हालत बेहद ख़स्ता थी, इसलिए बनारस से साहित्याचार्य की पदवी ले कर छपरा हाई स्कूल में नौकरी करने चले आये।

1901 में वे फिर बनारस लौटे और सेंट्रल हिंदू कॉलेज में प्रवक्ता हो गये। इन्हीं दिनों उन्होंने अपने दो गुरुओं गंगाधर शास्त्री तथा स्वामी श्रद्धानंद को शास्त्रार्थ में पराजित किया। सेंट्रल हिंदू कॉलेज में कोट और पैंट पहन कर आने का ऐनी बेसेंट का आदेश उन्हें मान्य नहीं था, इसलिए कॉलेज की नौकरी छोड़ कर घर चले आये। तब तक उनके पाण्डित्य की ख्याति इतनी फैल गयी थी कि पटना विश्वविद्यालय ने उन्हें संस्कृत और हिंदी का विभागाध्यक्ष बनाया। उनके शिष्यों में एक डॉ. राजेंद्र प्रसाद बाद में भारत के राष्ट्रपति बने। मदनमोहन मालवीय के आग्रह पर वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय आ गये, पर 1922 में इस घोषणा के साथ बनारस छोड़ कर पटना लौट गये कि गरीब बिहार को उनकी ज़रूरत है।

वेदांत पर आशुतोष मुकर्जी के आग्रह पर कोलकाता में तथा उसके बाद ऑक्सफ़र्ड में दिये गये उनके व्याख्यान इस विषय पर सबसे प्रामाणिक वक्तव्यों में गिने जाते हैं। *धीरनैषधम्* (संस्कृत नाटक), *मारुतिशतकम्* (स्तुतिकाव्य) *मुद्गरदूतम्* (पैरोडी काव्य), *भारतीयैतिवृत्तम्* (भारत का इतिहास पद्य में), *वाङ्मयमहार्णव* (पद्यात्मक विश्वकोश) तथा *परमार्थदर्शनम्* उनकी मौलिक संस्कृत रचनाएँ हैं। *प्रियदर्शिप्रशस्तयः* अशोक के शिलालेखों का संस्कृत रूपांतर है। *सदुक्तिर्कर्णामृत* जैसे विशालकाय सुभाषित संग्रह का सम्पादन उन्होंने किया। अंग्रेज़ी में उनका ज़्यादातर लेखन विवेचनात्मक है। संस्कृत की अपनी अनोखी कृति *मुद्गरदूतम्* को उन्होंने हिंदी *मुद्गरानन्दचरित* नाम से नये सिरे से लिखा। इसके अतिरिक्त हिंदी व्याकरण, भाषाशास्त्र और दर्शन पर भी उनका हिंदी में महत्वपूर्ण लेखन है। उनकी अनेक रचनाएँ अप्रकाशित रह गयीं। अनेक *सरस्वती*, *सुधा*, *माधुरी* तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित तो हैं, पर अब अलभ्य हैं।

रामअवतार शर्मा के दर्शन की प्रेरणाभूति वेदांत है। लेकिन वेदांत की ज़मीन पर खड़े हो कर उन्होंने उसकी प्रमुख जड़ को काट कर फेंक दिया है। वे ब्रह्म को निरपेक्ष और परमसत्ता नहीं मानते। उनके लिए परमचैतन्य साक्षी है, विश्व साक्ष्य या विषय। साक्षी और विषय मिल कर एक

अविभाज्य सर्वात्मक सत्ता निर्मित करते हैं। शर्माजी वेदांत के विवर्तवाद का खण्डन करते हैं। विवर्तवाद में जगत ब्रह्म का विवर्त (काल्पनिक मानसिक सृष्टि) है। रस्सी में साँप का या सीपी में चाँदी का भ्रम होता है, तो साँप या चाँदी क्रमशः रस्सी और सीपी के विवर्त हैं। पण्डित शर्मा वेदांती को खूब डपटते हुए पूछते हैं कि जगत् का लोप होता ही कब है, जो इसे विवर्त कहा जाये? इसी तरह शैवदर्शन का प्रतिबिम्बवाद और स्पंदसिद्धांत भी उनके परमार्थदर्शनम् में अस्वीकार्य हो जाता है। वह दर्शन बौद्ध, जैन तथा चार्वाक दर्शनों से भी तालमेल नहीं बना सकता। इसकी जीव, आत्मा, शरीर, चैतन्य जगत और परमसत्ता की अवधारणाएँ इन सब दर्शनों से भिन्न लगती हैं। जनार्दन शास्त्री पांडे ने अन्य दर्शनों से इसे एकदम अलग बताते हुए कहा है कि कपिल का सांख्य द्रष्टा और दृश्य में कृत्रिम पार्थक्य मानता है, चार्वाक केवल दृश्य को सत्य कहते हैं और वेदांत अंततः केवल द्रष्टा को। शेष दर्शन एक की अनेक में परिणति करते हैं। परमार्थदर्शन इस तरह के भेद पर आधारित परिणति को नकारता है और इन सबसे अलग है। उसका कहना है कि यदि अविभाज्यता है, तो परिणति कैसी होगी?

सम्भवतः परमार्थदर्शन की परिकल्पना पर नव्य भौतिकी का परोक्ष रूप से असर आया है। रामअवतार शर्मा अपना यह ग्रंथ उस समय लिख रहे थे, जब पश्चिम में भौतिकशास्त्र में हो रहे नये प्रयोगों और तज्जन्य अवधारणाओं ने जीवन और जगत की सारी परिकल्पना में उथलपुथल कर दी थी। मैक्स प्लैंक क्वांटम थियरी पर अपना शोधपत्र 1900 में प्रस्तुत कर चुके थे। हो सकता है कि 1905 में जब आइंस्टाइन का सापेक्षवाद सामने आया, तो उसके बाद शर्मा ने अपना परमार्थदर्शन लिखना शुरू किया हो। विज्ञान में उनकी रुचि थी। ज्ञान को वे सर्वात्मक सत्ता के दो रूप मानते हैं और दोनों में तालमेल दिखाते हैं। विज्ञान से भी उनका आशय साइंस से है, बौद्ध दर्शन या अन्य दर्शनों में परिभाषित विज्ञान से नहीं। प्रश्न करना और प्रचलित अवधारणाओं को तोड़ना उनकी प्रवृत्ति थी। मसलन सभी भारतीय दर्शन पञ्चमहाभूतों के जो गुण बताते हैं, उसमें शब्द को आकाश का गुण माना गया है। अर्थात् शब्द आकाश में समवेत है। शर्मा के पहले शायद दर्शन में इस अवधारणा पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया गया। साइंस की अपनी जानकारी का उपयोग करते हुए शर्मा कहते हैं कि किसी कक्ष में सारी हवा निकाल कर यदि शून्य (वैक्यूम) पैदा कर दिया जाय, तो आकाश तो उस कक्ष में रहेगा, पर क्या शब्द उस कक्ष में रह सकता है? नहीं रह सकता, इसलिए शब्द को आकाश का गुण मानना गलत है। यहाँ शर्मा इस बात को दबा गये हैं कि दर्शन में शब्द वही नहीं है जो कानों से सुन पड़ता है। वे यह भी स्थापित नहीं करते कि आकाश को शब्दगुण न माना जाय, तो

क्या वायु को मान लिया जाय? चूँकि द्रष्टा और दृश्य अविभाज्य हैं, इसलिए आत्मा हमारी देह में व्याप्त है। देह में व्याप्त आत्मा जीव है। देह और जीव दोनों को शर्माजी ने अयुतसिद्ध (दो ऐसी वस्तुओं का जोड़ा, जो नष्ट होने तक अलग नहीं होतीं) माना है। अपने ग्रंथ के चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक के पहले सूत्र में वे कहते हैं : शरीर भेदाज्जीवभेदः और अगले सूत्र में जोड़ते हैं—शरीरात्मनोरयुतसिद्धिर्न सिद्धयोर्योगः जितने शरीर हैं, उतने ही जीव हैं, और जीव और आत्मा एक साथ अविभाज्यतया ही जन्मते और नष्ट हो जाते हैं।

मार्क्सवाद और वेदांत, दोनों भी पदार्थ और चेतना को अविभाज्य मानते हैं। पर एक में पदार्थ पहले आता है, बाद में चेतना उसमें पनपती है। दूसरे में चेतना पहले है, पदार्थ उसका विवर्त है। इन दोनों से हटकर शर्मा एक विश्वात्मक चैतन्य को सत्य मानते हैं। मार्क्स की तरह केवल जगत् भी सत्य नहीं, वेदांत की तरह केवल ब्रह्म ही सत्य नहीं। ये दोनों अलग-अलग सत्य हों, ऐसा भी नहीं। परमार्थदर्शनम् जब सर्वात्मक सत्ता और जगत् या विश्व जैसे शब्दों का अलग-अलग आशय से इस्तेमाल करता है, तो इसमें यह सवाल अनुत्तरित रह जाता है कि दोनों में कौन पहले आया? मार्क्सवाद और वेदांत में इस सवाल के उत्तर साफ़ हैं शर्माजी इसके उत्तर में विश्ववैचित्त्य का सिद्धांत उपस्थित कर देते हैं। सर्वात्मक सत्ता और जगत् दोनों की तरह विश्ववैचित्त्य भी शाश्वत और अगम्य है। परमार्थदर्शन के एक सूत्र के भाष्य में शर्माजी कहते हैं : बुदबुदविशेष के नाश या जन्म से समुद्र का नाश या जन्म नहीं (माना जा सकता), जिस तरह मनुष्य रूपी एक व्यक्ति के जन्म या नाश से मनुष्यमात्र के जन्म या नाश का निर्णय नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार समष्टि या सर्वात्मक समुद्र का भी जन्म या नाश इस विश्वरूपी बुदबुदविशेष के जन्म या नाश से कल्पित नहीं किया जाना चाहिए। एक बुलबुले के नाश के समय पहले उत्पन्न हुए बुलबुले बने रहते हैं, और उसके मरने के बाद अनेक जन्म लेते हैं। अतः व्यक्तिः ही सादि और सांत है, सर्वात्मा नहीं। यह सर्वात्मा आकाशवत् सहस्रशीर्षा है। जीव की स्थूल देह उसकी अभिव्यक्ति है, उसी तरह सर्वात्मा की अभिव्यक्ति यह सारा विश्व है। जीव देह में व्याप्त या ओत-प्रोत है, और यह देह त्वचा में आवृत्त है। उसी तरह आकाश (स्पेस) सर्वात्मा के विश्वदेह की त्वचा है। इस विश्व को प्रकृति भी कहते हैं। आकाश, जिससे अविच्छिन्न होकर विश्वात्मा का प्रकृतिदेह अवस्थित है, न शून्य है, न शब्दगुण वाला द्रव्यविशेष है, न अभाव ही। वह प्रकाशगुणात्मक सर्वव्यापी अनंत सत्ता है।

एक सर्वात्मक सत्ता वेदांत भी मानता है, और परमार्थदर्शन भी। अंतर यही आता है कि वेदांत व्यवहार के

स्तर पर जगत् को अलग सत्ता स्वीकार कर लेता है, परमार्थदर्शन इस विभाजन को नकारता तो है, पर भाषिक व्यवहार में विश्व और चैतन्य का पृथक्-पृथक् प्रयोग करता है, जैसे भाषिक व्यवहार में हम समुद्र और बुलबुले को अलग अलग कहते हैं। इसलिए वेदांत के साथ अपने दर्शन के सूक्ष्म विवेक पर रामअवतार शर्मा ने इत्मीनान से चर्चा नहीं की है। शैवदर्शन का तो नोटिस ही नहीं लिया है। सम्भव है परमार्थदर्शनम् की सारी प्रस्तुति में कुछ अनुपपत्तियाँ या खामियाँ इसलिए भी लगती हैं कि इस ग्रंथ पर शर्मा के लिखे हुए भाष्य का लगभग एक तिहाई हिस्सा तो हमें उपलब्ध नहीं है।

परमार्थदर्शनम् में तीन सिद्धांत प्रमुख हैं : सर्वात्मकतावाद, विश्वैचित्त्यवाद तथा देहात्मवाद। विश्वैचित्त्यवाद में कुछ वेदांत का भी पुट है, कुछ नये विज्ञान का भी। उनका चिदात्मत्व जो शरीरवत्, आकाशवत्, तथा समुद्रवत् है, न पूर्णतया ज्ञेय है, न अज्ञेय। यहाँ वेदांत के अनिर्वचनीयतावाद के निकट आते आते ही वह उससे छिटक कर अलग भी हो जाता है। शर्मा सर्वात्मकसत्ता को अंशतः ज्ञेय और सर्वतः अज्ञेय साबित करने के लिए प्रतिबिम्बवाद का सहारा लेते हैं। यदि मणियों से कोई पांचालिका (गुड़िया) बनायी जाय, तो उन मणियों में उस गुड़िया का खण्ड-खण्ड रूप ही प्रतिबिम्बित हो कर भासेगा। व्यक्तिमन मणियाँ हैं, और गुड़िया सर्वात्मक सत्ता। मन में इस सर्वात्मक सत्ता का स्वरूप अंशतः भासित हो ही सकता है, अतः सर्वात्मक सत्ता अंशतः ज्ञेय ठहरती है। मन में सर्वात्मक सत्ता का पूरा प्रतिबिम्ब उतर सके, यह असम्भव है। अतः सर्वात्मक सत्ता सर्वांशतः अज्ञेय है। मन इस सर्वात्मक सत्ता के महासागर के बुलबुले सा ही है, उनमें पूरी की पूरी सत्ता का अक्स कैसे उतर सकता है? आधुनिक विज्ञान का सहारा लेते हुए शर्मा कहते हैं कि जब कोई मनुष्य अपने देह को ही भीतर और बाहर से सर्वांश में नहीं जान पाता, तो वह सर्वात्मक सत्ता को समग्रतः कैसे जानेगा? इस सरणि पर शर्मा द्विविध जीवन, व्यक्ति जीवन और सर्वात्मीय जीवन की परिकल्पना करते हैं। भारतीय शास्त्र परम्परा में यह नयी पदावली का प्रवेश है। चिदात्मा की ज्ञान और विज्ञान ये दो कोटियाँ शक्तियाँ हैं, जिनके अनुसार जीवन की ये दो कोटियाँ बनती हैं।

इसी जगह पर परमार्थदर्शनम् का भाष्य अस्पष्ट है और पाठ में त्रुटि लगती है। व्यक्तिजीवन और सर्वात्मीय जीवन के तारतम्य का खुलासा इस भाष्य से नहीं हो पाता। व्यक्तिजीवन सामान्य और साधारण है, सर्वात्मीय जीवन विशिष्ट और अद्वितीय— यदि ऐसा कहते हैं, तो वेदांत से अंतर कहाँ रह जाता है? पर जीवन की द्विविध कोटि के इस विवेचन से मुक्ति को हम पुनः परिभाषित कर सकते हैं। व्यक्ति के अपने सीमित जीवन से बाहर निकल कर सर्वात्म जीवन को जीने

योग्य बनते जाना ही मुक्त होना है। तब मुक्ति उसी तरह अंशतः प्राप्य और सर्वांशतः अप्राप्य हो जाएगी, जिस तरह सर्वात्मक सत्ता अंशतः ज्ञेय और सर्वांशतः अज्ञेय है। जितने मन के हिस्से में सर्वात्मक सत्ता ज्ञेय है, उतना ही वह मुक्त है और जितने में वह अज्ञेय है, उतने हिस्से में मन बँधा हुआ है। जब ब्रह्म जैसी निरपेक्ष सत्ता नकार दी, तो मुक्ति ही निरपेक्ष क्यों मानी जाये? तब यह स्थिति बनेगी कि हम लोगों में से बहुत से लोग ऐसे होंगे जो कुछ-कुछ मुक्त भी हैं, कुछ कुछ बँधे भी हैं।

इस दुनिया में न तो स्वर्ग का प्रलोभन है, न नरक का डर। स्वर्ग के बारे में शर्मा वही कहते हैं जो उनके समकालीन गालिब कह गये हैं। पुराणों को शर्मा गपोड़पंथी मानते हैं। भारतीय मानस की भीरुता और दोहरे चरित्र पर वे डट कर छींटाकशी करते हैं। अपनी उम्दा कल्पनाशीलता से बढ़िया क्रिस्से गढ़ते हुए उन्होंने परमार्थदर्शन का एक बड़ा हिस्सा छोटे-छोटे दृष्टांतों द्वारा तंत्र, मंत्र, सिद्धि आदि के खोखलेपन की खिल्ली उड़ाने पर खर्च किया है। शास्त्रीय शैली की सारी गंभीरता को भी उन्होंने इस स्तर पर आकर अपने खिलंदडेपन से तोड़ दिया है। अपना प्रस्थान पुष्ट करने के लिए उन्होंने उपनिषदों का भरपूर अवलंबन लिया है। उपनिषद् रूपी गौ का पुनः दोहन कर परमार्थ का नवनीत परमार्थदर्शनकार ने निकाला। उसमें ज्ञान, कर्म, और भक्ति मिल कर एक समन्वित पथ है, अलग-अलग पथ नहीं। चैतन्य से समवेत साकार जगत् एक अविभाज्य सत्ता है, जिसके परे और जिससे पृथक् कोई सत्ता नहीं है। यह सत्ता ही वह समग्र है, जिसे उपनिषद् 'भूमा' कहते हैं। उस भूमा से जुड़ना ही आनंद है, क्योंकि यह असीम है। सुख असीम में है, ससीम में नहीं।

परमार्थदर्शनम् बुद्धिजीवी का दर्शन है, और विद्वान को केंद्र में रखता है। शर्मा के अनुसार विद्वान दो प्रकार के होते हैं— ऋषि और संग्रहीता। ऋषित्व का लक्षण है अनधिगतदर्शित्व, अर्थात् जो पहले नहीं देखा गया, उसे देख सकने वाला ऋषि है। संग्रहीता पूर्वप्राप्त सामग्री का संकलन करता है। ऋषि की पुरानी परिभाषा (ऋषिदर्शनात्) को शर्मा ने विस्तार दिया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार संहिताकाल में वसिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र आदि ने अग्नि, सूर्य, सवितृ आदि देवों के स्वभाव को देख लिया और सृष्टि के सर्वात्मत्व का साक्षात्कार किया, उसी प्रकार पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के रहस्य को देख लेने वाले आर्यभट्ट जैसे ऋषि भी उसके बाद में हुए। भारत में ही नहीं, दूसरे देशों में भी ऐसे ऋषि होते आये हैं, और पुराने समय में ही नहीं आज तक वे होते रहते हैं। पृथुगौर (पाइथोगोरस), यकलीड (युक्लिड), आर्कमीड (आर्केमिडीज), कुपर्णिक (कोपरनिक), नवतनु (न्यूटन), दारुवीण (डार्विन) आदि ऐसे ऋषि हैं। (और भी पाश्चात्य नाम शर्माजी ने गिनाये हैं,

इस अज्ञ लेखक से इतने ही संस्कृतीकृत नामों का पुनः पाश्चात्यीकरण हो सका)।

इस दृष्टि से शर्मा स्वयं एक संग्रहीता हैं। उन्होंने वेद और उपनिषद् के वचनों का नया विन्यास किया है। विन्यास की नवीनता के कारण परमार्थदर्शन सातवाँ दर्शन लगता है। इस तरह का विन्यास कर पाना एक महत्कार्य है। विन्यास शर्माजी ने वेदांत और न्याय आदि का भी परमार्थदर्शन के भीतर किया है। इस विन्यास में इस दर्शनों के पदार्थों को नयी अर्थवत्ता भी कहीं कहीं मिली है। उदाहरण के लिए संशय न्यायदर्शन के सोलह पदार्थों में है। संशय के बिना न्याय की शुरुआत ही नहीं होती। (देकार्त ने भी अपने दर्शन के लिए इस तरह की बात कही है।) शर्मा भी संशय को स्वीकार करते हैं, और प्रतिपक्ष का प्रश्न उठाते हैं कि यदि संशय और निषेध को स्वीकार किया गया तो सर्वात्मक सत्ता पर भी संशय और निषेध लागू हो जाएँगे। उत्तर में वे कहते हैं— संशय और निषेध भी तो चिदात्मक या इसी सर्वात्मक सत्ता के रूप हैं, अतः संशय और निषेध करके भी हम उसी को सत्यापित करते हैं। एक वस्तु का उच्छेद स्वयं उसी वस्तु के द्वारा नहीं किया जा सकता।

रामअवतार शर्मा ने वैदिक संहिताओं से आरम्भ हुई परम्पराओं या परिभाषाओं के नवविन्यास में अर्थविस्तार या अर्थपरिवर्तन अवश्य किया है। ऋषित्व की अवधारणा की ही तरह उनकी मंत्र की अवधारणा है। इसके अनुसार स्पष्टार्थबोधक सांकेतिक वर्णविन्यास मंत्र हैं। ह्रीं क्लीम् इत्यादि निरर्थक वर्णसमुदाय इस लक्षण पर खरे नहीं उतरते, इसलिए वे मंत्र नहीं हैं। रसायन शास्त्र के सूत्र जैसे $ज=ह^2$ अ या $(एच_2+ओ_2=एच_2ओ)$ स्पष्टार्थबोधक तथा सांकेतिक वर्णविन्यास हैं— इसलिए वे मंत्र हैं। मंत्र जप या पाठ के लिए नहीं होते, वे तो कुंजी खोलकर उसमें निहित अर्थ के अनुसार अनुष्ठान करने पर सिद्धि करने के लिए होते हैं। सिद्धि भी संस्कृत मन में संकल्प धारण करने से होती है। इस तरह रामअवतार शर्मा के दर्शन में मंत्र, अनुष्ठान और सिद्धि के अर्थ आधुनिक विज्ञान की तकनीकों में परिणति पा लेते हैं।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. *गोपालबसु मलिक लैक्चर्स ऑन वेदांतिज्ञम* (1908), कोलकाता विश्वविद्यालय, कोलकाता.
2. *युरोपीय दर्शन* (1905), काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
3. रामअवतार शर्मा (1911-13/1994), *परमार्थदर्शनम्* द्वितीय संस्करण, सम्पा. जनार्दनशास्त्री पाण्डे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

— राधावल्लभ त्रिपाठी

रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर

(Ramkrishna Gopal Bhandarkar)

प्राच्यवादी अध्ययनशास्त्र के बहुश्रुत विद्वान रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर (1837-1925) भारत के पहले आधुनिक स्वदेशी इतिहासकार थे। दादाभाई नौरोजी के शुरुआती शिष्यों में प्रमुख भण्डारकर ने पाश्चात्य चिंतकों के आभामण्डल से अप्रभावित रहते हुए अपनी ऐतिहासिक कृतियों, लेखों और पर्चों में हिंदू धर्म और उसके दर्शन की विशिष्टताएँ इंगित करने वाले प्रमाणिक तर्कों को आधार बनाया। उन्होंने उन्नीसवीं सदी के मध्य भारतीय परिदृश्य में उठ रहे पुनरुत्थानवादी सोच को एक स्थिर और मजबूत ज़मीन प्रदान की। अपने तर्कनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ रवैये और नवीन स्रोतों के एकत्रण की अन्वेषणशीलता के बदौलत भण्डारकर ने सातवाहनों के दक्षिण के साथ-साथ वैष्णव एवं अन्य सम्प्रदायों के इतिहास की पुनर्रचना की। ऑल इण्डिया सोशल कांफ्रेंस (अखिल भारतीय सामाजिक सम्मलेन) के सक्रिय सदस्य रहे भण्डारकर ने अपने समय के सामाजिक आंदोलनों में अहम भूमिका निभाते हुए अपने शोध आधारित निष्कर्षों के आधार पर विधवा विवाह का समर्थन किया। साथ ही उन्होंने जाति-प्रथा एवं बाल विवाह की कुप्रथा का खण्डन भी किया। प्राचीन संस्कृत साहित्य के विद्वान की हैसियत से भण्डारकर ने *संस्कृत की प्रथम पुस्तक* और *संस्कृत की द्वितीय पुस्तक*, जो अंग्रेज़ी माध्यम से संस्कृत सीखने की सबसे आरम्भिक पुस्तकों में से एक हैं, की रचना भी की। भण्डारकर यद्यपि अंग्रेज़ों के विरोधी नहीं थे, पर वे राष्ट्रवादी चेतना के धनी थे। वे ऐसे प्रथम स्वदेशी इतिहासकार थे जिन्होंने भारतीय सभ्यता पर विदेशी प्रभावों के सिद्धांत का पुरजोर और तार्किक विरोध किया।

प्राच्यवादी विद्वानों के शोध-निष्कर्षों को एक मंच पर साझा करने के लिये 1872 में जेम्स वर्गीज़ ने *इण्डियन*

एंडटक्वेरी (भारतीय पुरावेत्ता) नामक शोध पत्रिका भी शुरू की थी। इसी के साथ भण्डारकर की बौद्धिकता भी परवान चढ़ी। भण्डारकर उन लोगों में एक थे जिन्हें इस शोध पत्रिका की जिम्मेदारी सँभालने हेतु भरोसेमंद समझा जाता था। उन्होंने अपनी भूमिका निभाने में कोई कोताही भी नहीं बरती। इण्डियन एंडटक्वेरी के अलावा जिन शोध पत्रिकाओं और संगठनों ने उनका ध्यान खींचा उनमें 1804 में जेम्स मैकिंटोश द्वारा स्थापित रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की मुम्बई शाखा प्रमुख थी। भण्डारकर के साथ के.टी. तैलंग इस सोसाइटी के तीसरी पीढ़ी के सदस्यों में से थे।

इण्डियन एंडटक्वेरी से शुरू हुई बौद्धिक यात्रा की शुरुआत में भण्डारकर 1872 से 1874 के बीच बर्लिन के प्रोफ़ेसर वेबर से उलझे। उन्होंने उनके साथ पतंजलि के काल और पतंजलि का महाभाष्य के मुद्दों पर उत्साहपूर्ण तार्किक और विवादस्पद बहस की। 'पतंजलि का काल' लेख में भण्डारकर ने वेबर के निष्कर्षों के उलट (जिसमें उन्होंने उसे कई शताब्दियों बाद की रचना बताया थी) सफलतापूर्वक सिद्ध किया कि पतंजलि के महाभाष्य की रचना ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्य की गयी थी। बाद में दूसरे कारणों से इसी तरह के निर्णय पर गोल्डस्टकर भी पहुँचे। 1873 में ही भण्डारकर ने *जर्नल ऑफ़ मुम्बई ब्रांच ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी* के एक लेख द्वारा कर्नल एलिस के दृष्टिकोण (जिसमें कर्नल एलिस में महाभारत काल को 1521 ईस्वी सन् का ठहराया था) में सुधार किया। अपने एक अन्य लेख में भण्डारकर ने पतंजलि और कात्यायन के मूल निवास के सवाल पर गोल्डस्टकर और वेबर से असहमति दर्ज की। वेबर की इस मान्यता के विपरीत कि पतंजलि पाटलिपुत्र से भी पूर्वी क्षेत्र के थे, भण्डारकर ने उन्हें पश्चिमी अवध के किसी उत्तर-पश्चिमी स्थान का मूल निवासी माना। उन्होंने कात्यायन को दक्षिण का मूल निवासी सिद्ध किया। *इण्डियन एंडटक्वेरी* के 1874 के एक लेख 'पतंजलि महाभाष्य में कृष्ण के संकेत' (*एल्युजंस टू कृष्णा इन पतंजलिज महाभाष्य*) में भण्डारकर महाभाष्य के कई उद्धरणों, शब्दों की निर्मिति और उनके मूल के बारे में विस्तृत व्याख्या के जरिये इस प्रस्तावना पर पहुँचे कि जैसे हिंदू काल में समकालीन प्रचलित स्थापनाएँ / मान्यताएँ नाटकीय रूप से पौराणिक काल की हैं, उसी तरह कृष्ण अथवा वासुदेव द्वारा कंस का वध और बलि की अधीनता संबंधी कहानियाँ पतंजलि के काल में लोकप्रिय और चर्चित थीं। इस कारण महाभारत का काल पतंजलि के काल की तरह ही बहुत पहले की घटना थी, न कि कर्नल एलिस के मुताबिक सोलहवीं सदी की। 1974 में ही *इण्डियन एंडटक्वेरी* के मई अंक में 'वेदाज्ज इन इण्डिया' शीर्षक एक लम्बे आलेख में स्पष्ट और सारगर्भित ढंग से भण्डारकर ने बताया कि कैसे वैदिक पाठ करने वाले ब्राह्मण परिवारों द्वारा वेदों के अध्ययन से संस्कृत शिक्षा की परिपाटी शुरू की गयी।

इसी दौरान भारतीय संस्कृति का श्रेष्ठ विद्वान होने की ख्याति ने भण्डारकर को 1874 में लन्दन में हुए प्राच्यवादियों के अंतराष्ट्रीय सम्मलेन में शामिल होने का न्यौता दिलाया। भण्डारकर सम्मेलन में नहीं गये पर उन्होंने सातवाहन काल के राजाओं और उनके उद्गम पर प्रकाश डालने वाला लेख वहाँ भेजा। यह लेख *ट्रांजेक्शंस ऑफ़ ओरिएंटल कांग्रेस*, 1874 में प्रकाशित हुआ। इसने भण्डारकर की विद्वत्ता की साख और बढ़ाई। उन्हें अंतराष्ट्रीय रूप से स्थापित विद्वान का दर्जा देते हुए अगले साल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी का सदस्य बनाया गया। जब 1876 में विल्सन फ़िलोलोजी लेक्चरशिप शृंखला की शुरुआत हुई तो उसका पहला व्याख्यान रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने ही दिया। भण्डारकर ने संस्कृत और पाली के सुबद्ध और शैक्षिक इस्तेमाल से भाषाशास्त्रीय विज्ञान की स्थापना को एक मजबूती दी। 1876 में उन्होंने एक संस्कृत नाटक *मालती माधव* का प्रकाशन कराया। बाद में 1886 में वियना में आयोजित प्राच्यवादियों के अंतराष्ट्रीय सम्मलेन में भी वे शामिल हुए।

राजनीतिक इतिहास पर भण्डारकर ने दो प्रबंध *द अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ द डेक्कन* (1884) और *अ पीप इनटू द अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया* (1900) लिखे। *द अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ द डेक्कन* को भण्डारकर केवल तथ्यों का एक संकलन मात्र मानते थे। इस रचना में उन्होंने प्राचीनतम काल से मुसलमानों की विजय तक पश्चिमी भारत का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है जिससे राजनीतिक इतिहास के साथ आलोच्यकाल के दौरान दक्कन की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्य और कला की स्थिति पर रोशनी पड़ती है। दूसरे ग्रंथ में भण्डारकर ने मौर्य काल के प्रारम्भ से गुप्त साम्राज्य के समापन चरण तक का ब्योरा दिया है जब गुप्तों के अधीन ब्राह्मणवादी विचारधारा का पुनरुत्थान हुआ और जिसकी अभिव्यक्ति गुप्त कालीन धर्म, कला और साहित्य में प्रतिबिंबित होती है। 1913 में भण्डारकर ने अपनी सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक कृति *वैष्णवविजय, शैविज्य एंड द माइनर रिलीजस सेक्ट्स* लिखी जो अपनी तकनीकी संरचना के बावजूद आज भी गुप्तकालीन धार्मिक आस्थाओं में होने वाले परिवर्तन के अध्ययन का महत्वपूर्ण ज़रिया है। भण्डारकर ने *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडो-आर्यन रिसर्च* के रूप में जिस परम्परा की शुरुआत की उसे बाद में जी, भुल्लर और एफ़. किल्हम ने आगे बढ़ाया।

दि क्रिटिकल, कोआपरेटिव एंड हिस्टोरिकल मेथड ऑफ़ इन्क्वायरी शीर्षक शोधपत्र में भण्डारकर ने दिखाया है कि कैसे अनुसंधान पद्धति में विभिन्न स्रोतों की गहरी छानबीन करके ऐतिहासिक सत्य और सटीक वर्णनात्मकता का इस्तेमाल करना चाहिए। इस पद्धति की सीमाओं का निर्धारण करते हुए उन्होंने इतिहासकार में वकील की तरह

जिरह करने वाली प्रवृत्ति को हतोत्साहित किया और एक न्यायाधीश जैसी कठोर निष्पक्षता पर बल दिया। उनकी दृष्टि में विद्वान का लक्ष्य शुष्क सत्य का संधान होना चाहिए, साथ ही उसे उपलब्ध साक्ष्यों की विश्वसनीयता निर्धारित करने का हरसम्भव प्रयास करना चाहिए। जनश्रुति में ऐतिहासिक सत्य के अंश की खोज को अनुसंधान पद्धति के माध्यम से परीक्षणोपरांत अपनाने की सिफारिश भण्डारकर ने केवल अवसर के रूप में सीमित रखने की हिदायत दी। वे मानते थे कि इतिहास का वर्णन उसी रूप में होना चाहिए जैसा वह वस्तुतः था।

अपनी सामाजिक भूमिका के बारे में बेहद जागरूक भण्डारकर ने यह सिद्ध किया कि प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन से आधुनिक सुधारों की प्रेरणा नहीं मिली, बल्कि इसके उलट आधुनिक सुधारों ने प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन की ओर प्रेरित किया था। बदले में सुधारकों को इन ग्रंथों से एक ऐसी जुबान मिली जिससे वे जनता से बातचीत कर सकें। अर्थात् सुधार की मूल प्रेरणा आधुनिक जीवन पद्धति से निकली और फिर सुधारकों द्वारा प्राचीन मूल्यों के पुनरुत्थान से उन सुधारों को आगे बढ़ने में आसानी हुई। विद्यार्थी जीवन से ही भण्डारकर सामाजिक और धार्मिक सुधारवादी कार्यक्रमों से सक्रिय रूप से जुड़ गये थे। तत्कालीन समाज की रूढ़िवादी जाति प्रथा के खिलाफ गुप्त रूप से सक्रिय परमहंस सभा में 1853 से ही सक्रिय थे। 1867 में केशवचन्द्र सेन के मुम्बई आगमन के पश्चात् कोलकाता के ब्रह्म समाज के तर्ज पर मुम्बई में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई जिससे भण्डारकर 1869 में जुड़ गये। इस संस्था में ईसाई दर्शन से निर्देशित पूर्व-मान्यताओं का खण्डन करते हुए उन्होंने प्रार्थना समाज को परिष्कृत हिंदूवाद बताते हुए यह सिद्ध किया कि भारतीय धर्म और दर्शन ने युरोपीय विचारों को किस तरह प्रभावित किया है। उन्होंने चेताया कि हिंदू धर्म और भारतीय सभ्यता के प्रति किसी तरह की अवहेलना विषादपूर्ण परिणामों को जन्म देगी। 1912 में दलित वर्ग के एक सम्मेलन को संबोधित करते हुए अपने संस्कृत और पाली ग्रंथों से निकाले गये उद्धरणों के साथ महिला शिक्षा और विधवा विवाह की वकालत की, बाल-विवाह का खण्डन किया और अस्पृश्यता उन्मूलन हेतु हिंदुओं का आह्वान किया। उदाहरणों के माध्यम से उन्होंने समझाया कि इसे उत्पीड़ित वर्गों पर मेहरबानी की तरह नहीं बल्कि समाज को टिकाये रखने की आवश्यकता के तौर पर स्वीकार करना होगा।

भण्डारकर के प्रशंसकों और बौद्धिक अनुयाइयों ने सर रतन टाटा और सर दोराबजी टाटा के सहयोग के साथ-साथ मुम्बई प्रशासन की मदद से भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट की पुणे में स्थापना की जिसका उद्घाटन जुलाई, 1917 में मुम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंगडन ने किया। 1919

में यहाँ आल-इण्डिया कॉन्फ्रेंस ऑफ ओरिएंटल स्कालर्स नाम से प्राच्यवादियों का प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन आयोजित हुआ। भण्डारकर इसके प्रथम अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का जन्म 6 जुलाई, 1837 को महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले के मालवण में हुआ था। उनके पिता मालवण के मामलेदार के अधीनस्थ मुंशी थे। शुरुआती शिक्षा में आयी कठिनाई के बाद जब उनके पिता का स्थानांतरण रत्नागिरी जिले के राजस्व विभाग में हुआ तो उन्हें अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने का मौका मिला। इसी विद्यालय से उनके समकालीन मांडलिक और बर्वे ने शिक्षा प्राप्त की थी। रत्नागिरी से स्कूली शिक्षा पूरी करके 1853 में भण्डारकर ने मुम्बई के एल्फिंस्टन कॉलेज में दाखिला लिया जहाँ उन्होंने जिन जानी मानी हस्तियों से शिक्षा प्राप्त की उनमें प्रथम राष्ट्रवादी चिंतक और ड्रेन थियरी के प्रतिपादक दादाभाई नौरोजी प्रमुख थे। दादाभाई नौरोजी के प्रोत्साहन के कारण ही अंग्रेजी साहित्य, प्राकृतिक विज्ञान और गणित के प्रति रुचि के बावजूद भण्डारकर ने संस्कृत और पाली के ज्ञान के सहारे गौरवशाली अतीत के पुनर्निर्माण हेतु इतिहास-लेखन को अपनाया। 1862 में भण्डारकर एल्फिंस्टन कॉलेज के पहले बैच से ग्रेजुअट होने वालों में से एक थे। 1863 में ही उन्होंने परास्नातक की उपाधि अर्जित की। कुछ समय तक सिंध के हैदराबाद और रत्नागिरी के राजकीय विद्यालयों में हेडमास्टर के तौर पर कार्य करने के बाद वे एल्फिंस्टन कॉलेज में व्याख्याता पद पर नियुक्त हुए और आगे चल कर पुणे के डेक्कन कॉलेज में संस्कृत के प्रथम भारतीय प्रोफेसर हुए। 1894 में अपनी सेवानिवृत्ति से पूर्व भण्डारकर मुम्बई विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे। 1885 में जर्मनी की गोतिनो युनिवर्सिटी ने उन्हें डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की। प्राच्यवादियों के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में शामिल होने के लिए वे लंदन (1874) और वियना (1886) भी गये। शिक्षाशास्त्री के तौर पर भण्डारकर 1903 में भारतीय परिषद् के अनाधिकारिक सदस्य चुने गये। गोपाल कृष्ण गोखले भी उस परिषद् के सदस्य थे। 1911 में रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर को नाइट की उपाधि से सम्मानित किया गया। सामाजिक रूढ़िवादी माहौल के बावजूद भण्डारकर ने अपनी पुत्रियों और पौत्रियों को विश्वविद्यालयी शिक्षा दिलायी और अपनी पसंद का जीवन साथी चुनने की परिपक्वता प्राप्ति तक उनका विवाह नहीं किया। उन्होंने अपनी विधवा पुत्री के पुनर्विवाह के लिए भी अनुमति दी। 24 अगस्त, 1925 को उनका का निधन हुआ।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार,

रणजीत गुहा, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. ए.डी. पुलस्कर (1973), 'आर.जी. भण्डारकर', ए.पी. सेन (सम्पा.), *हिस्टोरियंस एंड हिस्टोरियोग्राफी इन मॉडर्न इण्डिया*, इण्डियन हिस्टोरिकल रिसर्च, कोलकाता.
2. रामशरण शर्मा (1983), *मैटेरियल कल्चर एंड सोशल फार्मेशन इन एंडशार्प्ट इण्डिया*, मैक्सिमलन, नयी दिल्ली.
3. रोमिला थापर (1966), *अ हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*, भाग 1, पेंगुइन बुक्स, लंदन.
4. अरुण तिकेरा एवं अरुणा तिकेरा (2006), *द क्लाइस्टर्स पेल् : अ बायोग्राफी ऑफ द युनिवर्सिटी ऑफ मुंबई*, पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई.

— निर्मल कुमार पाण्डेय

रामविलास शर्मा

(Ramvilas Sharma)

साहित्यालोचक, भाषाशास्त्री, इतिहासकार, सभ्यता-समीक्षक, मार्क्सवादी सिद्धांतकार, कवि, अनुवादक और संगठक रामविलास शर्मा (1912-2000) हिंदी-जगत के शलाका पुरुष माने जाते हैं। चालीस के दशक से नयी सदी की शुरुआत तक फैले हुए विशद कृतित्व की साक्षी उनकी सौ रचनाएँ हैं जिनमें उन्होंने प्रेमचंद से लेकर वेदों तक साहित्य-संस्कृति और इतिहास के विविध पहलुओं पर अधिकारपूर्वक लिखा और सर्वाधिक पढ़े-गुने गये। सभ्यता-समीक्षक के रूप में उन्होंने जीवन भर तीन अनसुलझी उलझनों से मुठभेड़ की। पहली उलझन यह थी कि मार्क्सवादी कसौटियों के मुताबिक जो समाज पिछड़ा हुआ मान लिया गया हो, उसमें दर्शन, कला और साहित्य का इतना उत्कृष्ट विकास कैसे और क्यों होता है? यह पिछड़ा हुआ समाज भारत भी हो सकता है और अफ़लातून के ज़माने का यूनान भी। दूसरी उलझन यह थी कि ऋग्वेद से चली आयी पाँच हज़ार साल पुरानी भारतीय परम्परा का मूल्यांकन कैसे किया जाना चाहिए? आधुनिकता के साथ इस परम्परा के रिश्ते की शिनाख़्त कैसे होगी? तीसरी उलझन यह थी कि एक बहुभाषी, बहुधार्मिक, बहुसांस्कृतिक और बहुजातीय देश में एक स्वदेशी सम्पर्क-भाषा का तर्क कैसे स्थापित किया जा सकता है? इन्हीं आपस में गुँथी हुई उलझनों से जद्दोजहद की प्रक्रिया में रामविलास शर्मा ने मार्क्सवाद प्रदत्त

अंतर्दृष्टियों का मौलिक इस्तेमाल करते हुए हिंदी जाति की अवधारणा का सूत्रीकरण किया। उन्होंने भक्ति-काल का सूत्रीकरण लोक-जागरण की एक ऐसी अवधि के रूप में किया जो विश्व-इतिहास में अनूठी है। हिंदी प्रदेश में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध को उन्होंने एक ऐसे हिंदी नवजागरण की संज्ञा दी जिसके केंद्र में भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके इर्द-गिर्द सक्रिय रहने वाले लेखक थे।

वर्तमान उत्तर प्रदेश के उन्नाव ज़िले के ऊँचगाँव में जन्मे रामविलास शर्मा ने अंग्रेज़ी साहित्य में पीएचडी करने के बाद लखनऊ और आगरा में इसी विषय का अध्यापन किया। लेकिन तीस के दशक से ही वे हिंदी-लेखन से प्रतिबद्ध हो गये। विवेकानंद और दयानंद के विचारों से गुज़रते हुए वे मार्क्सवाद तक पहुँचे और कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ने के बाद चालीस के दशक में प्रगतिशील लेखक संघ के महामंत्री रहे। मार्क्सवादी होने के बावजूद रामविलास शर्मा ने इस विचारधारा की बँधी-बँधाई लीक पर चलने से इनकार करते हुए कहा कि भारत को समझने के लिए मार्क्स की आवश्यकता है लेकिन मार्क्स को समझने के लिए भारत की भी ज़रूरत है। रामविलास शर्मा के बारे में माना जाता है कि उनके ज़रिये हिंदी आलोचना को एक साम्राज्यवाद विरोधी युग मिला। उन्होंने रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-दृष्टि के बीज भावों को नये भाष्यों-व्याख्याओं के साथ पल्लवित-पोषित किया। ज्ञान, प्रतिभा, समर्पण, प्रतिबद्धता और मौलिक कल्पनाशीलता के लिहाज़ से लासानी उनकी विरासत हिंदी-जगत के लिए उन्मोचक है और रहेगी। वे तीसरी दुनिया की उन सबसे चमकदार प्रतिभाओं में से एक थे जिन्होंने मार्क्सवाद को युरोकेंद्रीयता से मुक्त करके न केवल भारत और हिंदी-क्षेत्र के लिए अपना बनाने का कठिन उद्यम किया; पश्चिम और अंग्रेज़ी की कथित श्रेष्ठता और दम्भ से पूरी तरह मुक्त बौद्धिकता का संधान किया; और सबसे अलग और सबसे ऊपर उठते हुए उन्होंने अपने अहर्निश रचना-कर्म से दुनिया के सामने चुनौती फेंकी कि विचारधारा कोई भी हो, पर पूर्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पश्चिम की ज़मीन से हट कर पूर्व की धरती पर क्रदम रखना ही होगा।

स्वाधीनता आंदोलन से उपजी साम्राज्यवाद विरोधी आलोचना को केंद्रस्थ करने वाले उनके रचना-संसार की पहली सीढ़ी है *प्रेमचंद और उनका युग*। दूसरी सीढ़ी है *आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना*। तीसरी सीढ़ी है *निराला की साहित्य साधना*। चौथी सीढ़ी है *भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा* और पाँचवीं सीढ़ी है *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण*। गहन, विविध और व्यापक अध्ययन ने उन्हें बताया कि परम्पराएँ अनेक हैं। उनके सामने प्रश्न था कि नर्मदा की अनेक धाराओं की तरह बहने वाली इन परम्पराओं से निर्मित मनुष्य को कैसे समझा जा

सकता है। उनके लिए आलोचना-साहित्य का दर्शनशास्त्र जटिल-संश्लिष्ट प्रत्ययों की सीमा रेखा को स्पष्ट करने से जुड़ा था। इस दृष्टि से आलोचना उनके लिए केवल वाद-विवाद का संकट न हो कर एक ऐसा 'प्रभाव' है जिसे रचना द्वारा पाकर हम भीतर से बदलते हैं। उससे हमारी ज्ञानात्मक-संवेदनात्मक चेतना का विस्तार और परिष्कार होता है और हम देश-काल की मनोभूमि का साक्षात्कार कर पाते हैं। रामविलास शर्मा के लिए इसी अर्थ में रचना-आलोचना दोनों सहयोगी प्रयास हैं।

जिसे 'मिलियू' या युगबोध कहा जाता है, उसकी प्रथम सशक्त अभिव्यक्ति हिंदी पाठक रामविलास शर्मा के चिंतन में पाता है। अपने प्रेमचंद संबंधी विमर्श में उन्होंने लिखा है, 'प्रेमचंद के समय में समाजवादी विचारधारा की मुख्य भूमिका थी स्वाधीनता आंदोलन को साम्राज्य विरोधी मार्ग पर सुसंगत रूप से आगे बढ़ाना। यद्यपि प्रेमाश्रम और गोदान में किसान-जमींदार और किसान-महाजन की समस्याएँ मुख्य हैं, फिर भी प्रेमाश्रम में किसान को सीधे साम्राज्यवादी तंत्र का सामना करना होता है और गोदान में भी महाजनी शोषण की पृष्ठभूमि में बैंकपतियों का पूँजीवाद मौजूद है। प्रेमचंद की 'महाजनी सभ्यता' केवल सामान्य पूँजीवादी सभ्यता नहीं है, वह अंतर्राष्ट्रीय बैंकपतियों की सभ्यता भी है। प्रेमचंद ने संसार की बहुसंख्यक जनता को इन बैंकपतियों के चंगुल में फँसा देखा था।' भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, निराला, रामचंद्र शुक्ल, माखनलाल चतुर्वेदी पर डॉ. शर्मा ने बहुत विस्तार से युगभूमि की मनोभूमिका के संदर्भ में विचार किया है। युग की भावनाओं, धारणाओं, विचारों, उद्देश्यों, अभिप्रायों, प्रणालियों पर सशक्त विचार करने की दृष्टि से वे बेहद महत्वपूर्ण आलोचक हैं। द्विवेदी-युग और छायावादी-युग की क्रांतिपरक धाराएँ उनकी मानसिकता का निर्माण करती हैं। उनकी आलोचना का चरम निराला और माखनलाल चतुर्वेदी की साधना में दिखाई देता है।

रामविलास शर्मा की पूरी मानसिकता का बीजभाव है भारतीय स्वाधीनता आंदोलन। इसी बीजभाव से ही उनका पूरा नवजागरण और हिंदी जाति से संबंधित चिंतन जुड़ा है। यही चिंतन ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोध की बुनियाद में है। इस तरह साम्राज्यवाद विरोध देशभक्ति की अनंत छवियों के साथ उनके लेखन में आता रहा है।

रामविलास शर्मा साहित्य में रीतिवाद के कड़े विरोधी थे। रामचंद्र शुक्ल ने रहस्यवाद-अध्यात्मवाद का विरोध करते

हुए रीतिवाद से हिंदी आलोचना को मुक्ति दिलाने की मुहिम शुरू की थी। उन्होंने स्वयं भी शुक्ल की आलोचना-दृष्टि आगे बढ़ाते हुए उन लोगों से संग्राम किया जिन्होंने इस आलोचना-दृष्टि को छोटा करने की कोशिश की। उनकी मान्यता थी कि छायावाद के सांस्कृतिक-नवजागरण का विरोध वे लोग ही करते हैं जो साहित्य को तंत्र-मंत्रवाद और रीतिवाद से पाट देना चाहते हैं। छायावाद मुक्ति की चेतना का आंदोलन है, वह भावावेश का नहीं। शर्मा मानते हैं कि 'छायावाद साम्राज्यवाद विरोधी चेतना के निखार का साहित्य है' और 'छायावाद भाषा और कथन की मल्लविद्या के प्रति विद्रोह है। विद्रोह दोनों ओर है। पहले विद्रोह से स्वाधीनता की प्राप्ति होगी, दूसरे से माधुर्य की। दोनों में लुका-छिपी की वृत्ति सामान्य है।'



रामविलास शर्मा (1912-2000)

रामविलास शर्मा की दो रचनाएँ भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा और भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण दो ऐसी पुस्तकें हैं जिनमें साम्राज्यवाद विरोधी चेतना का प्रबल विस्फोट मिलता है। इसी विचार का अगला निखरा रूप महावीर प्रसाद द्विवेदी पर लिखी उनकी अनूठी पुस्तक में मिलता है। इन्हीं विचारों से जुड़ी महत्वपूर्ण सामग्री भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद में और यही विचार-विस्तार निराला की साहित्य साधना के दूसरे और तीसरे खण्ड में है। रामविलास शर्मा को निराला के साथ माखनलाल चतुर्वेदी का क्रांतिकारी जीवन भी बहुत प्रिय रहा है। उनका इरादा निराला की साहित्य-साधना की तरह माखनलाल चतुर्वेदी की भी साहित्य-साधना पर एकाग्र होकर कार्य करना था जिसे वे शुरू नहीं कर पाये।

राष्ट्रवादी इतिहासकारों के स्वर में स्वर मिलाते हुए रामविलास शर्मा ने हिंदी-जगत को बताया कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद के वर्चस्व से पहले भारतीय उद्योग-धंधों के तैयार माल से विदेशी सोना देश में आता था। अंग्रेजी राज ने यह प्रक्रिया उलट दी। यहाँ का सोना लूटमार के जरिये इंग्लैण्ड ले जाया गया और भारत को खेतिहर देश बनाया गया। हमारे बाज़ार पर अंग्रेजों का क़ब्ज़ा हो गया। इस तरह भारत के व्यापार का नाश करके अंग्रेजों ने यहाँ औद्योगिक विकास को चौपट कर दिया। अंग्रेजों को पता चल गया था कि भारत के कच्चेमाल पर जिस देश का क़ब्ज़ा होगा वही देश दुनिया पर राज करेगा। अंग्रेजों ने डचों-फ्रांसीसियों से लड़ाई लड़ कर उन्हें खदेड़ दिया और वे पूरे व्यापार के मालिक बन गये। नतीजतन निर्धन इंग्लैण्ड में औद्योगिक

क्रांति करने में वे सफल हुए, और भारतीय किसान उत्तरोत्तर गरीब होता चला गया। यह जिज्ञासा सहज है कि रामविलास शर्मा को बालमुकुंद गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, माखनलाल चतुर्वेदी हरदम क्यों याद आते हैं? ऐसा इसलिए है कि इन रचनाकारों का ध्यान भारतीय निर्धन-अशिक्षित लाचार जनता के साम्राज्यवाद विरोधी नवजागरण या लोकजागरण पर रहा है। विशेष रूप से हिंदी जाति पर उनका ध्यान इसलिए जाता है कि हिंदी प्रदेशों की इसी किसान-मजदूर जनता ने खड़ी बोली में स्वाधीनता-संग्राम की लड़ाई लड़ी थी। दरअसल रामविलास शर्मा ने 'अंग्रेज़ी लूट और किसान संघर्ष' पर व्यापक दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने अंग्रेज़ों की इस स्थापना का खण्डन करते हुए कि भारत केवल कृषि प्रधान देश रहा है, अपने तर्कों और ऐतिहासिक सामग्री से सिद्ध किया कि इस देश में व्यापार का एक समृद्ध इतिहास रहा है। इसे अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद ने नष्ट किया।

अपने जीवन के आखिरी दौर में रामविलास शर्मा ने वैदिक काल पर विशेष रूप से ध्यान देते हुए दावा किया कि उनका यह लेखन मार्क्सवाद से अलग न होते हुए कुल मिला कर उनकी 'मार्क्सवादी परियोजना' का ही अंग है। आर्यों के आक्रमण की थीसिस का विरोध करने वाले रामविलास शर्मा की मान्यता थी कि वेद पुरोहित वर्ग के नहीं बल्कि तत्कालीन शिल्पी वर्ग की रचनाएँ हैं। *वैदिक हड़प्पस* के रचयिता भगवान सिंह रामविलास शर्मा की मौलिक अंतर्दृष्टि के बारे में यह कह कर आश्चर्य जाहिर कर चुके हैं, 'मैं कई बार यह देख कर भौचक रह जाता हूँ कि जिन बातों की ओर मुझसे पहले किसी का ध्यान नहीं गया था, उनकी तरफ़ रामविलासजी का ध्यान गया था।'

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लोसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, भारतेन्दु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा (1999), *भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश*, खण्ड-दो, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. रामविलास शर्मा (1977), *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. रामविलास शर्मा (2000), *गाँधी, लोहिया और आम्बेडकर*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. रामविलास शर्मा (1999), *पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद*, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.

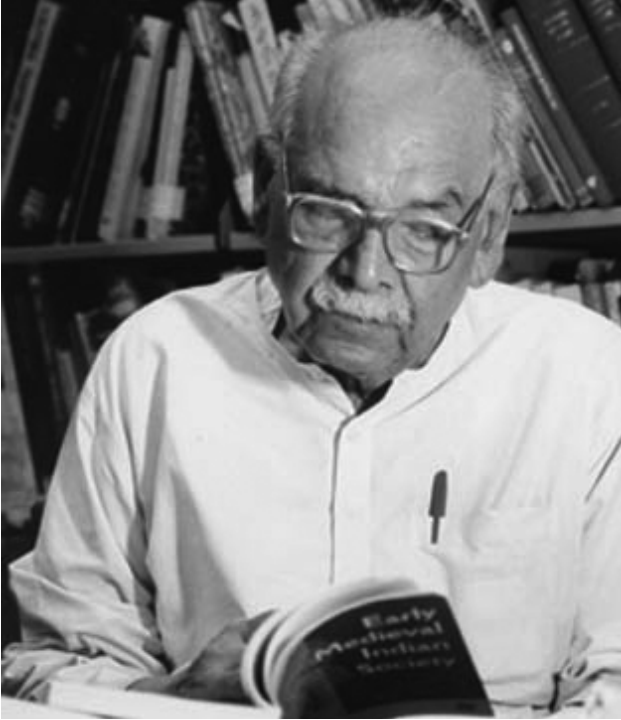
— कृष्णादत्त पालीवाल

राम शरण शर्मा

(Ram Sharan Sharma)

राम शरण शर्मा (1921-2011) दामोदर धर्मानंद कोसम्बी द्वारा स्थापित प्राचीन भारत की मार्क्सवादी इतिहास-लेखन परम्परा के बेहतरीन प्रतिनिधियों में से एक थे। उन्हें साम्राज्यवादी, औपनिवेशिक तथा सांस्कृतिक अंध-राष्ट्रवाद से प्रेरित इतिहास-लेखन के कई मानदण्ड भंग करने का श्रेय दिया जाता है। वे ऐतिहासिक साहित्य, पुरालेख और पुरातात्विक स्रोतों के माध्यम से पड़ताल करने की कला में सिद्धहस्त थे। प्राचीन भारतीय सामाजिक ढाँचे, भौतिक और आर्थिक जीवन, राज्य-व्यवस्था के निर्माण और राजनीतिक विचारों के उद्भव और धर्म-दर्शन की सामाजिक पृष्ठभूमि पर अपनी कृतियों से महती प्रकाश डालने वाले राम शरण शर्मा के बारे में इरफ़ान हबीब मानते हैं कि भारतीय इतिहास में खेतिहर वर्ग का प्रवेश कोसम्बी और राम शरण शर्मा की ही देन थी। राम शरण शर्मा द्वारा प्रस्तुत भारतीय सामंतवाद की प्रकृति और संरचना के इर्द-गिर्द एक अत्यंत महत्वपूर्ण बहस की शुरुआत हुई जिसमें कई इतिहासकारों ने हिस्सा लिया। सौ पुस्तकों के लेखक और पंद्रह भाषाओं में अनूदित राम शरण शर्मा की कृतियाँ आज भी भारत ही नहीं पश्चिम के भी कई विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती हैं।

राम शरण शर्मा का जन्म 26 नवम्बर, 1919 को बिहार में बेगुसराय के बरौनी नामक स्थान पर एक भूमिहार ब्राह्मण परिवार में हुआ था। 1937 में मैट्रिकुलेशन करके शर्मा ने पटना कॉलेज में इंटरमीडिएट से लेकर परा-स्नातक तक की पढ़ाई की। युवावस्था में ही कार्यानंद शर्मा और सहजानंद सरस्वती जैसे किसान नेताओं और राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान के सम्पर्क में आये राम शरण वामपंथ के प्रति



राम शरण शर्मा (1921-2011)

आकर्षित हुए। ए.एल. बाशम के शोध-निर्देशन में उन्होंने अपनी पीएचडी युनिवर्सिटी ऑफ लंदन के स्कूल ऑफ ओरिएंटल ऐंड अफ्रीकन स्टडीज़ से की।

अभिजनपरक पूर्ववर्ती इतिहास-लेखन की परम्परा से इतर राम शरण शर्मा ने अपने लेखन की शुरुआत 1958 में प्रकाशित अपनी कृति *शूद्राज इन ऐंशिअंट इण्डिया* (शूद्रों का प्राचीन इतिहास) से की। इसके केंद्र में वैदिक काल से गुप्त काल के बीच उत्पादन के साधनों और निम्न सामाजिक आधार वाले वर्गों के बीच संबंधों की पड़ताल थी। इस कृति में उन्होंने दिखाया कि कैसे जाति या वर्ण-व्यवस्था की गहरी छानबीन प्राचीन भारत के सम्पूर्ण इतिहास में सामाजिक संबंधों की प्रकृति समझने की दृष्टि से केंद्रीय महत्त्व रखती है। मुख्य रूप से साहित्यिक स्रोतों पर आधारित इस कृति में शर्मा ने अत्यंत विद्वत्तापूर्ण ढंग से समाज के निम्न वर्गों के साथ उत्पादन के साधनों और उच्च वर्गों के संबंध पर प्रकाश डाला। यह कृति दर्शाती है कि कैसे बड़े पैमाने पर खेती के लिए लोहे के इस्तेमाल ने ईसाई पूर्व छठी शताब्दी तक जनजातीय पशुचारक और सर्वकल्याणकारी वर्ग-विहीन वैदिक समाज को पूर्ण रूप से वर्गों में विभाजित कर डाला और इस तरह सामाजिक व्यवस्था में रूपांतरण कर दिया। राम शरण शर्मा ने यह भी दिखाया कि परिवर्तन के बाद कैसे इस नयी व्यवस्था को चलाये रखने के लिए आवश्यक कार्य-बल जोर-जबरदस्ती हासिल किया गया, और कैसे इस तरह बनी सामाजिक संरचना की इमारत में विधि, धर्म और विचारधारा का इस्तेमाल महज गारे की तरह किया गया। यही संरचनागत

इमारत वर्ण-व्यवस्था कहलायी। धर्मशास्त्रों द्वारा निर्देशित किया गया कि शूद्र को अन्य तीन उच्चतर वर्णों की सेवा करनी है। मनु ने उसके लिए दासता की परिस्थिति निर्धारित कर दी। शर्मा इस कृति में दिखाते हैं कि कैसे भारतीय दास को आर्थिक, राजनीतिक-वैधानिक, सामाजिक और धार्मिक सभी मोर्चों पर विभिन्न प्रकार की कठिनाईयों से जूझना पड़ता था और वह एक सर्वमान्य दासता का जीवन जीने के लिए विवश था। शूद्रों के कौशल और वैश्य किसानों द्वारा उत्पादित कृषि अधिशेष ने मिल कर प्राचीन भारतीय समाज के विकास के लिए भौतिक आधार-भूमि विकसित की जो इस अर्थ में एक वैश्य-शूद्र संघटन था। यह ज़रूर है कि गुप्त काल के दौरान शूद्रों को यद्यपि कुछ धार्मिक तथा नागरिक अधिकार प्राप्त हुए और कई अर्थों में उन्हें वैश्यों के समतुल्य माना गया। अनेक शूद्र व्यापक सामाजिक और धार्मिक अधिकारों वाले किसान हो गये। इसके बावजूद यह कृति वही सवाल उठाती है जिसे ग्यारहवीं सदी में अल-बरूनी ने भी महसूस किया था कि कैसे वैश्यों और शूद्रों के बीच भेद को समझ पाना कठिन था, पर साथ ही संस्कृति के अधोवर्ती चरणों में अनेक शूद्र कारीगरों और शिल्पकारों तथा जनजातीय लोगों को अछूतों की श्रेणी में धकेल दिया गया।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और पुनरुत्थानवादी ऐतिहासिक सोच के उलट राम शरण शर्मा ने एक साल बाद आयी अपनी कृति *आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज़ ऐंड इंस्टीट्यूट्स इन ऐंशिअंट इण्डिया* (1959) में इस बात पर जोर दिया कि शक्ति संरचना के मूल में भौतिकवादी तत्त्व थे। 1960 में आयी उनकी रचना *द ऑरिजिन ऑफ द स्टेट इन इण्डिया* का एक मुख्य बिंदु यही था।

सामंतवाद को लेकर भारत में विश्लेषण की देशज परम्परा की शुरुआत कोसम्बी ने की थी। इसमें उन्होंने बताया था कि यद्यपि भारतीय समाज में युरोप की तर्ज पर दास प्रथा और उत्पादन की पद्धति का हूबहू विकास नहीं हुआ था, और न ही मार्क्स द्वारा प्रवर्तित एशियायी उत्पादन की अवधारणा ही पूर्णतः भारत पर लागू होती है, फिर भी संरचनागत विभिन्नता के बावजूद भारत में सामंतवाद की परम्परा मौजूद थी। कोसम्बी से कुछ मतों पर भिन्न विचार रखने के बावजूद इसी विचार-परम्परा को अपनी रचना *इण्डियन फ्यूडलिज़्म* (1965) द्वारा राम शरण शर्मा ने आगे बढ़ाया। उन्होंने बताया कि कैसे उत्तर-गुप्त काल में व्यापार में गिरावट ने राज्याधिकारियों को वेतन के बदले भूमि और धार्मिक कर्मकाण्डों की एवज में ब्राह्मणों को अनुदान में दिये गये अग्रहारों से सामाजिक संबंधों में बदलाव आया। परिणामस्वरूप कृषक वर्ग उनका मातहत बनता गया। वह भूमिपतियों पर आश्रित होता गया। इन भूमिपतियों पर न्यायिक अधिकार भी हुआ करते थे। शर्मा ने दिखाया कि कैसे इस

दौरान किसान एक जगह भूमि से बँध कर रह गये। उनसे ज़बरन मज़दूरी कराई जाने लगी और वे बिचौलियों के रहमोकरम पर जीने के लिए मजबूर हुए। शर्मा ने बताया कि युरोप के तर्ज़ पर भारत में भी लम्बी दूरी के व्यापारों के पुनरुत्थान, शहरों के उदय, किसानों के पलायन और मुद्रा आधारित अर्थव्यवस्था के विकास से सामंतवाद का पतन हुआ। राम शरण शर्मा की इस अवधारणा के अनुसार भारत में सामंतवाद का उदय चौथी शताब्दी के आसपास हुआ और बारहवीं शताब्दी में इसका पतन हुआ। शर्मा ने इन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए विभिन्न श्रेणियों के सामंतों के उल्लेखयुक्त उत्तर के लिए भारत के अभिलेखीय साक्ष्यों का प्रयोग किया।

शर्मा ने सामंतवाद के बहाने भारतीय इतिहास-लेखन के क्षेत्र में एक बौद्धिक बहस छेड़ दी। शर्मा के तर्कों से असहमत हरबंस मुखिया ने 1981 में प्रकाशित अपने लेख 'क्या भारतीय इतिहास में कभी सामंतवाद था?' में कई सवाल उठाये। उन्होंने कहा कि लम्बी दूरी के व्यापारों के उत्थान और पतन से सामंतवाद का रिश्ता बहुत स्पष्ट नहीं है। मुखिया के मुताबिक यह कहना मुश्किल है कि आरम्भिक मध्यकालीन भारत में व्यापार और शहरों का कोई खास पतन हुआ या नहीं। मुखिया ने कहा कि यह स्वीकार करना मुश्किल लगता है कि सामंतवाद जैसा जटिल सामाजिक ढाँचा प्रशासनिक और क़ानूनी कार्रवाइयों से खड़ा किया जा सकता है। सामंतवाद के एक प्रमुख तथ्य— भूमिपतियों पर किसानों की निर्भरता— के बारे में मुखिया ने दावा किया कि भारत में इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। मुखिया ने सामंतवाद को परिभाषित करते हुए लिखा कि इसमें भूमिपतियों पर किसान पूरी तरह आश्रित होता है। मुखिया की दलील थी कि सामंतवाद पूरी दुनिया की व्यवस्था नहीं थी। वह अपने पूरे इतिहास में एक विशिष्ट सामाजिक आर्थिक संगठन था जिसकी मौजूदगी पूरी दुनिया में एक जैसी नहीं थी। वह एक खास समय और क्षेत्र तक सीमित था जहाँ उत्पादन के लिए विशिष्ट प्रविधि अपनायी गयी और संगठन का निर्माण किया गया। वह एक संक्रमणकालीन व्यवस्था थी।

राम शरण शर्मा ने 1985 में इसका जवाब दिया। अपने 'भारतीय सामंतवाद किस प्रकार सामंती था?' शीर्षक लेख में यह स्वीकारते हुए कि सामंतवाद एक सार्वभौम परिघटना नहीं थी, उन्होंने जोरदारी से कहा कि सभी पूर्व-पूँजीवादी समाजों पर यह बात लागू नहीं होती। मुखिया के तर्कों को काटते हुए उन्होंने बताया कि देश के कई हिस्सों में ज़बरन मज़दूरी के प्रमाण मिलते हैं, साथ ही यह भी कि आरम्भिक मध्यकाल में सामंतवाद मौजूद था जिसमें भूमिपतियों और मातहत किसानों का एक वर्ग शामिल था। दोनों ही कृषक अर्थव्यवस्था पर आश्रित थे। इससे पता चलता है कि व्यापार और शहरीकरण का हास हुआ और धातु से बनी मुद्राओं में

तेज़ी से कमी आयी। सामंतवाद की इस बहस को इरफ़ान हबीब और बर्टन स्टीन ने आगे बढ़ाया।

1966 में राम शरण शर्मा की कृति *लाइट ऑन अर्ली इण्डियन सोसाइटी ऐंड इकॉनॉमी* का प्रकाशन हुआ। इसमें प्राचीन भारत के सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास से सम्बद्ध अनेक अनछुए पहलुओं (जैसे, स्वछंद यौनाचार, महाकाव्यों एवं पुराणों में महिला एवं सम्पत्ति के संयुक्त दृष्टिकोण, दासता, जाति, विवाह, भूमि-अनुदान और महाजनी व्यवस्था) पर प्रकाश डाला गया है। 1987 में उनकी पुस्तक *अरबन डिफेंस इन इण्डिया* प्रकाशित हुई। इसी विषय पर वे देव राज चानन स्मृति व्याख्यान 'सोशल चेंजेज़ इन अर्ली मेडिवल इण्डिया' दे चुके थे। यह रचना भारत में सामंतवाद की उत्पत्ति और विकास से संबंधित उनके विचारों को और अधिक दृढ़ता से दर्शाती है। इस क्रम में शर्मा मध्यकालीन भारत में नगर-केंद्रों का पतन दर्शाने के लिए पुरातात्विक प्रमाणों की एक प्रभावशाली शृंखला पेश करते हैं। उन्होंने दिखाया कि कैसे मौर्योत्तर काल शहरों, हस्तकलाओं और व्यापार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था और 200 ईसापूर्व से 300 ईस्वी के मध्य शहर कैसे प्रगति के शिखर पर पहुँच गये थे। यह भी कि कैसे लम्बी दूरी के व्यापार में आयी कमी ने नगरीय पतन की शुरुआत की जिसे रोमन साम्राज्य के अंदरूनी बिखरावों ने बाद में और तेज़ कर दिया। सम्भवतः यही बात चीन के हान, कुषाण, पार्थियन और सातवाहन साम्राज्यों के पतन का मुख्य कारण बनी। शर्मा यह भी इंगित करते हैं कि नगरीय पतन का दूसरा परंतु कम व्यापक चरण छठी शताब्दी के बाद दृष्टिगत होता है जिसके तहत बैजेंटाइन के साथ मसालों और रेशम के उन्नत व्यापार से जुड़े मध्यवर्ती गंगा के मैदान में स्थित कई शहरों को पतन ने अपनी चपेट में ले लिया। शर्मा इस कृति को इस निष्कर्ष के साथ खत्म करते हैं कि कैसे नागर-पतन के इस पूरे काल-खण्ड के दौरान विशाल भूमि-अनुदानों और अग्रहारों के वितरण के रूप में सामंतीकरण की प्रक्रिया सतत और तीव्रतर होती जा रही थी। इस कृति के लिए शर्मा को एच.के. पुजारी अवार्ड से सम्मानित किया गया।

राम शरण शर्मा द्वारा 1977 में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान प्रशिक्षण परिषद् के लिए लिखी गयी प्राचीन भारतीय इतिहास के अभिधारणात्मक शोधों से सारांशित पाठ्य पुस्तक *ऐंशिअंट इण्डिया* काफ़ी लोकप्रिय हुई। महाभारत की कुछ घटनाओं और कृष्ण की ऐतिहासिकता पर उठाये गये प्रश्नों के कारण 1978 में जनता सरकार द्वारा जब इस पुस्तक पर प्रतिबंध लगा दिया गया तो उन्होंने इसके प्रति-उत्तर में *इन डिफेंस ऑफ़ ऐंशिअंट इण्डिया* (1979) लिखी। परिणामस्वरूप *ऐंशिअंट इण्डिया* पाठ्य पुस्तक के रूप में जल्द ही पुनर्स्थापित हो गयी। आर्यों के मुद्दे पर राम शरण शर्मा द्वारा लिखी गयी दो कृतियाँ *लुकिंग फॉर द आर्यस* (1995) और

एडवेंट ऑफ़ द आर्यस इन इण्डिया (1999) इतिहास-लेखन की उस विचारधारा और मान्यताओं का खण्डन करती हैं जो यह मानती हैं कि आर्य मूलतः भारत के ही मूल निवासी थे और हड़प्पा संस्कृति उन्हीं मूल निवासियों की रचना थी। अपनी रचनाओं में राम शरण शर्मा ने प्राचीन भारतीय समाज की ढाँचागत संरचना, उसके भौतिक-आर्थिक जीवन, राजनीतिक विचारों के उद्भव, राज्य की अवधारणा, धर्म-दर्शन की वैचारिक-सामाजिक पृष्ठभूमि के निर्माण की प्रक्रिया को रेखांकित किया जिसके बिना भारतीय संस्कृति और सभ्यता को समझ पाना कठिन होता। साहित्यिक स्रोतों के साथ पुरातात्विक और पुरालेखीय साक्ष्यों से अंतर्भूत अपनी शोध-पद्धति द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास के पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए शर्मा ने परिवर्तन और निरंतरता के तत्त्व का सदैव ध्यान रखा।

नेहरू फ़ेलो के तौर पर कार्य करते हुए उन्होंने 1985 में प्राचीन भारत में भौतिक संस्कृति और वर्गीय समाज के निर्माण की प्रक्रिया के विवेचन हेतु *मैटेरियल कल्चर ऐंड सोशल फ़ार्मेशंस इन ऐंशिअंट इण्डिया* की रचना की। पुरातात्विक और साहित्यिक स्रोतों के आधार पर ऋग्वैदिक काल से बुद्धकाल तक की समयावधि पर केंद्रित यह कृति ऐतिहासिक विश्लेषण और व्याख्या की मार्क्सवादी धारा का अनुसरण करते हुए दर्शाती है कि कैसे घुमंतू प्रवृत्ति वाली ऋग्वैदिक पशुचारक अर्थव्यवस्था व्यापक स्तर पर कृषि, लोहे और चित्रित धूसर मृदभाण्डों के प्रयोग द्वारा तुलनात्मक रूप से अत्यंत विकसित वैदिक कालीन अर्थव्यवस्था में परिणत होती है। गंगा के मैदानों में इस प्रक्रिया ने तीव्र प्रगति की, जिसे बुद्ध काल तक आते आते उत्तरी काले पालिशदार मृदभाण्ड के प्रयोग, ढलवाँ लोहे के उत्पादन, टकसालों में सिक्कों की ढलाई और लोहे के हल से धान की खेती के दृष्टान्तों द्वारा समझा जा सकता है। इन दृष्टान्तों द्वारा शर्मा यह दिखाते हैं कि कैसे भौतिक उत्पादन में परिवर्तन ने राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों का सूत्रपात किया। फलस्वरूप कृषि उत्पादन के व्यापक अधिशेष ने विशाल ग्रामीण बस्तियों की स्थापना, व्यापार का विकास, धातु मुद्रा के प्रयोग, नगरों के उदय और नियमित कराधान प्रणाली, सुव्यवस्थित प्रशासन तंत्र और स्थाई सेना से लैस विस्तृत प्रादेशिक राज्यों के उदय का मार्ग प्रशस्त किया। विशाल भू-सम्पदा की उत्पादकता के लिए विशाल श्रम-शक्ति की आवश्यकता ने इसी पृष्ठभूमि में वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात किया। इसी दौरान जनजातीय समाज वर्गीय और व्यावसायिक समूहों में विभाजित हो गया। लोहे से निर्मित हल द्वारा खेती में प्रगति से पशुधन वृद्धि और बौद्धधर्म द्वारा पशुबलि की प्रथा के विरोध को बल मिला। पर बाद में इसी बौद्ध धर्म, जिसका प्रमुख समर्थक वैश्य वर्ग था और जिसके हित व्यापार से जुड़े थे, ने व्यापार में वृद्धि के लिए आतुर महाजनी व्यवस्था द्वारा दास-प्रथा को अनपेक्षित

पर ज़रूरी बढ़ावा देने का दबाव बनाया।

राम शरण शर्मा ने *अर्ली मेडिवल इण्डियन सोसाइटी : अ स्टडी इन फ्यूडलाइजेशन* (2001) में अपने आलोचकों के तर्कों का बिंदुवार खण्डन किया। इसके लिए उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत का प्रयोग न केवल सामाजिक भेद और आर्थिक विकास का चरण दर्शाने के लिए किया वरन् विचारधारा के क्षेत्र में भी किया। सामंती सोच और तंत्रवाद के सामाजिक आर्थिक आधार को लेकर शर्मा द्वारा की गयी छानबीन ऐतिहासिक शोध की नयी दिशा खोलती है।

राम शरण शर्मा ने हर तरह के साम्प्रदायिकता की भर्त्सना की और अपनी पुस्तिका *कम्युनल हिस्ट्री ऐंड रामाज़ अयोध्या* में दिखाया कि सम्भवतः मध्यकालीन भारत में अयोध्या तीर्थस्थान के तौर पर उभरा और इसका पौराणिक राम से कोई साम्य नहीं है। न ही विष्णु स्मृति में चिह्नांकित 52 पवित्र स्थानों में इसका उल्लेख मिलता है। बाबरी मसजिद के ध्वंस के बाद वे सूरज भान, एम. अतहर अली और डी.एन. झा के साथ *हिस्टोरियंस रिपोर्ट टु द नेशन* के साथ जुड़े। रपट में स्पष्ट रूप से कहा गया कि साम्प्रदायिक तत्त्वों ने विवादित स्थल पर मंदिर मानने की भूल की है। और, बाबरी विध्वंस साम्प्रदायिक खेमे की कोरी असभ्य और बर्बर करतूत के अलावा कुछ और नहीं है।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. द्विजेंद्र नारायण झा, (1996), *सोसाइटी ऐंड आइडियोलॉजी इन इण्डिया: एसेज इन ऑनर ऑफ़ आर.एस. शर्मा*, मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली.
2. एन.एम.पी. श्रीवास्तव (2005), 'प्रोफ़ेसर आर.एस. शर्मा : द मैनिविद मिशन', *प्रज्ञा-भारती*, खण्ड 11, के.पी. जायसवाल रिसर्च इंस्टिट्यूट प्रकाशन, पटना.
3. ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय (2006), *स्टडीइंग अर्ली इण्डिया : आर्कियालॉजी, टेक्स्ट ऐंड हिस्टोरिकल इशूज*, एंथम प्रेस, नयी दिल्ली.
4. राम शरण शर्मा (1990), *शूद्राज इन ऐंशिअंट इण्डिया: अ सोशल हिस्ट्री ऑफ़ द लोअर आर्डर डाउन टू सिरका ए.डी. 600*, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

— निर्मल कुमार पाण्डेय

रामचंद्र शुक्ल-1

(लोकहृदय, लोकमंगल, लोकमानस)

(Ramchandra Shukla-1)

आलोचक, सिद्धांतकार, इतिहासकार, कवि और प्रचुर अनुवादक रामचंद्र शुक्ल (1884-1940) को हिंदी का पहला आधुनिक आलोचक होने का श्रेय दिया जा सकता है। आलोचना की वैविध्यपरक प्रकृतियों के बीच आचार्य शुक्ल ने परम्परागत आलोचना शैलियों के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए अपने युग की नब्ज को पहचाना और उसके अनुकूल आधुनिक दृष्टि-सम्पन्न आलोचना को सही अर्थों-संदर्भों में जन्म दिया। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापन से विश्राम लेने के बाद रामचंद्र शुक्ल ने नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रायोजित *हिंदी शब्द सागर* का सम्पादन आरम्भ किया। इसी दौर में उन्होंने अपने समय की सभी पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर लेखन के साथ सभी तरह के साहित्यिक-सांस्कृतिक वाद-विवादों-संवादों में प्रभावी हस्तक्षेप किया। *हिंदी शब्द सागर* की भूमिका के रूप में साहित्य के इतिहास की रचना करते हुए शुक्ल ने जो व्यवस्थित ढाँचा निर्मित किया उसे हम उनकी कालजयी कृति *हिंदी साहित्य का इतिहास* के रूप में जानते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी के महान प्रबंध-काव्य *पद्मावत* के भाष्य और सम्पादन के साथ शुक्ल ने तुलसीदास और सूरदास की रचनाओं की विद्वत्पूर्ण भूमिकाएँ भी लिखीं।

रचनाकारों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए उन्होंने मूल्यांकनपरक मत व्यक्त किये, लेकिन रचनाकार के संदर्भ से हट कर रचना को केंद्र-बिंदु बनाया। आलोचना के इतिहास में रामचंद्र शुक्ल की भूमिका एक युग-पुरुष की रही है। उनकी महिमा-महत्ता का ही प्रमाण है कि हिंदी में ठोस मूल्य-दृष्टि से सम्पन्न आलोचना का दौर चला। उनके प्रयासों से हिंदी आलोचना ने रीतिवाद और गुण-दोष विवेचन की सतही पद्धति से छुटकारा पाने का प्रयत्न किया। शुक्ल ने देव और बिहारी की तुलनात्मक आलोचना के दायरे से हिंदी आलोचना को निकाल कर भक्तिकालीन चिंतन दृष्टि की ओर मोड़ा। उनके इस प्रयास से हिंदी-आलोचना का केंद्र ही बदल गया। शुक्ल पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेजी में भी लिखते थे और अनुवाद में भी रुचि लेते थे। उन्होंने राखालदास बनर्जी के बांग्ला उपन्यास का 'शशांक' नाम से, एडीसन के निबंध 'प्लेज़र्स ऑफ़ इमैजिनेशन' का 'कल्पना का आनंद' और अर्नेस्ट हेकल की पुस्तक 'रिडिल ऑफ़ द युनिवर्स' का 'विश्व प्रपंच' नाम से अनुवाद किया और उस पर एक लम्बी भूमिका लिखी। इस अनुवाद का उनकी आलोचना-दृष्टि पर गहरा प्रभाव पड़ा। रामचंद्र शुक्ल कवि भी थे और *मधुस्रोत*

नाम से उनका एक काव्य-संकलन पाठकों के लिए उपलब्ध है। कई तरह का लेखन उन्होंने *सरस्वती* और *नागरी प्रचारिणी पत्रिका* में शुरू किया। *सरस्वती* पत्रिका के 1909 अंक में उनका प्रसिद्ध निबंध 'कविता क्या है' प्रकाशित हुआ। यही वह निबंध है जिसे संशोधन-परिवर्तन के साथ वे जीवन भर लिखते रहे।

रामचंद्र शुक्ल ने काव्य और काव्यशास्त्र की चिंतन परम्परा का नया भाष्य किया जिससे हिंदी की पूरी साहित्यिक परम्परा के पुनर्गठन से एक नया पाठ तैयार हो गया। इसमें अस्वीकार के साहस को भरपूर स्थान मिला। रामचंद्र शुक्ल के इसी महत्त्व को समझते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रंथ *हिंदी साहित्य की भूमिका* में लिखा है, 'भारतीय काव्यालोचन शास्त्र का इतना गम्भीर और स्वतंत्र विचारक हिंदी में तो कोई दूसरा हुआ है या नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में हुआ है या नहीं, ठीक नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ। अलंकार शास्त्र के प्रत्येक अंग पर उन्होंने सूक्ष्म विचार किया था शब्द-शक्ति, गुण-दोष, अलंकार विधान, रस आदि सभी विषयों पर उनका अपना सुचिंतित मत था। वे प्राचीन भारतीय आलंकारिकों को खूब समझते थे, पर उनका अंधानुकरण करने वाले नहीं थे। रामचंद्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना सम्भव नहीं। वे इतने गंभीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो 'हाँ' कहना पड़ेगा या 'न', बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं। उनका 'अपना' मत सोलह आने 'अपना' है। वे तन कर कहते हैं, "मैं ऐसा मानता हूँ तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवाह नहीं।" फिर भी शुक्लजी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे डरता है। पुराना घबराता है, पण्डित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसंद नहीं करते और नये की गुलामी तो उनके लिए असह्य है। शुक्लजी इसी बात में बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है।'

रामचंद्र शुक्ल ने रीतिवाद का खण्डन किया और भक्तिकालीन साहित्य की तरफ झुके। पर वे यहीं नहीं रुके, उन्होंने आधुनिक काल की मूल्यांकनपरक दृष्टि को अपनाया। शुक्ल ने काव्य में चमत्कारवाद और 'लक्षणों की क्रवायद' का विरोध किया। उन्होंने कला-निपुणता से ज्यादा सहृदयता को आदर दिया। रस में सर्वाधिक महत्त्व दिया अनुभूति को और उसे लोकमानस में प्रतिष्ठित किया। सच्चे काव्य का प्रकृत लक्ष्य वे मानते हैं 'हमारी रागात्मिका वृत्ति का सामंजस्य।' उनके विचार में 'प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषय बोध ही होता है।' रसवाद को व्यक्ति से आगे बढ़ कर उन्होंने लोकहृदय, लोकमानस के साथ सम्बद्ध करके प्रस्तुत किया। इसलिए वे विषयबद्धता को तिरस्कृत करते रहे।



रामचंद्र शुक्ल (1884-1940)

अपनी रचना *रस मीमांसा* के निबंधों में उन्होंने स्थापना की है, 'लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम ही रसदशा है।' रस में विभावन-व्यापार पर उनकी दृष्टि विशेष रूप से केंद्रित रही। उन्होंने मुक्तक-काव्य से ज़्यादा प्रबंध-काव्य के सौंदर्य की सराहना की। इसका कारण यह है कि उन्होंने जीवन की विविधता के सौंदर्य को आदर देते हुए उसमें लोक-मंगल को सर्वोपरि स्थान दिया। रामचंद्र शुक्ल ने काव्य के भावयोग को ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के समकक्ष माना। उनका कहना था कि कविता के अनुभूतियोग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार होता है और शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा होती है और निर्वाह होता है। व्यक्ति-सत्ता को काव्य से मिटाने का काम करुणा करती है— भावों में करुणा को महत्त्व देने का कारण भी यही है। लोकमंगल, लोकभूमि, लोकहृदय की संगति बैठा कर रामचंद्र शुक्ल ने मानव-मन की अंतर्वृत्तियों का विवेचन किया। काव्य की भावभूमि पर लोकमंगल का विधान करने के कारण ही वे उसे न 'लोकोत्तर' बनाना चाहते थे न 'ब्रह्मानंद सहोदर।' उन्हें काव्य में आध्यात्मिकता फूटी आँखों पसंद न थी। इसी तरह वे काव्य को कला मानने के पक्ष में नहीं थे।

काव्य में कल्पना की जो मुनादी पश्चिम में की गयी है— उसकी निंदा में रामचंद्र शुक्ल डटे रहे क्योंकि उनका कहना था कि काव्य में व्यक्तित्व का लय हो जाना मानव हृदय का 'स्वार्थ संबंधों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठकर

लोक-सामान्य की भावभूमि पर पहुँच जाना ही है।' इस तरह शुक्ल के सम्पूर्ण चिंतन की चिंता लोक-सामान्य अर्थात् साधारण मनुष्य की चिंता है। यह साधारण-मानव ही उनके केंद्रीय सिद्धांत की धुरी रहा है। काव्य में साधारणीकरण सिद्धांत की महत्त्व-प्रतिष्ठा के पीछे प्रायः उनकी यही दृष्टि रही है। इसी दृष्टि के कारण उन्होंने काव्य में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की विरोध किया है। उन्होंने काव्य में कबीर के रहस्यवाद का विरोध किया। इसका कारण यह है कि रामचंद्र शुक्ल तंत्र-मंत्र, रसायन, हठयोग का संबंध प्रकृत भावों से बैठाने के लिए तैयार नहीं थे। यही कारण है कि उन्होंने पूरी ताकत से व्यक्तिवाद, कलावाद, रसवाद और अभिव्यंजनावाद के खिलाफ़ झण्डा बुलंद किया। इसी तरह रामचंद्र शुक्ल के लिए उन्हें काव्य के प्रकृत स्वरूप की अभिव्यक्ति 'आनंद' शब्द से नहीं होती थी। उनके लिए काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था ही कवि-कर्म का चरमसाध्य थी, क्योंकि वे मानते थे कि इसमें 'लोक-धर्म के सौंदर्य' के साथ 'विरुद्धों के सामंजस्य की शक्ति' है। इसे ही उन्होंने काव्य का 'बीज-भाव' घोषित किया। शुक्ल के अनुसार सच्चा कवि वही है जिसका हृदय प्रकृति के कोमल-मधुर रूप के साथ विराट-विकट रूपों में भी जीवन का सौंदर्य पाता है। यह बड़ी बात है कि उन्होंने काव्य में आलम्बन का क्षेत्र विस्तृत किया और उसमें नरेतर प्रकृति को स्थान दिया। यहाँ उन्होंने प्रकृत रहस्यवाद का समर्थन किया और प्रकृत स्वच्छंदतावाद को आदर से अपनाया।

शुक्ल ने सावधानी के साथ साहित्य की आलोचना को 'समालोचना' तथा आलोचना के सिद्धांत को 'काव्य मीमांसा' नाम दिया। इस तरह आलोचना और आलोचना-सिद्धांतों के अंतर स्पष्ट करके वे आगे बढ़े। पश्चिम के कलावाद-रूपवाद और अंलकारवाद का अपने तरह से विरोध करते हुए शुक्ल ने छायावाद और अभिव्यंजना की नूतन शैली का आंदोलन माना— कहीं-कहीं उसे 'फ़ांट्समेटा' या ईसाई-प्रतीकवाद, चित्रभाषावाद तक कहा है। यह संयोग मात्र नहीं है कि आचार्य शुक्ल काव्य में विभावन-व्यापार को सर्वोपरि मानते थे— और अमूर्त-अरूप से बचकर मूर्त-विधान का समर्थन करते हैं। उन्होंने इस विचार पर बल दिया कि 'कविता में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है।' उन्होंने यह भी कहा कि, 'बिम्ब ग्रहण निर्दिष्ट गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है।' इस तरह उन्होंने काव्य में वास्तु-तत्त्व की प्रतिष्ठा की और उसका संबंध चित्र-विधान या मूर्त-विधान से जोड़ा। काव्य को ललित कलाओं से जोड़कर कहा कि, 'जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्र-विधा की प्रणाली का अनुशरण करती है, उसी प्रकार नाद-सौष्टव के लिए संगीत का कुछ सहारा लेती है।' *रस-मीमांसा* में उन्होंने इस विचार को रेखांकित किया

कि, 'नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है।'

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लोसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, भारतेन्दु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
2. रामचंद्र शुक्ल (1970), *रस-मीमांसा*, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
3. रामचंद्र शुक्ल (1942), *मधु स्रोत*, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
2. राम विलास शर्मा (1975), *आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. रास्वरूप चतुर्वेदी (1993), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
4. धीरेंद्र वर्मा (सम्पा.) (1957), *हिंदी साहित्य कोश*, भाग-2, ज्ञानमण्डल, बनारस.

— कृष्णदत्त पालीवाल

रामचंद्र शुक्ल-2

(हिंदी साहित्य का इतिहास)

(Ramchandra shukla-2)

रामचंद्र शुक्ल ने *हिंदी शब्द सागर की भूमिका* (1929) के रूप में हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा है। साहित्य के इतिहास के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में उनकी इतिहास-दृष्टि प्रकट होती है। शुक्ल के अनुसार, 'शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो परिवर्तन होते आये हैं, जिन प्रभावों की प्रेरणा से

काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं— उन सबके सम्यक निरूपण और उनकी दृष्टि से किये गये सुसंगत काल-विभाजन के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई देता है।' साहित्य के इतिहास का 'सच्चा अध्ययन' करने का संकल्प लेकर आगे बढ़ने वाले शुक्ल का कहना था, 'मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा खड़ा करना था न कि कवि-कीर्तन करना।' उन्होंने 'काल-विभाग' के अंतर्गत साहित्येतिहास-दर्शन स्पष्ट करने की दृष्टि से कहा, 'जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक और धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी की किसी विशेष समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार पोषण किधर और किस प्रकार हुआ।'

इसी व्यवस्था के अनुसार शुक्ल ने हिंदी साहित्य के नौ सौ वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया : आदिकाल (वीरगाथा काल : संवत् 1050-1375), पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल : संवत् 1375-1700), उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल : संवत् 1700-1900) और आधुनिक काल (गद्यकाल : संवत् 1900-1984)। रचनाओं की प्रकृति के अनुसार ही इन कालों का नामकरण किया गया था। शुक्ल के इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने आलोचनात्मक लेखन या इतिहास में कहीं भी साहित्येतर मानदण्डों को स्वीकार नहीं किया। उनकी प्रिय रचना *रामचरितमानस* थी और उसी में से उन्होंने अपने काव्य-मूल्य विकसित किये। विलक्षण बात यह भी रही कि उन्होंने अध्यात्म को काव्य-कला के विवेचन में प्रासंगिक नहीं माना। अपने विवेचन में न तो वे शास्त्र (क्लासिकल) को प्रधानता देते हैं और न ही रोमांटिक भाव धारा को। देखा जाए तो वे रचना को स्वायत्त मानते हैं, पर समाज से स्वतंत्र नहीं। उनका यह भी विचार था कि साहित्य को केवल राजनीतिक दलों की बातों को ले कर ही नहीं चलना चाहिए, 'साहित्य को राजनीति के ऊपर रहना चाहिए, सदा उसके इशारे पर ही न नाचना चाहिए।' यही बात प्रेमचंद ने कही है कि, 'वह (साहित्य) वह देशभक्ति एवं राजनीति के पीछे चलने वाली नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।'

यह एक तथ्य है कि रामचंद्र शुक्ल के बाद हिंदी

साहित्य का इतिहास लिखने के कई प्रयास हुए। लेकिन कोई भी इतिहास वैसी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर पाया जो शुक्ल के इतिहास को मिली। हाँ, शुक्ल के इतिहास की आलोचना कम नहीं हुई है। इतिहास-चिंतन में एक बड़ी घटना तब घटी जब हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक *हिंदी साहित्य की भूमिका* का 1941 में प्रकाशन हुआ। द्विवेदी ने शुक्ल की धारणा से कुछ हटते हुए 'शिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों के आगे अशिक्षित जनता' को स्थान दिया और शास्त्र से ज्यादा लोक तथा लोक-धर्म को सामने रखकर यह इतिहास-ग्रंथ लिखा। उन्होंने 'हिंदी साहित्य प्राण-धारा' के साथ 'भारतीय चिंतन धारा के स्वाभाविक विकास' को गहराई और विस्तार से प्रस्तुत किया। साथ ही सिद्धों-नाथों के साहित्य को महत्त्व देकर निर्गुणियाँ संतधारा का महत्त्व समझाया। रीति काल को सेकुलर लिटरेचर घोषित करते हुए उन्होंने एक नवीन दृष्टि का विकास किया। उन्होंने *हिंदी साहित्य का आदिकाल* तथा *हिंदी साहित्य उद्भव और विकास* शीर्षक से भी हिंदी साहित्य का निरूपण किया।

रामचंद्र शुक्ल ने विदेशी लेखकों को एकाग्रभाव से पढ़ा था, जैसे फ्रायड, डंटन, रिचर्ड्स, एलियट, कमिगज, क्रोचे आदि। वे मार्क्स को अपने विचार की परिधि में स्वीकार नहीं करते। इस दृष्टि से यह बात महत्त्वपूर्ण है कि 1936 में प्रगतिशील लेखक की स्थापना हो चुकी थी। हिंदी पर सोवियत प्रभाव की हवाओं का असर साफ़ था, लेकिन उन्होंने प्रगतिवाद को अपने विवेचन में स्थान नहीं दिया। व्यंग्य शैली में छायावाद के वाद-विवाद-संवाद को तो अपनी कविताओं तक में स्थान दिया, लेकिन 'प्रगतिवाद' को नहीं। रहस्यवाद को न मध्यकालीन काव्य में स्वीकृति दी न आधुनिक साहित्य में। हाँ, प्रकृत रहस्य भावना को स्थान दिया जैसे पंत जी के काव्य में। वे ब्राह्म समाज से भी दूर रहे और रवींद्रनाथ से भी। गाँधी और तॉल्स्टॉय में भी कहीं भी कभी भी नहीं रमे। उनका मत साफ़ है कि अज्ञात-अरूप-अमूर्त का हृदय से कोई संबंध नहीं हो सकता।

यह समझना भूल होगी कि शुक्ल ने छायावाद को दो रूपों में देखा। इतिहास की 'नयी धारा' में रहस्यवाद के अर्थ में और दूसरा काव्य-शैली या काव्य-पद्धति के अर्थ में। छायावाद की लाक्षणिक-चित्रात्मक शैली या चित्र भाषा के वे प्रशंसक रहे। हिंदी आलोचना में प्रायः छायावाद और रहस्यवाद को लेकर काफ़ी विवाद रहा है। शुक्ल छायावाद को साधना का क्षेत्र मानते हैं और छायावाद को काव्य का। वैसे ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ बहुत बार एक-दूसरे में प्रवेश करती मिलती हैं। वे कहीं भी अज्ञात-अरूप को लेकर प्रेम को सम्भव नहीं मान पाते। उनकी मान्यता है प्रेम ज्ञात-जगत की ही मूल्यवान भावना है- 'सचमुच ही यदि प्रेम कहीं है, ज्ञात छोड़ वह कहीं नहीं है।' इसी विचार की पुष्टि उन्होंने अपने निबंध 'काव्य में रहस्यवाद' में की है।

रामचंद्र शुक्ल को इस बात का श्रेय है कि निर्गुण सूफी कवियों में जायसी, सगुण कवियों में तुलसीदास-सूरदास और छायावादी कवियों में जयशंकर प्रसाद व सुमित्रानंदन पंत का उन्होंने मनोयोगपूर्वक विवेचन किया। *जायसी ग्रंथावली* की विस्तृत भूमिका उनके लेखन का प्रतिमान है। उनकी आलोचना दृष्टि गूढ़-गम्भीर है। वे कहते हैं कि 'जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा परिमित है— पर प्रेम-वेदना उनकी अत्यंत गूढ़ है।' अपनी खास परख के कारण वे पंत को छायावाद का प्रथम प्रतिनिधि कवि मानते हैं और कहते हैं कि, 'सबसे अधिक लाक्षणिक साहस पंतजी ने पल्लव में दिखाया।' आचार्य शुक्ल प्रबंध-काव्य को महत्त्व देने पर भी छायावाद के गीतकाव्य को भीतर से समझने में पीछे नहीं रहे। अच्छी बात यह कि उनकी आलोचना और इतिहास-दृष्टि मूलतः उनके युग से निर्मित होती है। उनकी आलोचना-सामर्थ्य का प्रमाण उनकी आलोचना-भाषा देती है— एकदम पैनी और सटीक। रचनानुभव की यह भाषा गढ़ने की चूकती नहीं। साथ ही वे 'विरोधों का सामंजस्य' और 'लोकमंगल' जैसे विशिष्ट प्रयोग करने में वे बेहद सफल रहे हैं। वे इसी शक्ति से 'लोक' और 'जनता' जैसे शब्दों का अलग विवेक रखते हैं— 'जनता' शब्द में समान और 'लोक' में समाज के पिछड़े वर्ग का बोध वे समझते-समझाते हैं। कविता में नाद-सौंदर्य की महिमा मानकर ही वे कहते हैं कि, 'नाद सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है।'

आश्चर्य की बात यह है कि भारतीय और पाश्चात्य दोनों परम्पराओं से विचार ग्रहण करने पर भी वे आतंकित किसी से नहीं हैं। अपनी मौलिक आलोचना-दृष्टि से वे हिंदी-समीक्षाशास्त्र की दृढ़ नींव रखते हैं। *रस-मीमांसा* के निबंध रचना-आलोचना के प्रतिमानों को सूत्रबद्ध करने का ही प्रयत्न है। कलावाद-अलंकारवाद-रीतिवाद से अलग उन्होंने आलोचना का एक मार्ग विकसित किया और शास्त्र की मौलिक व्याख्या करके उसे समयोपयोगी बनाया। उनके रस की पूरी चिंता लोक-चिंता से, सामाजिकता से जुड़ती है। उसको लोकोत्तरता की भूमि से उतार कर लोक-भूमि पर स्थापित करने का शुक्ल द्वारा किया गया कार्य अनन्य और अविस्मरणीय है।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य,

सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
2. रामचंद्र शुक्ल (1970), *रस-मीमांसा*, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
3. रामचंद्र शुक्ल (1942), *मधु स्रोत*, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
2. राम विलास शर्मा (1975), *आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. रास्वरूप चतुर्वेदी (1993), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
4. धीरेंद्र वर्मा (सम्पा.) (1957), *हिंदी साहित्य कोश*, भाग-2, ज्ञानमण्डल, बनारस.

— कृष्णदत्त पालीवाल

रामजन्मभूमि आंदोलन-1

(इतिहास के आईने में)

(Ramjanmabhoomi Movement-1)

अस्सी के दशक में शुरू हुआ और करीब छह साल तक चला रामजन्मभूमि आंदोलन (इसे अयोध्या विवाद, अयोध्या आंदोलन या राम मंदिर आंदोलन की संज्ञा भी दी जाती है) स्वतंत्र भारत की सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। भारतीय राजनीतिक और सामाजिक जीवन को गहरायी से प्रभावित करने वाले इस दक्षिणपंथी आंदोलन में आज़ादी के बाद सबसे बड़ी जन-गोलबंदी हुई। सम्भवतः इससे पहले इतनी बड़ी और व्यापक गोलबंदी 1942 के भारत-छोड़ो आंदोलन में ही हुई थी। विडम्बना यह रही कि अगर भारत छोड़ो आंदोलन के परिणामस्वरूप भारत को उपनिवेशवाद से मुक्ति मिली थी, तो इस आंदोलन का नतीजा 6 दिसम्बर, 1992 को कारसेवकों द्वारा बाबरी मसजिद ढहाये जाने की भीषण त्रासदी में निकला। इसके कारण देश में साम्प्रदायिक राजनीति की जड़ें मज़बूत हुईं और जन-मानस के साम्प्रदायिकीकरण में बढ़ोतरी हुई। राजनीति के विमर्श को सेकुलर बनाम साम्प्रदायिक के द्विभाजन ने लगभग स्थाई रूप

से अपनी गिरफ्त में ले लिया। बहुसंख्यकवादी राजनीति को बल मिला जिसके परिणामस्वरूप 1980 में केवल 16 और 1984 में सिर्फ़ दो संसदीय सीटें जीतने वाली भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) ने न केवल राजनीति में अपने उखड़े हुए पैर मज़बूती से जमा लिए बल्कि गठजोड़ राजनीति का इस्तेमाल करके केंद्रीय सत्ता में भी आ गयी। आंदोलन का प्रत्येक चरण पूरा होने के बाद साम्प्रदायिक दंगे हुए। बाबरी मसजिद ध्वंस के बाद तो देश ने आज़ादी के बाद के सबसे भीषण दंगों का साक्षात्कार किया।

आंदोलन में धार्मिक और सांस्कृतिक पदावली का जम कर इस्तेमाल हुआ। कारसेवक और कारसेवा जैसे शब्द सिक्ख धर्म से लिए गये। लेकिन यहाँ भी एक अंतर था। सिक्ख निर्माण के लिए कारसेवा करते हैं, पर हिंदुत्ववादियों ने विध्वंस के लिए कारसेवा की। दरअसल, अपने नाम से सांस्कृतिक और धार्मिक लगने वाला यह आंदोलन विशुद्ध रूप से राजनीतिक था। इस आंदोलन की जिम्मेदारी संघ परिवार और विश्व हिंदू परिषद् (विहिप), बजरंग दल और भाजपा जैसे उसके संगठनों पर ठीक ही डाली जाती है, लेकिन इस राजनीति की ज़मीन बनाने में राजीव गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। भाजपा के नेता अटल बिहारी वाजपेयी का वह वक्तव्य नहीं भुलाया जा सकता जिसमें उन्होंने कहा था कि 'भाजपा ने अयोध्या का मुद्दा ज्वलंत नहीं बनाया। यह तो कांग्रेस का किया-धरा है। उसने ही शिलान्यास कार्यक्रम की इजाज़त दी थी। यह राजीव गाँधी ही थे जिन्होंने फ़ैजाबाद से अपनी चुनावी मुहिम शुरू की और रामराज्य लाने के नाम पर वोट माँगे। भाजपा को इस रणनीति का जवाब तो देना ही था।' दरअसल, रामजन्मभूमि के मुद्दे के इर्द-गिर्द कांग्रेस और भाजपा दोनों ने ही अस्सी के दशक में हिंदू वोट बैंक बनाने की राजनीति की। एक बार जब यह मुद्दा बन गया तो हिंदुत्ववादी संगठनों, खास कर विश्व हिंदू परिषद् ने समझा कि कांग्रेस के मुकाबले इसके दोहन की क्षमता उसमें अधिक है। उसका रवैया हमलावर होता चला गया। उसने नारा दिया कि जब तक मंदिर नहीं बनेगा, तब तक यह संघर्ष चलेगा। जब कांग्रेस ने देखा कि परिषद् की राजनीति परवान चढ़ती चली जा रही है, उसने 1989 में हिंदुओं को अपनी ओर खींचने के लिए विवादित स्थल के निकट राम मंदिर का शिलान्यास करने की इजाज़त दे दी। शिलान्यास के बाद विहिप ने दावा किया कि इस शिलान्यास में केवल प्रस्तावित राम मंदिर की नींव ही नहीं रखी गयी है बल्कि लोगों के हृदय में हिंदू राष्ट्र की नींव पड़ गयी है। शिलान्यास करवाना कांग्रेस की तरफ़ से हिंदू कांड खेलने की अंतिम कोशिश थी। इसके बाद यह मुद्दा पूरी तरह से संघ परिवार की हिंदुत्ववादी महत्वाकांक्षाओं की भेंट चढ़ गया। हालाँकि इस मुद्दे की



रामजन्मभूमि आंदोलन : साम्प्रदायिकीकरण का वाहक

चुनावी अहमियत अब काफ़ी घट गयी है, पर रामजन्मभूमि का यह मुद्दा विभिन्न तरीकों से देश की राजनीति को आज भी प्रभावित कर रहा है। इस आंदोलन के कारणों को समझने के लिए इसकी ऐतिहासिक और समकालीन पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है।

मुगल शासक बाबर ने 1525 भारत पर आक्रमण किया। उसने पहले इब्राहिम लोधी को पानीपत की पहली लड़ाई में हराया तथा उसके बाद चित्तौड़गढ़ के राजा राणा संग्राम सिंह को खानवा के युद्ध में पराजित किया। इन जीतों के बाद बाबर का क्रब्ज़ा उत्तर भारत के एक बड़े हिस्से पर हो गया। मीर बक़ी खान नामक उसके एक सिपहसालार ने 1528 में अयोध्या में अपने सुल्तान की बेटी के नाम पर बाबरी मसजिद का निर्माण कराया।

हिंदू मानस में अयोध्या का महत्त्व एक तीर्थस्थल के तौर पर दर्ज है। प्रचलित मान्यता के अनुसार विष्णु के अवतार समझे जाने वाले राम का जन्म अयोध्या में ही हुआ था। यह भी दावा किया जाता है कि दो हजार साल पुराने स्कंद पुराण (जिसमें भारत के प्राचीन तीर्थस्थलों का वर्णन है) में राम के जन्म-स्थल की शिनाख्त की गयी है और वह स्थान वही है जहाँ मीर बक़ी ने मसजिद बनवायी थी।

ज़ाहिर है कि इस पुराणगत दावेदारी की ऐतिहासिक पुष्टि नहीं हो सकती। अयोध्या का पिछले तीन सौ साल का इतिहास वहाँ कुछ साम्प्रदायिक टकरावों का संकेत तो देता है, पर उनकी प्रकृति रामजन्मभूमि आंदोलन जैसी कभी नहीं थी। अयोध्या का शाब्दिक अर्थ ही है वह जगह जहाँ युद्ध न होता हो। अवध के जिस सांस्कृतिक क्षेत्र में अयोध्या स्थित है वह आम तौर पर साम्प्रदायिक तनाव और दंगों से मुक्त रहा है। मुग़ल साम्राज्य के पतन के ज़माने में अवध के शिया

नवाबों का वैभव शिखर पर था। उनकी मान्यता थी कि प्रजा के बहुसंख्यक हिस्से की धार्मिक निष्ठाओं का आदर किया जाना चाहिए। उनका प्रशासन ज़्यादातर खत्री और कायस्थ अफ़सरों के हाथ में रहता था, और उनकी फ़ौज दशनामी नगा साधू योद्धाओं की टुकड़ियों पर निर्भर थी। कभी-कभी तो उनके सिपहसालारों में हिंदुओं की संख्या मुसलमानों से ज़्यादा हो जाती थी। अयोध्या के ज़्यादातर मंदिर अट्टारहवीं सदी में नवाबों के शासन के तहत ही बनवाये गये थे। ये मंदिर अन्य भारतीय शहरों के मंदिरों जैसे भी नहीं हैं। इनके दरवाजे हिंदू, ग़ैर-हिंदू, ब्राह्मण, अछूत, नास्तिक या आस्तिक

सभी के लिए खुले रहते हैं। दो मंदिरों को तो मुसलमानों ने भी बनवाया था जिनमें से एक का इंतज़ाम तो आज भी मुसलमानों के पास ही है। कुछ मशहूर मंदिरों का निर्माण तो मुसलमान सामंतों द्वारा इसी मक़सद से दी गयी ज़मीन पर ही हुआ है। हनुमान गढ़ी का मंदिर इसका उदाहरण है जिसे बनवाने के लिए नवाब सफ़दर जंग ने निर्वाणी अखाड़े के महंत अभयराम को ज़मीन दी थी। पीटर वान डर वीर की मान्यता है कि अयोध्या की प्रतिष्ठा नवाबों का हस्तक्षेप खत्म होने के कारण नहीं बल्कि उनके संरक्षण के कारण बढ़ी। कुछ पुजारियों का तो यह भी दावा है कि शहंशाह बाबर ने यह शहर वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों को उपहारस्वरूप भेंट किया था। आज भी सभी मंदिरों में चढ़ाये जाने वाले फूल मुसलमान ही उगाते हैं। पूजा से पहले मूर्तियों के शृंगार की सामग्री भी उन्हीं के हाथों बनती है। कुछ साल पहले तक देवी-देवताओं के मुकुट बनाने पर रहमत सुनार और नन्नु सुनार जैसे दस्तकारों का इजारेदारी थी। देवताओं के सिंहासन बनाने का काम बालम नामक मुसलमान बढ़ई द्वारा किया जाता है जिसकी समाज में बड़ी इज़्ज़त है।

इतिहासकार बिपिन चंद्र के अनुसार उत्तर प्रदेश के इस हिस्से में जैरामजी या जैसियाराम के अभिवादन हिंदुओं में ही नहीं बल्कि मुसलमानों में भी प्रचलित रहा है। लेकिन साम्प्रदायिक सौहार्द्र की इस तस्वीर से यह मान लेना उचित नहीं होगा कि रामजन्मभूमि आंदोलन से पहले अयोध्या में हिंदू-मुसलमान तनाव कभी नहीं रहा। बीसवीं सदी से पहले भी वहाँ रामजन्मभूमि को केंद्र बना कर हिंदू-मुसलमान टकराव हो चुका है। उस ज़माने में यह टकराव मुसलमानों द्वारा हनुमानगढ़ी पर की गयी दावेदारी के कारण हुआ था। पर इस तरह के विवादों के बाद आपसी समायोजन के लम्बे दौर

भी चलते थे। युरोपीय सैलानी विलियम फिंच ने देखा था कि 1608 से 1611 के बीच बाबरी मसजिद में हिंदुओं को पूजा करने की इजाजत थी। उन दिनों यह मसजिद नयी-नयी ही बनी थी।

यह भी एक तथ्य है कि बाबरी मसजिद के परिसर में एक छोटा सा मंदिर अपने गर्भ गृह के साथ मौजूद था और इसे रामजन्मभूमि मंदिर भी कहा जाता था। इसी के साथ यह भी हकीकत है कि इसी परिसर के पास बने हुए और भी कई मंदिर थे जिनका दावा था कि वे ही रामजन्मभूमि मंदिर हैं। उन्नीसवीं सदी तक बाबरी मसजिद के परिसर में एक साथ पूजा एवं नमाज होती थी। उन्नीसवीं सदी में कुछ हिंदुओं ने यह दावा किया कि जिस जगह पर मसजिद बनी हुई है, वहाँ पहले एक मंदिर था और उसी मंदिर में राम का जन्म हुआ था। 1885 में महंत रघुवर राम ने बाबरी मसजिद परिसर के बाहर एक मंदिर बनाने के लिए कोर्ट में याचिका दायर की। याचिका का दावा मानने के बावजूद फैजाबाद के जिला न्यायधीश ने 'काफ़ी समय बीत जाने का' हवाला देते हुए 18 मार्च, 1886 को मामले को खारिज कर दिया।

देखें : केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. डेनियल गोल्ड (1991), 'ऑर्गनाइज्ड हिंदुत्व : फ्रॉम वैदिक टूथ टु हिंदू नेशन', मार्टिन ई. मार्टी और आर. स्कॉट एपलबाई (सम्पा.), *फंडामेंटलिज्म ऑब्जर्व्ड*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो।
2. पीटर वान डर वीर (1989), *गॉड्स ऑन अर्थ : द मैनेजमेंट ऑफ़ रिलीजियस एक्सपीरिएंस ऐंड आइडेंटिटी इन अ नॉर्थ इण्डियन पिलग्रिमेज सेंटर*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।
3. रामचंद्र गाँधी (1992), *सीताज किचन : अ टेस्टिमनी ऑफ़ फ़ेथ ऐंड इनक्वैरी*, पेंगुइन, नयी दिल्ली।
4. के.एन. पणिकर (सम्पा.) (1991), *कम्युनलिज्म इन इण्डिया: हिस्ट्री, पॉलिटिक्स ऐंड कल्चर*, मनोहर पब्लिशर्स, नयी दिल्ली।

— कमल नयन चौबे और अनुराग पांडेय

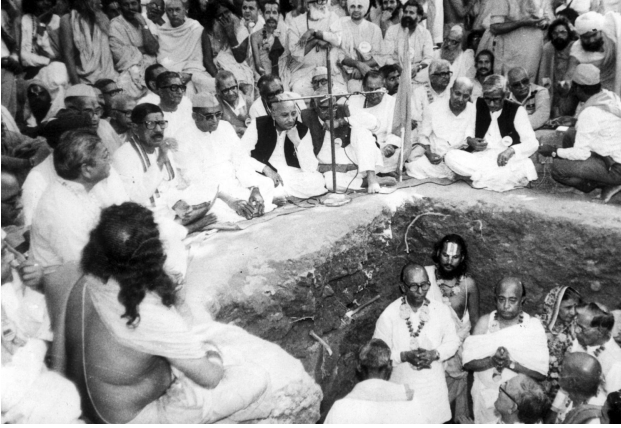
रामजन्मभूमि आंदोलन-2

(अस्सी के दशक की राजनीति)

(Ramjanmabhoomi Movement-2)

आज़ादी मिलने के बाद 1948 में भारत सरकार ने मुसलमानों को निर्देश दिया गया कि वे 'विवादित स्थल' से दो सौ गज की दूरी से अधिक नज़दीक नहीं जा सकते। हालाँकि मुख्य दरवाज़ा बंद कर दिया गया, लेकिन हिंदू तीर्थयात्रियों के लिए एक तरफ़ के दरवाज़े से प्रवेश की अनुमति प्रदान की गयी। इस मुद्दे ने दिसम्बर, 1949 में गम्भीर रूप धारण किया जब साम्प्रदायिक मानसिकता वाले एक ज़िला अधिकारी ने कुछ हिंदुओं को मसजिद में जाने तथा वहाँ राम और सीता की मूर्तियाँ स्थापित करने की इजाजत दे दी। उसी समय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और गृहमंत्री सरदार पटेल ने इस कार्रवाई की निंदा की। लेकिन उत्तर प्रदेश सरकार ने नाजुक परिस्थिति भाँपते हुए यह भी महसूस किया कि वह इस नयी स्थिति को उलट नहीं सकती। इसलिए उसने मसजिद पर ताला लगा कर दोनों समुदायों के लोगों के आने-जाने पर पाबंदी लगा दी। उस समय इसे कमोबेश एक अस्थाई हल के रूप में स्वीकार कर लिया गया। अर्द्ध सरकारी मुसलमान वक्फ़ बोर्ड (जो मुसलमानों का न्यास है) के साथ-साथ हिंदू पक्ष ने इस दीवानी मुकदमे दायर किये। तत्पश्चात् भारतीय सरकार ने स्थल को 'विवादित' घोषित करते हुए मसजिद में ताला लगवा दिया।

भारतीय राजनीति में अस्सी का दशक बड़ा उथल-पुथल भरा था। 1980 में इंदिरा गाँधी की प्रधानमंत्री पद पर वापिसी हुई। लेकिन 1977 की भीषण चुनावी पराजय झेल चुकने के बाद वे दस साल पहले वाली आश्वस्त इंदिरा गाँधी नहीं थीं। उन्होंने कांग्रेस के पुराने समर्थन आधार, खास कर मुसलमान वोटों को अपना साथ छोड़ते देखा था। रजनी कोठारी ने अपने साम्प्रदायिकता संबंधी अध्ययन में असम में दिये गये उनके एक भाषण का जिक्र किया है। इस भाषण में इंदिरा गाँधी ने मुसलमानों की देशभक्ति पर संदेह किया। कोठारी की मान्यता है कि उनके दिमाग़ में हिंदू कार्ड की राजनीति पक रही थी। कांग्रेस की इस राजनीति को दक्षिणपंथी नेतृत्व ने ध्यान से देखा। शिव सेना के प्रमुख बाल ठाकरे ने तो इसी दौर में इंदिरा गाँधी से प्रेरणा लेकर हिंदू हृदय सम्राट के तौर पर अपना नया अवतार लिया। इससे पहले तो मुम्बई के मराठीभाषियों को दक्षिणभारतीयों से लड़ने की राजनीति करते थे। यही वह दौर था जब सुस्त पड़ी हुई विश्व हिंदू परिषद् जागी और उसने रामजन्मभूमि का मसला उठाया। अस्सी के दशक को असम में बहिरागत विरोधी



अयोध्या में विश्व हिंदू परिषद का विवादित स्थल पर शिलान्यास-कार्यक्रम.

आंदोलन, पंजाब में सिक्ख आतंकवाद, ऑपरेशन ब्लू स्टार, इंदिरा गाँधी की हत्या, राजीव गाँधी के उदय और भाजपा की चुनाव में क्ररारी हार के लिए भी जाना जाता है। समाज-विज्ञान के लिए भी अस्सी का दशक सेकुलरवाद के मसले पर विद्वत्तापूर्ण बहसों का था। इसी दशक में आशिस नंदी ने अपना बहुचर्चित 'एंटी सेकुलर मेनिफेस्टो' प्रकाशित किया जिसके इर्द-गिर्द सेकुलरवाद के भारतीय मॉडल को लेकर एक के बाद एक कई रचनाएँ प्रकाश में आयीं। यह देखना दिलचस्प होगा कि जब संघ परिवार की राजनीतिक शाखा भाजपा संसद में केवल दो सीटों पर सिमट गयी थी, उसके अन्य संगठनों ने हिंदुत्व की राजनीति के लिए सामग्री कहाँ से प्राप्त की।

पचास के दशक की शुरुआत में एक बार संघ परिवार ने अयोध्या में राम मंदिर बनवाने की मुहिम छेड़ने का मामूली सा प्रयास किया था। तब उसका नारा था : *आ के बोलो, जोर से बोलो, रामजन्मभूमि का ताला खोलो*। अस्सी के दशक में उसके पास विश्व हिंदू परिषद् जैसा संगठन था जिसकी स्थापना 1966 में की गयी थी। अस्सी तक आते-आते विहिप हिंदुओं को संगठित करने वाले एक प्रमुख औजार की शक्ल ग्रहण कर चुकी थी। अस्सी के दशक की शुरुआत में तमिलनाडु के धर्मपुरी में दलितों के इस्लाम में हुए धर्मांतरण ने हिंदुत्ववादी ताकतों में बड़ी बेचैनी पैदा की। 1983 में विहिप ने एकात्मता यज्ञ आयोजित किया जिसमें विभिन्न पवित्र नदियों के जल को एक जगह ला कर भारत की सांस्कृतिक एकता का प्रदर्शन किया गया। अगले साल उसने नयी दिल्ली में धर्म संसद आयोजित की जिसमें बांग्लादेश के हिंदुओं की सम्पत्ति फिर से हासिल करने, रामजन्मभूमि और काशी विश्वनाथ मंदिर की मुक्ति के मसलों पर विचार किया गया। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि रामजन्मभूमि आंदोलन के पहले चरण में विहिप की कोशिशों को सेकुलर दलों और समूहों के किसी सक्रिय विरोधी का सामना नहीं करना पड़ा।

अचानक 1 फ़रवरी, 1986 को अयोध्या के ज़िला जज ने मसजिद पर लगे ताले खोलने और हिंदुओं को वहाँ पूजा करने की इजाज़त देने का फ़ैसला किया। इसी वर्ष राजीव गाँधी के नेतृत्व वाली केंद्र सरकार ने वहाँ राम मंदिर का शिलान्यास करवाया। इसके पीछे स्पष्ट रूप से यह सोच काम कर रहा था कि ऐसा करके कांग्रेस दक्षिणपंथियों से उसका एक प्रमुख मुद्दा छीन लेगी। कांग्रेस के नेताओं को ऐसा लगता था कि हिंदू जनमानस में राम के प्रति आस्था गहराई से पैठी हुई है, इसलिए मंदिर शिलान्यास करवाने से चुनावों में उन्हें भी इसका फ़ायदा मिल सकता है। जाहिर है कि कांग्रेस का इरादा मसजिद के साथ कोई छेड़छाड़ करना नहीं था। 1986 में ही शाहबानो मामले में कांग्रेस सरकार का रुख उसके दोतरफ़ा साम्प्रदायिक इरादों की चुगली खा रहा था। इस मामले में एक तलाक़शुदा मुसलमान महिला शाहबानो को उसका हक़ देने के सर्वोच्च न्यायालय के फ़ैसले को कांग्रेस सरकार ने संसद में क़ानून बनाकर पलट दिया क्योंकि वह मुसलमानों के पर्सनल लॉ में दखल नहीं देना चाहती थी। दरअसल, वह अपने दोनों हाथों में लड्डू चाहती थी। वह मुसलमान और हिंदू साम्प्रदायिकताओं के बीच होड़ के ज़रिये अधिकतम चुनावी लाभ उठाने की फ़िराक़ में थी।

लेकिन, ज़िला कोर्ट के आदेश के बाद बाबरी मसजिद के ताले खोलते ही विहिप को वह मुद्दा मिल गया जिसकी उसे तलाश थी। यह अलग बात है कि इस घटनाक्रम में उसकी कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं थी, पर फ़ायदा उसी ने सबसे ज़्यादा उठाया। देखते-देखते 1987 के अंत तक उसने पूरे देश में रामजन्मभूमि समितियों का गठन कर डाला। 1988 में उसने दुनिया भर में अनिवासी हिंदुओं के सात सम्मेलन (नैरोबी, काठमाण्डू, सिंगापुर, कुआलालाम्पुर, बैंकाक, हेग और इंग्लैण्ड) आयोजित किये ताकि उसकी गतिविधियों को उनका आर्थिक समर्थन मिलता रहे।

27 जनवरी, 1989 को विहिप ने कुम्भ मेले के दौरान तीन दिनों के राष्ट्रीय सम्मेलन की घोषणा की। 29 जनवरी को इस सम्मेलन में 'राम-जन्म भूमि की मुक्ति' का संकल्प पारित किया। साथ ही यह फ़ैसला भी लिया गया कि वह बाबरी मसजिद विवाद पर अदालत या किसी भी कार्यकारी निकाय के निर्णय या फ़ैसले का विरोध करेगी तथा राम मंदिर के निर्माण के लिए शिलान्यास आयोजित करेगी। विहिप ने अपील की कि प्रत्येक हिंदू (शहर या गाँव) अपने साथ रामशिला ('राम' शब्द लिखी हुई पवित्र ईंटें) लेकर अयोध्या की ओर कूच करे तथा राम मंदिर के निर्माण के लिए धन इकट्ठा करे। विहिप ने दावा किया कि देश में छह लाख गाँव हैं तथा अस्सी करोड़ हिंदुओं की जनसंख्या है। अगर प्रत्येक गाँव से हर हिंदू एक ईंट तथा एक रुपया पच्चीस पैसा समर्पित करे तो रामजन्मभूमि को मुक्त कराने का यह संघर्ष आधा

जीत लिया जायेगा। विहिप समेत संघ परिवार के संगठनों ने हजारों गाँवों में शिलापूजन के कार्यक्रम आयोजित किये। लाल कपड़े में लिपटी और पवित्र धागों में बँधी स्वस्तिक चिह्न वाली ये ईंटें आम श्रद्धालुओं के लिए पूजा की वस्तु बन गयीं। गतिविधियों को ज़बरदस्त सफलता प्राप्त हुई।

विहिप की इन कोशिशों की प्रतिक्रिया में मुसलमान नेतृत्व ने भी अपनी गोलबंदी शुरू कर दी। ऑल इण्डिया बाबरी मसजिद एक्शन कमेटी ने 'हिफ़ाज़ती दस्ता' संगठित करने तथा शिला पूजन एवं प्रस्तावित राम मंदिर निर्माण का विरोध करने का ऐलान किया। हिंदू-मुसलमान संघर्ष की स्थिति समाप्त करने के उद्देश्य से केंद्र एवं राज्य की सरकारों ने विहिप के साथ एक समझौता किया। इसके तहत विहिप ने सरकार को आश्वासन दिया कि वह उच्च न्यायालय के 14 अगस्त, 1949 के फ़ैसले का सम्मान करते हुए शांति एवं सौहार्द बनाये रखेगी। जवाब में सरकार ने आश्वासन दिया कि वह विहिप के रामशिला जुलूस को सुरक्षा प्रदान करेगी। किंतु साम्प्रदायिक सौहार्द बनाये रखने का यह प्रयास विफल रहा और देश के कई हिस्सों में साम्प्रदायिक दंगे हुए। कांग्रेस की सरकार ने शिलान्यास समारोह को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया और 9 नवम्बर, 1989 को शिलान्यास कार्यक्रम शुरू हुआ। 10 नवम्बर को हुए शिलान्यास में पहली ईंट बिहार के एक दलित कामेश्वर चौपाल के हाथों रखवायी गयी।

देखें : केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. प्रदीप नायक, *द पॉलिटिक्स ऑफ अयोध्या डिस्प्यूट : राइज़ ऑफ़ कम्युनलिज़्म ऐंड फ्यूचर वोटिंग बिहेवियर*, कॉमनवेलथ पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
2. वी.बी. सिंह और योगेंद्र मलिक, *हिंदू नैशनलिज़्म इन इण्डिया: द राइज़ ऑफ़ भारतीय जनता पार्टी*, वेस्ट न्यू प्रेस, यू.एस.ए.
3. रोमिला थापर, *इमेजिंड रिलिज़ियस कम्युनिटीज़ : ऐंडशॉट हिस्ट्री एंड द मॉडर्न सर्च फ़ॉर अ हिंदू आइडेन्टिटी*, क्रिटिकल क्वेस्ट, नयी दिल्ली.
4. सिटीज़ंस ट्रिब्युनल ऑन अयोध्या (1993), *रिपोर्ट ऑफ़ द इनक्वैरी*, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे और अनुराग पांडेय

रामजन्मभूमि आंदोलन-3

(छह दिसम्बर, 1992 की त्रासदी)

(Ramjanmabhoomi Movement-3)

शिलान्यास के पीछे एक क्रान्ती स्थिति भी थी। कोर्ट का निर्णय था कि जिस भूखण्ड पर शिलान्यास किया जा रहा है वह निर्विवादित है। उत्तर प्रदेश सरकार ने घोषित किया कि प्लॉट नंबर 596 (जिसे वक्रफ बोर्ड अपनी सम्पत्ति बताता था) के दो भाग हैं। एक विवादित तथा दूसरा निर्विवादित। शिलान्यास कार्यक्रम की विपक्षी दलों तथा मुसलमान समुदाय के बड़े तबक्रे ने आलोचना की। मुसलमानों ने विहिप के इस क्रदम को स्वीकार नहीं किया तथा सैकड़ों मुसलमानों ने शिलान्यास कार्यक्रम वाले दिन ही विरोध स्वरूप गिरफ़्तारियाँ दीं। 1989 के चुनावों के बाद विश्वनाथ प्रताप सिंह ने केंद्र में भारतीय जनता पार्टी के समर्थन से राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार बनायी तथा उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव मुख्यमंत्री बने। विहिप ने 23 जून, 1990 के अपने हरिद्वार सम्मेलन में घोषणा की कि वह 30 अक्टूबर, 1990 से अयोध्या में राम मंदिर का निर्माण शुरू कर देगी। संघ के अन्य संगठनों ने राष्ट्रीय मोर्चा सरकार पर राम मंदिर के निर्माण की माँग मनवाने के लिए दबाव डालना शुरू कर दिया। इससे बनी जटिल राजनीतिक परिस्थिति के कयी आयाम थे।

पहला, अयोध्या मुद्दे को हल कर पाने में असमर्थ विश्वनाथ प्रताप सिंह ने 7 अगस्त, 1990 को मण्डल आयोग की उस रपट के कार्यान्वयन की घोषणा की जिसमें अन्य पिछड़े वर्गों को शिक्षण संस्थानों में आरक्षण का प्रावधान किया गया था। ऊँची जातियाँ में सरकार के इस क्रदम की तीखी आलोचना हुई। आरक्षण विरोधी आंदोलन शुरू हो गया।

दूसरा, भारतीय जनता पार्टी भी रामजन्मभूमि आंदोलन में खुल कर कूद पड़ी। अभी तक उसने इस आंदोलन में औपचारिक भागीदारी की घोषणा नहीं की थी। राजनीतिक विश्लेषकों की मान्यता है कि वी.पी. सिंह द्वारा खेले गये मण्डल के दाँव ने भाजपा को इसके लिए मजबूर किया। पार्टी के अध्यक्ष लाल कृष्ण आडवाणी ने सोमनाथ से अयोध्या तक रथयात्रा की घोषणा की। यह यात्रा मण्डल रिपोर्ट के असर को कम करने के लिए तथा हिंदुओं को संगठित करने के उद्देश्य से की गयी थी। 25 सितम्बर, 1990 में सोमनाथ से शुरू हुई रथयात्रा का समापन 30 अक्टूबर, 1990 को अयोध्या में तय किया गया। आडवाणी की रथयात्रा को अभूतपूर्व कामयाबी मिली। उसका जगह-जगह भव्य स्वागत हुआ। आडवाणी अपनी रथ यात्रा पूरी नहीं कर पाये और बिहार के समस्तीपुर ज़िले में 23 अक्टूबर, 1990 को उन्हें

गिरफ्तार कर लिया गया। इसी के साथ भाजपा ने केंद्र की सरकार से अपना समर्थन भी वापिस ले लिया। कांग्रेस के समर्थन से चार महीने तक चंद्रशेखर के नेतृत्व में केंद्र सरकार चली और कांग्रेस के ही समर्थन वापसी के बाद दसवें आम चुनावों की घोषणा हुई।

तीसरा, विहिप ने इस बीच रामजन्मभूमि आंदोलन को सघन करने की प्रक्रिया जारी रखी। एक ओर रथयात्रा चल रही थी, दूसरी ओर 30 अक्टूबर को कारसेवकों के अयोध्या पहुँचाने की योजनाओं पर अमल किया जा रहा था। तीसरी ओर उत्तर प्रदेश की मुलायम सिंह सरकार बाबरी मसजिद की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध हो कर प्रदेश में सद्भावना रैलियाँ आयोजित कर रही थीं। लेकिन कड़े सुरक्षा बंदोबस्त के बावजूद हजारों की संख्या में कारसेवक 30 अक्टूबर को अयोध्या में एकत्रित हुए। सुरक्षा बलों एवं कारसेवकों के मध्य उस समय संघर्ष हुआ जब उन्होंने ज़बरदस्ती मसजिद परिसर में प्रवेश करने का प्रयास किया। कारसेवकों ने बाबरी मसजिद की बाहरी दीवारों को क्षतिग्रस्त कर दिया तथा उसके गुंबदों पर भगवा ध्वज फहराया। सुरक्षा बलों एवं कारसेवकों के मध्य संघर्ष में कम से कम एक दर्जन व्यक्तियों की मृत्यु हुई। मसजिद की बाहरी दीवारों के क्षतिग्रस्त होने तथा भगवा ध्वज फहराये जाने की घटना को विहिप ने प्रतीकात्मक विजय के रूप में प्रचारित किया। कारसेवकों की मृत्यु को शहादत के रूप में प्रस्तुत किया गया।

देश भर में साम्प्रदायिक हिंसा फूट पड़ी, लेकिन इससे बेपरवाह विहिप ने हिंदुओं को संगठित करने के लिए भस्म यात्रा या अस्थि कलश यात्रा (मृत कारसेवकों की राख का कलश) की घोषणा की। ये अस्थि कलश यात्रा जिस क्षेत्र से गुज़रे वहाँ पहले से मौजूद तनावपूर्ण स्थिति और बिगड़ी तथा लगभग हर जगह साम्प्रदायिक दंगे हुए।

रामजन्मभूमि आंदोलन का लाभ विहिप को संसदीय कामयाबी के रूप में मिला। 1991 के चुनाव में उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश से उसके बीस से ज़्यादा नेता भाजपा के टिकट से संसद सदस्य चुने गये। इनमें से कई धार्मिक नेता और पुजारी थे। इन सफलताओं से विहिप की महत्वाकांक्षाएँ और बढ़ीं। उसने ऐलान किया कि अयोध्या में तो वह हर क्रीमत पर राम मंदिर बनायेगी ही, काशी विश्वनाथ मंदिर और मथुरा के कृष्णजन्मभूमि मंदिर को भी मुक्त कराया जायेगा। हिंदुत्ववादियों की संसदीय कामयाबी उत्तर प्रदेश में ही शिखर पर पहुँची जब 1990 में हुए राज्य विधान सभा चुनावों में भाजपा को पूर्ण बहुमत मिला। कल्याण सिंह प्रदेश के मुख्यमंत्री बने। उधर केंद्र में हुए मध्यावधि चुनावों में भी भाजपा को ज़बरदस्त फ़ायदा हुआ। उसे कुल 120 लोकसभा

सीटों पर जीत मिली। इसी राजनीतिक फ़ायदे को मज़बूत बनाने के लिए भाजपा और विश्व हिंदू परिषद ने दिसम्बर, 1992 के पहले हफ़्ते में अयोध्या में कारसेवा का आयोजन किया। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री कल्याण सिंह ने अदालत में हलफ़नामा दायर करके यह कहा कि वे बाबरी मसजिद की हिफ़ाज़त करेंगे। लेकिन 6 दिसम्बर, 2004 को भाजपा द्वारा बुलाये गये कारसेवकों की भीड़ ने बाबरी मसजिद गिरा दी। यह गौरतलब है कि जिस समय यह घटना हुई लालकृष्ण आडवाणी, मुरली मनोहर जोशी और उमा भारती समेत भाजपा के कई बड़े नेता यहाँ मौजूद थे।

बाबरी मसजिद कैसे गिरायी गयी— इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर देने वाले एक अनुसंधान के मुताबिक 5 जुलाई, 1992 को मसजिद की पूर्वी दिशा में प्रस्तावित राम मंदिर के 'एक हिस्से' का कारसेवकों और साधुओं-पुजारियों द्वारा निर्माण शुरू कर दिया गया। पर्यटकों की सुविधाओं के नाम पर जो जगह उत्तर प्रदेश की भाजपा सरकार ने अधिग्रहीत की थी, यह निर्माण वहीं पर शुरू हुआ। सबसे पहले एक सिंह द्वार की नींव रखी गयी। यहाँ पहले से मौजूद मंदिर धराशायी कराके यह जगह खाली करायी गयी थी। मंदिर तोड़ कर मसजिद बनाने का आरोप लगाने वालों ने स्वयं मंदिर तोड़ कर नये मंदिर की पेशबंदी की थी। 28 नवम्बर को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने आदेश दिया कि निर्माण की सभी गतिविधियाँ विवादित स्थल की सीमा पर ही रुक जानी चाहिए। शुरू में अयोध्या में कारसेवकों की संख्या केवल कुछ सौ ही थी, पर धीरे-धीरे यह बढ़ कर हजारों में पहुँच गयी। प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव ने इस बीच में चार महीने की मोहलत हासिल कर ली और कहा कि अगर कारसेवक विवादित स्थल से हटा लिए जाएँ तो वे मामला हल कर देंगे। सरकार और आंदोलन के बीच एक करार भी हो गया। विहिप ने कारसेवक विवादित स्थल से हटा कर पास के अविवादित स्थल पर निर्माण की गतिविधियाँ चलाते रहने के लिए भेज दिया। वहाँ लक्ष्मण के नाम पर एक मंदिर प्रस्तावित था। सितम्बर से नवम्बर तक हिंदू और मुसलमान नेताओं के बीच करीब नब्बे बैठकें हुईं, लेकिन सरकार इसके अलावा कुछ नहीं कर पायी। इसी बीच विहिप ने खड़ाऊँ पूजन कार्यक्रम शुरू कर दिया। बातचीत के बीच सरकार ने 31 अक्टूबर को कारसेवा की तारीख छह दिसम्बर घोषित कर दी। 28 नवम्बर को उत्तर प्रदेश सरकार ने सुप्रीम कोर्ट को हलफ़नामा दिया कि कारसेवा प्रतीकात्मक ही होगी और विवादित स्थल की सुरक्षा की जाएगी। यह झूठा हलफ़नामा इसलिए दिया गया था ताकि अयोध्या में कारसेवकों और पार्टी नेताओं के आने-जाने पर कोई रोक न लगे। नवम्बर के अंत तक अयोध्या में बीस हजार कारसेवक पहुँच चुके थे।

यह पूरा आयोजन संघ के हाथों में था। आखिर तक करीब दो लाख लोग अयोध्या में आ गये थे जिसमें उत्तर-पूर्व के लोगों को छोड़ कर सभी स्वयंसेवक ही थे।

प्रतीकात्मक कारसेवा का मतलब था सरयू से पानी ला कर राम चबूतरे की धुलाई और सफ़ाई, शिलान्यास वाले गड्ढे को रेत से भरना, शेषावतार मंदिर के पास निचली ज़मीन को समतल किया जाना और एक अघोषित स्थान पर ईंटें चिनना। लेकिन छह दिसम्बर को ऐसा कुछ नहीं हुआ। आशिस नंदी, शिखा त्रिवेदी, शैल मायाराम और अच्युत याग्निक की बहुचर्चित पुस्तक *राष्ट्रवाद का अयोध्या कांड : रामजन्मभूमि आंदोलन और आत्मभय की राजनीति* में दिये गये ब्योरे के अनुसार पाँच दिसम्बर को आधी रात से ठीक पहले बजरंग दल के नेता विनय कटियार और अवध क्षेत्र में संघ की गतिविधियों के मुखिया चंपत राय ने अस्थाई दरवाजे और शिलान्यास स्थल वाले गड्ढे के बीच वाले इलाके का सर्वेक्षण किया। इसी अस्थाई दरवाजे से मसजिद की तरफ जाने का एकमात्र दरवाजा खुलता था। सुबह होते-होते वहाँ एक भगवा झण्डा भी लगा हुआ दिखने लगा। यही वह जगह थी जहाँ से अगले दिन सैकड़ों कारसेवक ज़बरन अंदर घुसे। पहले उन्होंने विवादित स्थल पर लगी बाड़ तोड़ी और फिर मसजिद पर हमला बोल दिया।

देखें : केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. असगर अली इंजीनियर, () *लिपिटिंग द वेल : कम्युनल वायलेंस ऐंड कम्युनल हारमनी इन कंटेंपरेरी इण्डिया*, संगम बुक्स, हैदराबाद.
2. क्रिस्टोफ़ जैफ़लो (1999), *द हिंदू नैशनलिस्ट मूवमेंट ऐंड इण्डियन पॉलिटिक्स*, पेंगुइन, नयी दिल्ली.
3. क्रिस्टोफ़ जेफ़रलॉट (2007), *हिंदू नैशनलिज्म : अ रीडर*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
4. आशिस नंदी, शैल मायाराम, शिखा त्रिवेदी, अच्युत याग्निक (1995), *द रामजन्मभूमि मूवमेंट ऐंड द फ़ियर ऑफ़ द सेल्फ़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे और अनुराग पाण्डेय

रामजन्मभूमि आंदोलन-4

(मसजिद-ध्वंस के राजनीतिक फलितार्थ)

(Ramjanmabhoomi Movement-4)

छह दिसम्बर को सुबह सात बजे बाबरी मसजिद के आसपास का पूरा इलाका संघ के लोगों की छोटी-छोटी टीमों के नियंत्रण में आ गया। दस बजे के आसपास विवादित स्थल के इर्द-गिर्द के क्षेत्र कारसेवकों से भर गया। 11 बजे भाजपा और संघ के शीर्ष नेता विवादित स्थल पर आने शुरू हो गये। वे वहाँ पौने बारह बजे तक रहे और फिर चले गये। फिर अचानक पीएसी के जवानों ने वह जगह खाली कर दी। इसके बाद थोड़ी देर बाद ही हथौड़ों, लोहे की छड़ों, कुदालियों, सब्बलों, बाँसों और बेलचों से लैस कारसेवकों की भीड़ बैरियर तोड़ मसजिद की तरफ़ झपटी। उन्हें रोकने के लिए वहाँ पुलिस बहुत कम थी। ठीक इसी समय कारसेवकों के झुण्ड मसजिद की बगल और पीछे की दीवारों पर चढ़ने लगे। सुरक्षाकर्मी वहाँ खड़े हुए तमाशा देखते रहे। मसजिद के सामने टावर पर खड़ा संघ का एक व्यक्ति बार-बार सीटी बजाते हुए झण्डा लहरा रहा था जैसे किसी कार्यदल का निर्देशन कर रहा हो। मसजिद पर हमले के बाद साढ़े बारह बजे थोड़ी दूर पर मानस भवन के ठीक नीचे एक छोटे से तालाब सरीखे ईंटों और मिट्टी के एक गड्ढे में पम्प के जरिये पानी भरा जाने लगा। इसी गड्ढे में सीमेंट मिला कर मसजिद के मलबे पर प्लेटफ़ॉर्म और मंदिर की दीवार बनायी जानी थी।

मसजिद गिराने के साथ-साथ पत्रकारों और फ़ोटोग्राफ़रों पर नियोजित हमला किया जाने लगा। ज़्यादातर पत्रकारों को कैमरे पटक कर तोड़ डाले गये। उनकी नोटबुकें फ़ाड़ दी गयीं और टेप रिकॉर्डर तोड़ दिये गये। कई पत्रकार पिटायी से घायल हो गये। कारसेवकों द्वारा अयोध्या में घुसने के सभी रास्तों को रोक दिया गया ताकि केंद्रीय सुरक्षा बल न आ सकें। कारसेवकों के एक दूसरे दल ने शहर में मुसलमानों के घरों में आगजनी और लूटमार शुरू कर दी। मसजिदों और ईदगाहों को तबाह किया गया। पाँच सौ साल पुरानी मसजिद धीरे-धीरे ढह गयी। विहिप के नेता अशोक सिंघल ने गर्व से घोषित किया कि हिंदुओं के विद्रोह की शुरुआत का क्षण आ पहुँचा है। शाम पौने छह बजे तक बाबरी मसजिद का आखिरी गुम्बद ढहा। अयोध्या में आगजनी का धुआँ उठ रहा था। जिस समय अयोध्या में ये घटनाएँ घट रही थीं, उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री कल्याण सिंह चैन से अपने सरकारी निवास में आराम फ़रमा रहे थे। सुबह उन्होंने जाड़ों की धूप सेंकी, और दिन भर कारसेवकों को अयोध्या में ताण्डव करने दिया। आचार्य धर्मद्र के अनुसार कारसेवक अयोध्या को हिंदुओं का

वेटिकन बनाने में लगे हुए थे।

बाबरी मसजिद ढहाये जाने की घटना की जाँच के लिए केंद्र सरकार ने 16 दिसम्बर, 1992 को लिब्राहन आयोग गठित किया। जस्टिस लिब्राहन ने अपनी रिपोर्ट 30 जून 2009 को प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह को सुपुर्द की जिसमें 68 व्यक्तियों को विवादित ढाँचा गिराने का दोषी पाया, जिनमें लालकृष्ण आडवाणी, मुरली मनोहर जोशी, अटल बिहारी वाजपेयी तथा कल्याण सिंह जैसे प्रमुख भाजपा नेता शामिल हैं। रिपोर्ट ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को बाबरी मसजिद विध्वंस के मुख्य कर्ताधर्ता के रूप में प्रस्तुत किया तथा इसको पूरे हिंदू साम्प्रदायिक संगठनों का मुखिया करार दिया।

बाबरी मसजिद टूटने के साथ ही रामजन्मभूमि आंदोलन का पटाक्षेप हो गया। बाबरी मसजिद गिराये जाने के बाद केंद्र सरकार ने भाजपा शासित सभी राज्यों की सरकारों को बर्खास्त कर दिया। लेकिन यह कार्रवाई पूरे देश में इस घटना की प्रतिक्रिया नहीं रोक पायी और जगह-जगह दंगे फूट पड़े। मसजिद गिराये जाने के बाद के दौर में उग्र हिंदुत्व के आधार पर की जाने वाली राजनीति की सीमाएँ सामने आने लगीं। मसलन, 1993 में हुए उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में भाजपा को हार का मुँह देखना पड़ा और समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी के गठजोड़ को जीत मिली। उत्तर प्रदेश को हिंदुत्ववादी राजनीति की प्रयोगशाला बनाने के उद्यम की उल्टी गिनती शुरू हो गयी। इसके बाद भाजपा उत्तर प्रदेश में कभी अपने दम पर बहुमत हासिल नहीं कर पायी। इसमें उसके भीतरी अंतर्विरोधों की भूमिका भी रही।

1996 के लोकसभा चुनावों के बाद केंद्र में भाजपा सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा की सरकार बनी लेकिन वह सिर्फ 13 दिनों तक ही चल पायी। इसका कारण यह था कि भाजपा अपनी हिंदुत्ववादी छवि के कारण दूसरे दलों का समर्थन नहीं जुटा पायी। कोई भी बड़ा क्षेत्रीय दल उसे समर्थन देने के लिए तैयार नहीं था। आखिरकार, 1998 के लोकसभा चुनावों के बाद अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में फिर से भाजपा की सरकार बनी। इस बार, भाजपा ने दूसरे दलों का समर्थन हासिल करने के लिए अपने तीनों साम्प्रदायिक मुद्दों अर्थात् राम मंदिर का निर्माण, समान नागरिक संहिता के आग्रह और धारा 370 को खत्म करने की माँग को स्थगित कर दिया। 1999 में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का गठन होने के बाद भी यही स्थिति कायम रही। जब तक भाजपा ने राम मंदिर का मुद्दा ठण्डे बस्ते में नहीं डाल दिया, वह अपने नेतृत्व में राष्ट्रीय गठजोड़ नहीं बना पायी।

रामजन्मभूमि आंदोलन ने भारतीय राजनीति के कई पहलुओं को रेखांकित किया : पहला, इससे स्पष्ट हो गया कि सेकुलरवाद के मूल्य भारतीय जीवन में धर्म के महत्त्व से सामंजस्य नहीं बिठा पाया है। संविधान और राज्य ने जहाँ सेकुलर होने का दावा किया, वहीं आम लोगों के जीवन में धर्म और उसके प्रतीकों की अहमियत बनी रही। इसी वजह से इन प्रतीकों के आधार पर लोगों को आसानी से गोलबंद किया जा सका। दूसरा, इसने कांग्रेस की नरम सम्प्रदायवाद की नीति और इसकी सीमाओं को भी रेखांकित किया। आखिरकार राम मंदिर का शिलान्यास खुद राजीव गाँधी ने करवाया था ताकि वे हिंदू जनमत को लुभा सकें। लेकिन उग्र हिंदुत्व ने यह काम उनसे बेहतर तरीके से किया, क्योंकि उसने खुलकर साम्प्रदायिक राजनीति की। तीसरा, इसने राम मंदिर जैसे पहचान के मुद्दे के आधार पर होने वाली राजनीति की सीमाएँ भी स्पष्ट कर दी। जाहिर हो गया कि इस तरह के मुद्दे किसी दल को एक क्षेत्र या राज्य में तो सफलता दिला सकते हैं, लेकिन वे इसे राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार्य नहीं बना सकते। भाजपा को राम मंदिर का मुद्दा आखिरकार स्थगित करना ही पड़ा। केंद्र में भाजपा की सरकार जरूर बनी, लेकिन अयोध्या मुद्दे का चुनावी लाभ भारतीय जनता पार्टी केवल एक बार ही भुना पायी। अंततः यह मुद्दा काठ की हाँडी साबित हुआ।

मसजिद ध्वंस के दस साल बाद देश में एक और बहुत बड़ा साम्प्रदायिक काण्ड हुआ। इसकी लगाम भी हिंदुत्ववादियों के हाथों में थी। यह था 2002 के गुजरात में हुआ मुसलमानों का नरसंहार। दोनों घटनाओं में एक उल्लेखनीय समानता यह थी कि 1992 का काण्ड भी भाजपा की राज्य सरकार की देखरेख में हुआ, और 2002 का रक्तपात भी एक भाजपा सरकार के तहत ही किया गया। इससे संकेत मिलता है कि राज्य और साम्प्रदायिक विचारधारा का गठजोड़ कितनी बड़ी मानवीय त्रासदियों का कारण बन सकता है।

2003 के पहले तक मान्यता थी कि बाबरी मसजिद का निर्माण रामजन्मभूमि पर हुआ है तथा मसजिद के निर्माण से पहले उस भूखण्ड पर राम मंदिर स्थित था। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा 1970, 1992 तथा 2003 में की गयी विवादस्पद स्थल की ख़ुदाई में इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला है कि वहाँ कोई राम मंदिर रहा होगा। 2003 की ख़ुदाई में इस बात के तो प्रमाण मिले हैं कि विवादस्पद स्थल पर एक भव्य हिंदू स्मारक रहा होगा, परंतु उसे राम मंदिर नहीं माना गया क्योंकि उसके अवशेष शिव मंदिर से काफ़ी मिलते-जुलते हैं। इसके अतिरिक्त इस विवादित स्थल पर बौद्ध धर्म के अवशेष भी मिले हैं। कई इतिहासकारों (जैसे रोमिला थापर, राम शरण शर्मा इत्यादि) ने संघ परिवार के

विवादित स्थल पर राम मंदिर होने के दावों को सिरे से खारिज किया है।

इस विवादित स्थल पर इलाहाबाद उच्च न्यायालय में मुख्य रूप से तीन याचिकाएँ दायर की गयीं। प्रथम याचिका 1950 में श्री गोपाल सिंह नाम के व्यक्ति ने दायर की जो विवादित स्थल पर 'पूजा' करने की अनुमति प्रदान करने के संदर्भ में थी। दूसरी याचिका निर्मोही अखाड़ा ने 1959 में दायर की। अखाड़े की माँग थी कि विवादित स्थल पर उनका दावा वैध करार दे कर उन्हें इस स्थल का संरक्षक घोषित किया जाए। तीसरी याचिका मुसलमान वक्फ बोर्ड ने दायर की। 30 सितम्बर, 2010 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय की एक पीठ (जस्टिस एस.यू. खान, सुधीर अग्रवाल तथा डी.वी. शर्मा) ने यह फैसला दिया कि विवादित स्थल का तीन भागों में बँटवारा कर दिया जाए। रामलला मूर्ति का स्थल उस वादी को दिया जाए जो 'रामलला विराजमान' का प्रतिनिधित्व कर रहा है, निर्मोही अखाड़े को सीता रसोई एवं राम चबूतरा का स्थल देने का प्रस्ताव दिया गया तथा सुन्नी वक्फ बोर्ड को बाक़ी बची हुई ज़मीन पर अधिकार देने का फैसला सुनाया। अदालत ने तीन महीने तक यथास्थिति बनाये रखने का भी फैसला सुनाया। हालाँकि तीनों समूहों ने इस फैसले का स्वागत किया, लेकिन सुन्नी वक्फ बोर्ड ने इस फैसले के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने की घोषणा भी की।

देखें : केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. प्रदीप कुमार दत्त, 'वीएचपीज़ राम एट अयोध्या : रीइन्कारनेशन थ्रू आइडियोलॉजी' *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 26, अंक 44, पृष्ठ 2518-2521.
2. कोनराड एल्स्ट (1991), *व्हाट आफ्टर अयोध्या : इशूज़ बिफोर हिंदू सोसाइटी*, वॉयस ऑफ़ इण्डिया, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे और अनुराग पांडेय

रामानंद

(Ramanand)

वैष्णव आचार्य स्वामी रामानंद (1299-1410) मध्यकालीन भारतीय चिंतन और साहित्य के मेरुदण्ड माने जाते हैं। भारतीय भक्ति आंदोलन की परम्पराओं ने उनमें पुनर्नवा रूप प्राप्त किया और उनकी उदार लोक-जागरण दृष्टि ने जाति-पाँति पर प्रहार करते हुए सभी वर्णों के लिए भक्ति का मार्ग खोल दिया। भक्ति-मार्ग में उदारता-सहिष्णुता के बीज बोने वाले स्वामी रामानंद पहले लोकसिद्ध आचार्य हैं जिन्होंने भेदभाव भुला कर हिंदुओं को ही नहीं मुसलमानों को भी अपना शिष्य बनाया। 'जाति-पाँति बूझै नहीं कोई। हरि कौ भजै सो हरि का होई' कह कर उन्होंने शूद्र जातियों के लिए भक्ति के रास्ते खोले। यह सिद्धांत-वाक्य रामानंद के चिंतन का शिखर है। रामानंद के शिष्य कबीर के साथ रैदास भी हैं। रामानंद द्वारा प्रचलित यही उदारता असम के शंकरदेव और बंगाल के चैतन्य महाप्रभु में भी देखी जा सकती है। रामानंदी चिंतन से हुए जागरण से संत परम्परा में सुधार-चेतना और आत्म-निरीक्षण की ऐसी लहर उठी कि पूरा देश उसके प्रभाव में आ गया। स्वामी रामानंद ने पूरे देश में पर्यटन करके अपने रामावत-सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया। यह एक विरोधाभास है कि स्वामी रामानंद तत्कालीन समाज-संस्कृति में व्याप्त वर्णाश्रम का बंधन मानते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी रचना *आनंद भाष्य* में शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं दिया। दूसरी तरफ़ वे जाति-बंधन को भक्ति-मार्ग की बाधा मान कर उसे तोड़ने के आकांक्षी भी थे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने *हिंदी साहित्य का इतिहास* में स्वामी रामानंद का समय खोजते हुए लिखा है कि, 'शेरुतिक और कबीर का संवाद प्रसिद्ध ही है। इससे सिद्ध होता है कि रामानंदजी नयी दिल्ली के बादशाह सिकंदर लोदी के समय में वर्तमान थे। सिकंदर लोदी संवत् 1546 से संवत् 1574 तक गद्दी पर रहा। अतः इन अट्टाईस वर्षों के काल विस्तार के भीतर, चाहे आरम्भ की ओर, चाहे अंत की ओर, रामानंद जी का वर्तमान रहना ठहरता है।' कहते हैं सेनभगत ने रामानंद से दीक्षा ली थी। *श्रीरामार्चन पद्धति* में रामानंद पूरी तरह परम्परावादी हैं। रामानंद ने लोक में लीला-विस्तार के लिए राम का आश्रय लिया। इनके मूल-मंत्र नाम पड़ा- 'ओउम् रामाय नमः।' राम नाम ही मूल-मंत्र है। आज रामानंद के रचे हुए संस्कृत के दो ग्रंथ मिलते हैं : *वैष्णवमताब्ज भास्कर* तथा *श्री रामार्चन पद्धति*। कुछ विद्वान *गीताभाष्य* को भी रामानंद की टीकाओं में स्थान देते हैं।

प्रयाग में जन्मे रामानंद ने श्रीसम्प्रदाय की दीक्षा काशी

में आचार्य राघवानंद से ली थी। राघवानंद उन रामानुजाचार्य की चौथी पीढ़ी में आते हैं जो आलवारों की संत परम्परा में थे। उनके सभी उत्तराधिकारी वैष्णव आचार्य, चिंतक और दार्शनिक हुए। शंकराचार्य द्वारा वेदांत को पुनर्जीवित करने के बाद यह प्रश्न उठा कि वेदांत से तमिल-प्रबंधम् का संबंध कैसे स्थापित किया जाए। नाथ मुनि को यह श्रेय है कि उन्होंने तमिल प्रबंधम् को सार्वजनिक पूजा-उपासना में समाविष्ट कराया। इतना ही नहीं, उन्होंने तमिल-प्रबंधम् की जन-मन में प्रतिष्ठा के लिए उसे वेद का दर्जा दिलाया। उनके पौत्र यामुनाचार्य ने पंचरात्र-पद्धति की महिमा स्थापित करने के बाद शंकर के मायावाद का प्रबल तर्कों से खण्डन करने के साथ ही प्रपत्तिवाद का सिद्धांत अपनाया। इसी राह पर चल कर बारहवीं शताब्दी की शुरुआत में रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद की महत्त्व-प्रतिष्ठा की।

रामानुजाचार्य के तीन प्रमुख ग्रंथ हैं : *वेदांत-संग्रह*, *गीता की टीका* और *वेदांत-सूत्र का श्रीभाष्य*। शंकर ने उपनिषदों से अद्वैत का जो अर्थ निकाला था, रामानुज ने उसका खण्डन किया। लेकिन वे केवल खण्डन में ही नहीं लगे रहे, उन्होंने श्रीभाष्य में दार्शनिक-सिद्धांतों की स्थापना की और गीता के भक्ति-पक्ष का गुणगान किया। रामानुज की विशेषता यह थी कि उन्होंने वेदांत के निराकार ब्रह्म में ईश्वरत्व की स्थापना और ईश्वरवादी व्याख्या की है। उनके यहाँ ईश्वर, जीवन तथा प्रकृति तीनों अनादि थे। भक्त मुक्ति या निर्वाण न चाह कर इस संसार का गुण-कीर्तन करते हुए जीना चाहते थे। उनका संदेश था कि ज्ञान, कर्म और भक्ति में भक्ति ही श्रेष्ठ है। इस तरह रामानुजाचार्य के भक्ति सम्प्रदाय ने सहस्रों-सहस्रों शूद्रों और अन्त्यजों को अपना कर बहुत बड़ा कार्य किया। इसी मार्ग पर उत्तरी भारत में स्वामी रामानंद बढ़े। इसी मार्ग को उनके शिष्यों ने, विशेषकर कबीर और तुलसीदास ने, आगे बढ़ाया।

रामानुज का श्रीसम्प्रदाय विष्णु और उनकी शक्ति लक्ष्मी की पूजा में तो विश्वास करता है, लेकिन विष्णु के रामावतार की पूजा का प्रचलन श्रीसम्प्रदाय में नहीं था। वस्तुतः रामोपासना का प्रचलन-प्रवर्तन स्वामी रामानंद ने ही किया। यही कारण है कि स्वामी रामानंद का विशिष्टाद्वैतवादी सम्प्रदाय 'रामावत सम्प्रदाय' कहलाया। यह सम्प्रदाय विष्णु के अवतार राम की उपासना करता है। रामानंद दूरदर्शी महात्मा थे और भक्ति का एक नया समाजशास्त्र उनके मन में उमड़ रहा था, इसीलिए उन्होंने रामोपासक वैरागियों का संगठन एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में किया। इस संगठन में



स्वामी रामानंद (1299-1410)

प्रवेश पाने का अधिकार शूद्रों, मुसलमानों तथा वैष्णवों को भी मिला। ध्यान एकाग्र करते हुए रामानंद ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता (प्रस्थानत्रयी) की टीकाएँ प्रस्तुत कीं। *आनंद भाष्य* उनके द्वारा की गयी ब्रह्मसूत्र ही टीका है। यहाँ ब्रह्म को 'ब्रह्मशब्दवाच्य' श्रीराम माना गया है और उसे निर्गुण-सगुण दोनों रूपों में मान्यता दी गयी है। यह मान्यता ही धर्म और समाज दोनों को लेकर रामानंद में भक्ति के नये भक्तिशास्त्र-समाजशास्त्र को निर्मित करने की चिंता है। स्वामी रामानंद के दीक्षा-संस्कारों में विष्णु रचे-बसे थे, लेकिन समाज को एक त्राणकारी आध्यात्मिक प्रतीक की आवश्यकता थी। रामोपासना ने इसी कारण जोर पकड़ा। एक नया धर्म चिंतन राम को लेकर खड़ा किया गया। परम्परा ने राम में ही शील-शक्ति और सौंदर्य का अनुपम रूप पाया।

विष्णु के अवतार के रूप में रामोपासना पहले से ही चल रही थी। राम इतने पूजनीय थे कि बौद्धों ने उन्हें बोधिसत्व और जैनों ने आठवाँ बलदेव मान लिया था। स्वयं वैदिक धर्म में राम किसी न किसी रूप में पूजनीय थे। महाकवि कालिदास ने भी राम को विष्णु का अवतार माना है। दक्षिण के वैष्णव आलवार दूसरी-तीसरी शताब्दी में नारायण की भक्ति करते थे, लेकिन भक्ति-धर्म तथा भक्तिशास्त्र के तहत उन्होंने अवतारों की पूजा शुरू की। वामनोपासना का समाज में श्रीगणेश हुआ और कृष्ण तथा बलराम की पूजा का सिलसिला चल निकला। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन आलवार भक्तों ने ही रामोपासना की शुरुआत की। आलवार भक्त कुलशेखर राम के भक्त थे और उनके सृजन का एक बड़ा भाग दाशरथि राम से सम्बद्ध है। यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि रामायण तमिल में पहले लिखी गयी, हिंदी में बाद में। रामानंद दक्षिण में वर्षों भ्रमण करते रहे और रामभक्ति का प्रसाद उन्हें दक्षिण में ही मिला और वहीं से वे भक्ति को उत्तर भारत में लाए। 'भक्ती द्राविड उपजी लाये रामानंद' एक ऐसा पाठ है जिसके बहुवचनात्मक पाठ के जरिये बहुतेरे रहस्यों पर से पर्दा उठता है।

विद्वानों का ये विचार धीरे-धीरे दृढ़ हो गया है कि जिस रामभक्ति का प्रचार-प्रसार दक्षिण-उत्तर में हुआ उसका आधार ग्रंथ *अध्यात्म रामायण* थी। लेकिन आज यह पता लगाना कठिन है कि *अध्यात्म रामायण* की रचना दक्षिण में हुई थी या उत्तर में। बहुत से लोगों का अनुमान है कि *अध्यात्म रामायण* की रचना स्वामी रामानंद ने की थी। कुछ विद्वानों की यह भी मान्यता है कि रामानुजाचार्य तथा रामानंद के भक्ति-चिंतन पर इस्लाम और सूफी चिंतन का प्रभाव

पड़ा। लेकिन सूफ़ियों पर पड़े हिंदू-चिंतन के प्रभाव को देखते हुए यह मान्यता कोई खास दमदार नहीं लगती। सूफ़ी तो स्वयं हिंदू-चिंतन से बहुत प्रभावित थे।

आज का नया चिंतन स्वामी रामानंद को लेकर यह है कि वे पुरानों में आधुनिक थे और पुराने-नये का अंतःसंघर्ष उनमें सक्रिय था। लेकिन उनके भक्ति-संस्कार इतने उजले थे कि किसी ब्राह्मण या शूद्र का अनादर वे नहीं कर सकते थे। मूलतः वे समाज को नयी दिशा देने वाले कृपालु आचार्य थे। कृपालु न होते तो वर्णाश्रम धर्म की कठोरता का निषेध न कर पाते। उनका विष्टाद्वैत वेद का नया पाठ है और लोक-विश्वास का नया प्रारूप। इसी नमनशील ज्ञान-धारा ने समाज को तुलसीदास तथा नाभादास जैसे भक्त-कवि के रूप में दिये। रामानंद की मृत्यु के बाद उनके अनुयायी दो दलों में बँट गये और चिंतन की विभिन्नता में एक नया सौंदर्य कबीर ने उजागर किया। ज़्यादातर भक्त वेद और वर्णाश्रम-धर्म का विरोध करते रहे हैं। कबीर ने वेद और रामभक्ति की सभी प्रचलित धारणाओं को बदल दिया। उन्होंने जोर देकर कहा कि राम दशरथ के पुत्र नहीं हैं। 'दशरथ सुत तेहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम में जाना' कह कर यह विचार भी जोड़ दिया कि राम न चतुर्भुज ब्रह्म हैं, न विष्णु के अवतार। 'निर्गुण राम जपहु रे भाई' का पाठ हुआ कि वे सगुण ब्रह्म दशरथ पुत्र, विष्णु के अवतार नहीं हैं। वे तो अरूप, अनाम, अपार हैं। वे राम- रहीम हैं।

स्वामी रामानंद का कोई प्रामाणिक वृत्त न मिलने से उनके संबंध में कई प्रकार के प्रवादों का प्रचार भी है। कहते हैं कि वे अद्वैतियों के ज्योतिर्मठ के ब्रह्मचारी थे। लोक में प्रसिद्ध है कि रामानंद ने बारह वर्ष तक गिरनार या आबू पर्वत पर योगसाधना करके सिद्धि प्राप्त की थी। लेकिन इसका खण्डन यह कहकर किया जाता है कि वे योगमार्गी नहीं थे, बल्कि विशुद्ध भक्तिमार्ग के अनुयायी थे। *भक्तमाल* ग्रंथ में रामानंद के बारह शिष्य कहे गये हैं : अनंतानंद, सुखानंद, सुरसुतनंद, नरहर्यानंद, भावानंद, पीया, कबीर, धन्ना भगत, रैदास, पद्मावती तथा सुरसुरी। अनंतानंद के शिष्य कृष्णदास पथहारी हुए, जिन्होंने आमेर-राजपूताना में रामानंद सम्प्रदाय की गद्दी स्थापित की। कृष्णदास से पहले वहाँ नाथपंथी कनफटे योगियों की धूनी रमती थी, जिस पर कृष्णदास ने रामानंदी वैष्णव-भक्तों का वर्चस्व कायम किया। पीछे से रामानंद की वैरागी शाखा तपसी शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। रामानंद के नाम से दो ग्रंथ और भी जोड़े जाते हैं : *राम रक्षा स्तोत्र* और *योग चिंतामणि*। कुछ लोगों ने झाड़-फूँक वाले स्तोत्र भी रामानंद के नाम से लोक में फैलाये हैं। आज भी सिक्खों के गुरुग्रंथ साहब में निर्गुण उपासना के दो पद रामानंद के नाम से मिलते हैं। लेकिन इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का विचार है कि दोनों ही पद रामानंद के नहीं

हैं। रामानंद समय-समय पर विनय और स्तुति के पद हिंदी में रचकर गाया करते थे। यह तथ्य भी विद्वानों की खोज से सामने आया कि रामानंद ने हनुमान की स्तुति के पद गाये हैं। उनकी यह स्तुति आज भी मंदिरों में गायी जाती है। दरअसल, उत्तरी भारत में हनुमान-पूजा का पूरा ताना-बाना भी रामानंद की देन है।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायगलॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीमत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी (1941), *हिंदी साहित्य की भूमिका*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1980), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, प्रयाग.
4. रामविलास शर्मा (1981), *परम्परा का मूल्यांकन*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. रामधारी सिंह 'दिनकर' (1966), *संस्कृति के चार अध्याय*, उदयाचल प्रकाशन, पटना.

— कृष्णदत्त पालीवाल

रामानुजाचार्य

(Ramanujacharya)

आदर्शवादी भारतीय दर्शन की प्रणाली विशिष्टाद्वैत के संस्थापक रामानुजाचार्य (1037-1137) को आदि शंकर और मध्वाचार्य के साथ उन तीन प्रमुख विभूतियों में से एक माना जाता है जिनकी विद्वत्ता और प्रयासों से हिंदुओं के आध्यात्मिक जीवन को वह समेकित आधार मिला जिस पर वह आज तक खड़ा हुआ है। दिलचस्प बात यह है कि दार्शनिक दृष्टि से ये तीनों हस्तियाँ एक-दूसरे की समर्थक नहीं थीं। रामानुजाचार्य तो शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवादी एकेश्वरवाद और मायावाद के कड़े विरोधी थे। उन्होंने *न्यायतत्त्व* और *योगरहस्य* के रचयिता नाथ मुनि और उनके पौत्र यमुनाचार्य को अपना गुरु बनाया। उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति *श्री भाष्य* है जो उन्होंने बादरायण के *ब्रह्मसूत्र* के भाष्य के तौर पर लिखी थी। ए.बी. कीथ *ब्रह्मसूत्र* पर लिखे गये तमाम भाष्यों में रामानुज के *श्री भाष्य* को ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी अन्य मुख्य कृतियाँ *भगवद्गीता भाष्य*, *वेदांत संग्रह*, *वेदांतदीप*, *नित्यग्रंथ*, और *वेदांतसार* हैं। इन रचनाओं में रामानुजाचार्य की दार्शनिक प्रणाली विशिष्टाद्वैत की मूलभूत प्रस्थापनाएँ मिलती हैं।

रामानुजाचार्य को पूरे मध्ययुग को आंदोलित करने वाली भक्ति-धारा के दार्शनिक आधार की रचना करने का श्रेय भी दिया जाता है। उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि केवल वैदिक सूत्रों और उपनिषदों के मंत्रों को रट लेने और उन्हें दोहराते रहने से ही ज्ञान प्राप्त नहीं होता। ज्ञान का स्रोत तो ईश्वर की भक्ति में है। निष्काम कर्म सच्ची भक्ति की शुरुआत होता है। रामानुजाचार्य की शिक्षाओं के मुताबिक कर्म का उद्देश्य न तो आध्यात्मिक संतोष और न भौतिक लाभ ही होना चाहिए। कर्म करते समय मन में इस प्रकार का कोई निहित स्वार्थ होना ही नहीं चाहिए। इस प्रकार कर्म योग ही ज्ञान योग का मार्ग प्रशस्त करेगा। ज्ञान मनुष्य को अपने ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त करने तथा स्वयं को ईश्वर को पूर्णतः अर्पित करने में सहायता करता है। रामानुज के विख्यात शिष्य रामानंद ने उत्तर भारत में भक्ति-दर्शन के वाहक की भूमिका निभाई और विशिष्टाद्वैत का प्रचार किया। तुलसी और कबीर जैसे संत कवि रामानंद के ही शिष्य थे।

रामानुज की भक्ति अंधश्रद्धा पर आधारित नहीं थी। उनके अनुसार ईश्वर का निरंतर चिंतन करते रहने से उच्चतम ज्ञान प्राप्त होता है और मनुष्य निष्काम कर्म के लिए प्रवृत्त होता है। यह चिंतन आत्मा को ब्रह्म से एकत्व स्थापित करने के लिए उत्प्रेरित करता है। उनके सिद्धांतों का जनसाधारण पर

सीधा प्रभाव पड़ा। शंकराचार्य की प्रतिभापूर्ण किंतु अत्यंत उलझी हुई तर्क प्रणाली से आतंकित लोगों को रामानुज की शिक्षाओं में बहुत ही सरल और हृदय को आंदोलित करने वाले तत्त्व मिले। सम्भवतः इसका एक कारण यह भी था कि रामानुज ने धार्मिक भावनाओं का तारतम्य तर्कसंगत विचार के दावों के साथ बैठाने का भरसक प्रयास किया।

विशिष्टाद्वैत दर्शन के मुताबिक मुख्य तत्त्व तीन होते हैं— 'चित्' (जीवन), अचित् (जगत्) तथा ईश्वर। इन तीनों में ईश्वर ही प्रधान तत्त्व है। वह स्वतंत्र तथा नियामक है। जीवन तथा जड़— ये दोनों ईश्वर के अधीन हैं। जीव तथा जगत नित्य तथा स्वतंत्र पदार्थ होने के बावजूद ईश्वर की अधीनता में ही रहते हैं। इसका एक कारण है। भोक्ता (जीव) तथा भोग्य (जड़ पदार्थ) के भीतर ईश्वर अंतर्दामी रूप से रहता है अर्थात् वह इन दोनों के भीतर रहकर उन्हें प्रेरणा दिया करता है और इसीलिए वह 'अन्तर्दामी' नाम से पुकारा जाता है। इसलिए चित् तथा अचित् ईश्वर के शरीर या प्रकार माने जाते हैं। अद्वैतवादियों के समान रामानुज ब्रह्म (निर्गुण) तथा ईश्वर (सगुण) में पार्थक्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में ब्रह्म सर्वदा सगुण ही होता है और 'निर्गुण' कभी नहीं हो सकता। तो उपनिषदों में ब्रह्म को निर्गुण कहने का तात्पर्य क्या है? इसका आशय इतना ही है कि अल्पज्ञ जीव के राग-द्वेष आदि उसमें विद्यमान नहीं रहते, अन्यथा वह कल्याण-गुणों का आगार है। वह अनंतज्ञान, आनंदरूप तथा ज्ञान, शक्ति आदि अनंत कल्याण-गुणों से विभूषित रहता है। हेय गुणों से शून्य होने के कारण ही वह निर्गुण कहलाता है।

वेदांतियों की दृष्टि से भेद तीन प्रकार के होते हैं— सजातीय भेद : उसी जाति के पदार्थ का उसी जाति के अन्य पदार्थ से भिन्न होना। जैसे एक गाय का दूसरी गाय से भेद। विजातीय भेद : एक जाति के पदार्थ का दूसरी जाति के पदार्थ से भेद। जैसे एक गाय का किसी दूसरे पशु से भेद। स्वगत भेद : किसी वस्तु के एक अंग के साथ भेद। जैसे गाय के सींग तथा पूँछ में भेद। अद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्म में ये तीनों भेद पाये जाते हैं, परंतु रामानुज के अनुसार ब्रह्म में पहले के दो भेद तो हैं, परंतु अंतिम भेद नहीं मिलता। ईश्वर का चिह्न-अंश अचिद्-अंश से भिन्न होता है। फलतः ईश्वर में स्वगत भेद विद्यमान रहता है। दोनों मतों द्वारा की गयी ईश्वर-कल्पना में यह भी एक भिन्नता है। ईश्वर के साथ चित्-अचित् उसके अंश हैं— आत्मा तथा शरीर की भाँति। ईश्वर इन दोनों को भीतर से नियमित करता है और इसलिए अंतर्दामी कहलाता है। शरीर यदि अंधा या लंगड़ा हो जाए तो क्या आत्मा में भी ये दोष आ जाते हैं? नहीं। उसी प्रकार चिह्नचिद् के दोषों से ईश्वर प्रभावित नहीं होता।

विशिष्टाद्वैत के मुताबिक चित् या जीवन देह, इंद्रिय,

प्राण तथा मन से विलक्षण होता है। वह नित्य, अनंत, आनंदमय तथा अणु होता है। जीवन को अणु मानना वैष्णव दर्शनों की विशिष्टता है। इसके विपरीत शंकर जीव को विभु मानते हुए जीवन को ईश्वर का अंश करार देते हैं। इसका अर्थ यही है कि चिंगारी जैसे अग्नि का अंश है, वैसे ही जीव ब्रह्म का अंश है। दोनों में एक और भी संबंध है— विशेषण-विशेष्य भाव का। जीव विशेषण है तथा ईश्वर विशेष्य है। जड़ तथा ईश्वर का संबंध भी इसी प्रकार है। जगत या जड़ विशेषण तथा ईश्वर विशेष्य है। रामानुज ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी हैं, अर्थात् उनकी दृष्टि में न ज्ञान द्वारा और न कर्म द्वारा बल्कि ज्ञान और कर्म के सम्मिलन द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

रामानुज ने शंकर के माया संबंधी सिद्धांत का जबरदस्त विरोध किया। उन्होंने कहा कि सभी ज्ञान वास्तविकता का ज्ञान है और वास्तविकता सिर्फ मन का भ्रम नहीं होती। रस्सी को देख कर गलती से साँप समझा जा सकता है। परन्तु साँप को अवास्तविक जान कर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। क्योंकि रस्सी और साँप, दोनों ही, जल, पृथ्वी, अग्नि आदि मूल तत्वों से बने हैं। रस्सी को देख कर जब हम साँप समझ बैठते हैं तो हम दरअसल इन्हीं आधारभूत तत्वों को देखते हैं जो वास्तविक हैं। ब्रह्म यथार्थ है, अतः उस पर आधारित यह जगत भी यथार्थ है।

रामानुज ने शंकराचार्य के रस्सी-सर्प सिद्धांत की आलोचना में कहा कि रस्सी-सर्प के विषय में अस्तित्वहीन का जो संज्ञान उत्पन्न होता है वह एक विशिष्ट स्थान और समय संबंधित है; अतः उसमें अंतर्विरोध है। एक निर्णय दूसरे निर्णय को हटा देता है और हटाया हुआ निर्णय खत्म हो जाता है। परन्तु यदि कोई वस्तु एक समय में और एक स्थान पर दिखाई देती है, किंतु वही दूसरे समय में और दूसरे स्थान पर नहीं दिखाई देती तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह वस्तु सदा भ्रम से आवृत रहती है। इसलिए इस प्रकार उसका न दिखाई देना उसके अवास्तविक होने का कारण नहीं बन जाता। दूसरी ओर, यह कहना कि जो उपस्थित है वह वास्तविक है क्योंकि वह दिखाई देता रहता है, पहले से ही सिद्ध बात को सिद्ध करना है, जिसके लिए किसी सबूत की जरूरत नहीं। रामानुज के मुताबिक 'अतः केवल सत् ही यथार्थ को व्यक्त नहीं करता। और चूँकि चेतना और उसके विषय के बीच भेद— जो उस और विषय के आलम्बन के बीच संबंध पर आधारित होता है— प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध होता है, अतः यह दावा भी खण्डित हो जाता है कि केवल चेतना का ही वास्तविक अस्तित्व है।'

रामानुज ने भक्ति की आवश्यकता रेखांकित की। उनका मत था कि आत्मा कर्मों तथा भौतिक शरीर से बँधी हुई है। मुक्ति का अर्थ आत्मा को इन बंधनों से मुक्त करना

है। रामानुज के अनुसार मुक्ति के तीन मार्ग हैं— कर्म योग, ज्ञान योग और भक्ति योग। वे स्वयं भक्ति मार्ग के समर्थक थे। कर्म भक्ति को शुद्ध करता है; ज्ञान उसे गहन बनाता है। इस प्रकार, भक्तियोग के ये दो महत्वपूर्ण सहायक साधन हैं। भक्ति के अन्तर्गत सात तत्त्व आते हैं— विवेक, विमोह, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष।

विशिष्टाद्वैत दर्शन के मुताबिक जीवात्मा का अंतिम लक्ष्य ब्रह्म से ऐक्य स्थापित करना है। अतः रामानुज ने चेतावनी दी कि शरीर और जगत के बीच अंतर समझने में यदि भूल हो गयी, तो मनुष्य भौतिक जीवन के विषय-भोग में निमग्न रह जाएगा। अज्ञानवश मनुष्य यह समझता है कि शरीर ही सब कुछ है। वह मान लेता है कि शरीर का जन्म होना ही अस्तित्व का आरम्भ और मृत्यु होना उसका अंत है। यही सभी मानवीय वासनाओं, संवेदनाओं और इच्छाओं का मूल स्रोत है। किंतु मनुष्य जब यह समझ लेता है कि आत्मा इस भौतिक जगत और स्थूल शरीर से भिन्न है और जब वह जान लेता है कि वह ब्रह्म का एक अंश है तो सभी सांसारिक दुःखों और यातनाओं से छुटकारा पा लेता है।

रामानुज ने तत्कालीन समाज-व्यवस्था की परिधि के भीतर ही अपने सिद्धांतों का विकास किया। इस सीमा के बावजूद जाति-प्रथा के प्रति उनका दृष्टिकोण शंकराचार्य जितना रूढ़ नहीं था। उन्होंने घोषणा की कि भक्ति सभी जाति-भेदों से ऊपर है और वे ईश्वर की आराधना में सबके लिए समानता के समर्थक हैं। उनके अनुसार विष्णु के सभी भक्त समान हैं क्योंकि सभी लोग— ऊँची जाति वाले और नीची जाति वाले— ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति हैं। उन्हें अछूत जाति के एक भक्त तिरुप्पन आलवार द्वारा रचित 'तिरु वैमोली' को वैष्णवों का वेद स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हुई। इन बातों के बावजूद उन्हें उन जातिबंधनों को तोड़ने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जो वैष्णव समाज को विभाजित किये हुए थे। इन्हीं कठिनाइयों से पार पाने उन्होंने नियम बनाया गया कि सभी भक्त भोजन तो अलग-अलग करेंगे, किंतु भजन-प्रार्थना एक साथ करेंगे। बाद में अपने धार्मिक आंदोलन द्वारा रामानुज के अनुयायियों ने इस अवरोध को भी तोड़ दिया। रामानुज ने यहाँ तक कहा कि ईश्वर की भक्ति के लिए, अंतिम विश्लेषण में, किसी पुरोहित वर्ग की भी जरूरत नहीं। यही कारण है कि मध्य युग में रामानुज की शिक्षाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं, जबकि शंकराचार्य के सिद्धांतों के प्रति— जो इतने अमूर्त थे कि लोगों के हृदय को स्पर्श नहीं कर पाते थे और समाज के ऊपरी हिस्सों के कुछ गिने-चुने बौद्धिक भद्रजनों के लिए ही आकर्षण के विषय थे— आम लोगों में उदासीनता थी।

रामानुज का जन्म ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में दक्षिण भारत में कांचीपुरम के निकट श्री पेरुपुथुर में हुआ था।

बचपन में वे वैष्णव संतों के सम्पर्क में आये जो अलवार कहलाते थे। उन्होंने वेदों, उपनिषदों तथा अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन किया। शंकराचार्य की तुलना में उन्हें दीर्घ जीवन प्राप्त हुआ और 1137 में उनकी मृत्यु हुई।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, *पाणिनि* और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामअवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. के. दामोदरन (1982), *भारतीय चिंतन परम्परा*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. चंद्रधर शर्मा (1991), *भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसी दास, नयी दिल्ली.
3. आचार्य बलदेव उपाध्याय (1999), *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*, चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी.

— अजय कुमार पाण्डेय

राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा

(National Language and State Language)

प्राक्-आधुनिक राज्यों को, चाहे वे विशाल साम्राज्य ही क्यों न हों, राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता नहीं होती थी। उन राज्यों में भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता हासिल करने की प्रौद्योगिकी मुख्यतः प्रभुत्व आधारित थी। इसलिए इनके पास शासन के संचालन के लिए केवल एक राज-भाषा होना पर्याप्त था। उन्हें अपनी प्रतीकात्मक प्रामाणिकता राजा या सम्राट की हस्ती में मिल जाती थी। लेकिन, राजशाहियाँ कमजोर होने के बाद उभरे आधुनिक राज्यों में यह एकता वर्चस्व और प्रभुत्व की मिली-जुली प्रौद्योगिकी से स्थापित की जाती है। प्रभुत्व प्रशासनिक सुसंगतीकरण के जरिये स्थापित किया जाता है और वर्चस्व सांस्कृतिक एकजुटता के माध्यम से। इसलिए आधुनिक राज्यों को एक तरफ तो प्रशासनिक सुसंगतीकरण के लिए राज-भाषा की जरूरत पड़ती है, और दूसरी ओर सांस्कृतिक समरूपता और वर्चस्व

क्रायम करने के लिए राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता होती है। भाषाशास्त्री जोशुआ फिशमैन ने राज-भाषा की आवश्यकता को राष्ट्रता (नैशनलिज्म) की संज्ञा दी है, और राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता को राष्ट्रवाद (नैशनलिज्म) करार दिया है। जिन देशों में राष्ट्र और राष्ट्रवाद की नुमाइंदगी एक ही भाषा के जरिये की जा सकती है, वहाँ भाषाई प्रश्न किसी किसिम का तनाव पैदा नहीं करता। लेकिन जिन राष्ट्रों में इन दोनों मकसदों के लिए अलग-अलग भाषाओं की जरूरत पड़ती है, वहाँ की भाषाई नीति पेचीदा होती है और अक्सर उसके इर्द-गिर्द होने वाली राजनीति सार्वजनिक जीवन में समस्याएँ पैदा करती रहती है।

जिन देशों में नैशनलिज्म और नैशनलिज्म के लिए एक ही भाषा का इस्तेमाल होता है, उन्हें आम तौर पर एक भाषाभाषी देश की श्रेणी में डाल कर देखने का चलन है। लेकिन यह धारणा उन देशों के भाषाई यथार्थ की नुमाइंदगी नहीं करती। दुनिया में सिर्फ एक भाषा का इस्तेमाल करने वाला शायद कोई देश हो। दरअसल, बहुभाषिता एक ऐसी परिघटना है जो सारी दुनिया में व्याप्त है। विश्व में कोई दो सौ राष्ट्र होंगे जिनमें मोटे तौर पर 6,800 भाषाएँ हैं। 'एक भाषा-एक राष्ट्र' के आग्रह के तहत फ्रांस में लोग फ्रेंच बरतने के लिए बाध्य हैं, पर सभी लोगों की वह पहली भाषा नहीं है। फ्रांस के बहुत से क्षेत्रों में लोग बचपन में अल्सेशियन जर्मन, डच, ब्रेटन, बेस्क, कैटलन, ऑक्सिटन अथवा कोरसिकन मातृभाषा के रूप में सीखते हैं। फ्रेंच का ज्ञान उन्हें औपचारिक शिक्षा प्राप्त करने के दौरान ही मिलता है। स्पेन में भी स्पेनिश के साथ-साथ गैलिसियन, बेस्क और कैटलन भाषाएँ हैं; जर्मनी में फ्रिज़ियन और वेंडिश है; अमेरिका में अंग्रेज़ी के साथ-साथ दूसरे देशों से आये लोगों की भाषाएँ तो हैं ही, नैवाहो, होपी, लाकोटा और दर्जनों देशज भाषाएँ भी हैं। रूस और चीन में सौ से ज़्यादा अल्पसंख्यक भाषाएँ हैं। बहुभाषिता के इस तक्ररीबन सार्वभौम यथार्थ के बावजूद युरोपीय संकल्पना की बुनियाद में एकभाषिता को आदर्श माना जाता है। युरोपीय भाषाशास्त्रियों की नज़र में बहुभाषिता का मतलब है अ-विकास और भाषाई समरूपता का पर्याय है विकास। द्विभाषिता और बहुभाषिता अगर है भी, तो इस विचार के मुताबिक उसे संक्रमणकालीन भूमिका निभाते हुए अंततः उसे एकभाषिता में ही तब्दील होना होगा।

प्राक्-औपनिवेशिक हालात में नैशनलिज्म और नैशनलिज्म के लिए एक ही भाषा का इस्तेमाल सुनिश्चित करने की स्थिति बेहद कड़ाई से किये गये भाषा-नियोजन का परिणाम है। इसके उदाहरण फ्रांस, स्पेन और नीदरलैंड के साथ-साथ कई पश्चिमी देशों के भाषाई इतिहास से मिलते हैं। इंग्लैंड में लैटिन और फ्रेंच का इस्तेमाल करने वालों से आर्थिक जुर्माना वसूला जाता था ताकि अंग्रेज़ी को प्रोत्साहन

मिले। युजेन वेबर की मशहूर रचना *पीजेंट्स एज़ फ्रेंचमेन* बताती है कि फ्रेंच को अनिवार्य राष्ट्र-भाषा कैसे बनाया गया और किस तरह की ज़ोर-ज़बरदस्ती से फ्रांसीसी किसानों को यह भाषा सीखने के लिए मजबूर किया गया। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि युरोप में हुए प्राक्-औपनिवेशिक भाषा-नियोजनों के ज़रिये हर जगह उन भाषाओं को ही सरकारी रुतबा मिला जो सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रतिष्ठा में अपेक्षाकृत कमज़ोर थीं। मसलन, इंग्लैण्ड में लैटिन और फ्रेंच के मुक़ाबले अंग्रेज़ी की सांस्कृतिक हैसियत कुछ नहीं थी। इसी तरह फ़िनलैण्ड में फ़िननिश भाषा प्रशासनिक कामकाज के लिहाज़ से ही नहीं, बल्कि शब्द-सामर्थ्य के मामले में बेहद दरिद्र थी। स्पेन के सदियों से स्वायत्त रहे ताक़तवर क्षेत्रीय अभिजन स्पेनी नहीं बोलते थे। कैटेलन उनकी पसंदीदा भाषा थी। लेकिन वहाँ स्पेनिश के पक्ष में भाषाई सुसंगतीकरण किया जा सका। ज़ाहिर है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्ध का भारत युरोप नहीं था। फ्रांस के राजा फ्रांस्वा प्रथम ने जिस राजकीय कठोरता से अपने किसानों को फ्रेंच सीखने पर मजबूर किया या स्पेन के राजा फ़िलिप पंचम ने जिस बेलौस ढंग से क्षेत्रीय अभिजनों के गले स्पेनिश उतारी, वह लोकतांत्रिक भारत में सम्भव नहीं था। जर्मनी में फ्रेड्रिख द्वितीय को भाषाई सुसंगतीकरण करने का श्रेय जाता है। ये तीनों राजा अपने-अपने ढंग से राष्ट्र-निर्माता थे। हमें नहीं भूलना चाहिए कि फ़िलिप और फ्रेड्रिख दोनों ही अपनी भाषा फ्रांसीसी मानते थे। लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक परिस्थितियाँ इस तरह के भाषा-नियोजन के अनुकूल साबित नहीं हो सकती थीं। लोकतंत्र, राष्ट्रवाद और अस्मिताओं की राजनीति के युग में एक भाषा को दूसरे भाषा-भाषियों के ऊपर थोपा नहीं जा सकता। इसलिए एक भिन्न तरह के भाषा-नियोजन की आवश्यकता पड़ती है।

भाषा-नियोजन का सिद्धांत बताता है कि एक बहुभाषी नज़ारे में विभिन्न भाषाएँ राज्य की मान्यता के लिए संघर्ष करती हैं और राज्य थोड़े-बहुत हीले-हवाले के बाद उन्हें यह मान्यता दे देता है। लेकिन मान्यता देने की इसी प्रक्रिया में वह अपना सुसंगतीकरण (रैशनलाइज़ेशन) करने की खातिर राष्ट्रवाद की प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करके किसी एक भाषा को 'फ़र्स्ट अमंग ईक्वलस' के दर्जे पर बैठा देता है। इस चरण को मल्टीलिंगुअलिज़म का नाम दिया गया है। इसके बाद दूसरे चरण की लम्बी प्रक्रिया शुरू होती है जिसमें क्रान्नी और सांस्कृतिक प्रौद्योगिकियों के ज़रिये उस भाषा को दूसरे भाषा-भाषी समूहों के गले उतारने का अभियान चलाया जाता है। इस चरण को लेंग्वेज रैशनलाइज़ेशन कहा जाता है। दूसरा चरण जिस समय अपने परिपक्व दौर में पहुँच रहा होता है, उसी दौरान लोकतांत्रिक राज्य एक भाषा के पक्ष में किये जा रहे लेंग्वेज रैशनलाइज़ेशन के कारण दूसरी भाषाओं को हो

रहे नुक़सान की भरपाई करने के लिए लेंग्वेज मेंटीनेंस के क्रदम उठाता है जिसके तहत पिछड़ रही भाषाओं को केंद्र में रख केराज्य द्वारा प्रोत्साहन की मुहिमें चलायी जाती हैं। भाषा-नियोजन का यह पैटर्न फ्रांस, इंग्लैण्ड, स्पेन, जर्मनी, जापान, थाइलैण्ड और चीन जैसे देशों में कामयाब होते हुए देखा जा सकता है। बहुभाषी होने के बावजूद इन देशों में राज्य की ताक़त भाषाई संस्कृतियों की बहुलता पर एक भाषा और एक लिपि आरोपित करने में सफल रही। इस काम में वहाँ के शासकों को राज्य-सुसंगतीकरण के अन्य पहलुओं (जैसे, एक मुद्रा, पूरे देश में फ़ौज में भर्ती के एक ही मानक और एक ही धर्म) पर होने वाले खर्च से भी कम संसाधन खर्च करने पड़े। इन कोशिशों का बहुत मामूली सा ही विरोध हुआ और थोड़े-बहुत हीले-हवाले के बाद विभिन्न भाषाई पहचानों और उनकी नुमाइंदगी करने वाले क्षेत्रीय अभिजन सरकारी भाषा सीखने की ज़िम्मेदारी उठाने के लिए तैयार हो गये। इन देशों ने जो भाषाई एकरूपता हासिल की, वह एक जटिल राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शक्तियों की अन्योन्यक्रिया का परिणाम थी।

भाषाशास्त्रियों ने बहुभाषिता के लिहाज़ से देशों को तीन श्रेणियों में बाँट कर देखा है। टाइप ए की श्रेणी में उन देशों को रखा गया है जिनके पास ऐसी कोई विराट भाषाई सांस्कृतिक परम्परा या अतीत नहीं है जो उन्हें आधुनिक राष्ट्र-राज्य के रूप में एकताबद्ध रख सके। ऐसे देशों की छोटी-छोटी लघु भाषाई परम्पराएँ स्थानीय स्तर पर सम्पर्क की भूमिका निभाती रहती हैं, और राष्ट्रीय भूमिका निभाने की ज़िम्मेदारी किसी पश्चिमी भाषा (जैसे, अंग्रेज़ी, फ्रेंच या स्पेनिश) को दे दी जाती है। इन देशों की हुकूमत और सांस्कृतिक संरचनाओं पर क्राबिज़ दोनों तरह के प्रभु-वर्ग, राष्ट्रीय और क्षेत्रीय, इस बंदोबस्त को न केवल स्वीकार कर लेते हैं बल्कि मोटे तौर पर उसी को श्रेयस्कर मान कर चलते हैं। टाइप बी की श्रेणी में वे देश आते हैं जिनके पास एक विराट भाषिक और सांस्कृतिक अतीत की विरासत है। इन देशों के प्रभु-वर्ग की आत्म-छवि कुछ इसी प्रकार की है। इसलिए वे अपनी आधुनिकता के विन्यास के लिए किसी पश्चिमी भाषा की उपस्थिति न केवल अनावश्यक मानते हैं, बल्कि इससे उन्हें सांस्कृतिक ठेस भी लगती है। यह प्रभु-वर्ग अपनी भाषिक विविधता के ऊपर लगभग बिना किसी विवाद के राष्ट्रीय एकता-अखण्डता के स्थाई प्रतीक के रूप में अपनी मिट्टी से ही उपजी कोई एक भाषा आरोपित करने में कामयाब रहता है। इस मामले में उसके क्षेत्रीय और राष्ट्रीय अभिजन में सम्पूर्ण एकता होती है। टाइप सी की श्रेणी में वे देश हैं जो किसी एक विराट भाषिक और सांस्कृतिक परम्परा के बजाय ऐसी कई बड़ी-बड़ी परम्पराओं और विरासतों से सम्पन्न हैं। साठ के दशक में विकसित हुए इस रवैये के तहत

इन भाषाशास्त्रियों ने ए श्रेणी में अफ्रीका के कैमरून, घाना और गाम्बिया जैसे देशों को रखा था। बी श्रेणी में फ़िलीपीन, इण्डोनेशिया, तंजानिया, इज़रायल, थाइलैण्ड, सोमालिया और इथियोपिया को जगह दी गयी थी। सी श्रेणी में भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका और मलेशिया रखे गये थे।

जोशुआ फ़िशमैन ने टाइप सी देशों के बारे में अवधारणात्मक विश्लेषण करते हुए लिखा है कि टाइप सी की श्रेणी से संबंधित निर्णय लेने वाले देशों में राष्ट्रवाद सुविकसित तो अवश्य होता है, लेकिन एक परिघटना के तौर पर उसकी प्रकृति क्षेत्रीय परम्परा से अर्थात् उपराष्ट्रीयता से जुड़ती है। चाहे धार्मिक एकता का सवाल हो, या राजनीतिक अथवा आर्थिक एकजुटता का, कई देशों के अभिजन इस हकीकत से वाकिफ़ हैं। राष्ट्र-निर्माण के लिए भाषा चुनते समय सी श्रेणी से जुड़े फ़ैसले लेते समय क्षेत्रीय स्तर पर पेचीदगी का स्तर बी श्रेणी से ज्यादा नहीं होता, क्योंकि बड़ी-बड़ी क्षेत्रीय परम्पराओं के पास अपनी भाषाएँ होती ही हैं। जटिलता तब पैदा होती है जब फ़ैसले राष्ट्रीय पैमाने को ध्यान में रख कर किये जाते हैं। कारण यह है कि राष्ट्र-भाषा के लिए किसी एक देशी भाषा को उम्मीदवार बनाते ही राष्ट्रीय मामलों के प्रबंधन में उसके मूल-भाषियों को दूसरों के मुक़ाबले नाजायज़ फ़ायदा मिलता दिखने लगता है। किसी पक्ष को ऐसा एकतरफ़ा लाभ न मिलने देने और राष्ट्र-भाषा की दावेदारियाँ करने वालों के बीच लगातार होने वाली होड़ से बचने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक संचार सुलभ कराने वाली एक विदेशी भाषा या तो क़ानूनी रूप से चुन ली जाती है या व्यावहारिक रूप से सहायक-सरकारी भाषा के तौर पर उसका इस्तेमाल शुरू कर दिया जाता है (कभी-कभी उसे देशी जड़ों वाली राष्ट्र-भाषा के साथ जोड़ दिया जाता है, जबकि असलियत में राष्ट्र-भाषा का इस्तेमाल उसके प्रकट अभिभावक बहुत कम ही करते हैं)। लेकिन सी श्रेणी के फ़ैसलों के लिए क्षेत्रीय स्तर पर होने वाला सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक-कार्यगत एकीकरण बेहद अहम और ऊर्जावान साबित होता है। परिणामस्वरूप क्षेत्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त प्रत्येक राज-भाषा अपने क्षेत्रीय शासकीय, शैक्षिक, प्रौद्योगिकीय और आधुनिक सांस्कृतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आधुनिकीकरण की ज़रूरत महसूस करती है। इसका मतलब यह नहीं है कि सी श्रेणी के देशों में राष्ट्रीय स्तर पर कोई भाषा-नियोजन नहीं होता। राष्ट्र का कामकाज चलाने वाले अधिकारियों को अक्सर व्यापक संचार सुलभ कराने वाली सहायक-सरकारी भाषा और देशी जड़ों वाली राष्ट्र-भाषा को नियोजन की प्रक्रिया से गुज़ारने की नाजुक ज़िम्मेदारी उठानी पड़ती है। दोनों ही भाषाओं का विरोध करने वाले किसी न किसी क्षेत्र में मौजूद रहते ही हैं। क्षेत्रीय स्तर पर भविष्य के आदर्श नागरिक से न्यूनतम द्विभाषी होने

की अपेक्षा तो होती ही है। राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भी देशी जड़ों वाली राष्ट्र-भाषा और व्यापक संचार सुलभ कराने वाली विदेशी भाषा बरत सकने वाली द्विभाषिता अक्सर स्वाभाविक और वांछित मानी जाती है। इस प्रकार सी श्रेणी के देशों का आदर्श नागरिक बहुभाषी के रूप में देखा जाता है जो अपने प्रयोग की भाषाओं से सुपरिभाषित क्रिस्म के अलग-अलग काम लेता है।

देखें : अर्थ-विज्ञान, डायग्लॉसिया, नोआम चोमस्की, फ़र्दिनैंद द संस्यूर, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, लक्षण-विज्ञान।

संदर्भ

1. एस. रोमेन (2009), 'लेंग्वेज पॉलिसी इन मल्टीलिंगुअल कांटेक्स्ट्स, जेकब मे (सम्पा.) *कंसाइज़ इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ प्रैगमेटिक्स*, एल्सेवियर, ऑक्सफ़र्ड.
2. जोनाथन पूल (1995), 'नैशनल डिवेलपमेंट ऐंड लेंग्वेज डायवर्सिटी', जोशुआ ए. फ़िशमैन (सम्पा.), *एडवॉर्सिज़ इन सोसियोलॉजी ऑफ़ लेंग्वेज*, मौटन, द हेग.
3. चार्ल्स ए. फ़रग्युसन, ज्योतिरिंद्र दास गुप्ता और जोशुआ फ़िशमैन (सम्पा.) (1968), *लेंग्वेज प्रॉब्लम्स ऑफ़ डिवेलपिंग नेशंस*, जॉन विली, न्यूयॉर्क.
4. जोशुआ ए. फ़िशमैन (1969), 'नैशनल लेंग्वेजिज़ ऐंड लेंग्वेजिज़ ऑफ़ वायडर कम्युनिकेशन इन डिवेलपिंग नेशंस', *एंथ्रोपॉलॉजी क्ल लिंग्विस्टिक्स*, खण्ड 11, अंक 4.

—अभय कुमार दुबे

राष्ट्र-राज्य

(Nation-State)

जैसा कि नाम से प्रकट है राष्ट्र-राज्य की अवधारणा और संरचना दो भिन्न प्रत्ययों से मिल कर बनी है। राज्य एक निश्चित सीमा वाले भू-क्षेत्र के निवासियों पर शासन करता है, क़ानून बनाता है, उनका अनुपालन करवाता है और टैक्स लगाता है। उसके पास एक अधिकारी-तंत्र होता है, मुद्रा होती है, पुलिस, फ़ौज और संचार-व्यवस्था होती है। अपने इन तमाम औजारों के दम पर उस भू-क्षेत्र में सम्प्रभुता का दावा करते हुए राज्य आक्रमण या प्रतिरक्षा के लिए युद्ध करता है, आंतरिक शांति और व्यवस्था क़ायम रखता है, लोगों को जेल में डालता है और अनगिनत तरीक़ों से लोगों के जीवन को नियंत्रित और विनियमित करता है। इसके विपरीत राष्ट्र साझा इतिहास, परम्परा, जातीयता और संस्कृति के तत्त्वों को मिला

कर कल्पित किया जाने वाला राजनीतिक समुदाय है। स्वयं को इस समुदाय का प्रतिनिधि मानने वाले लोग आत्म-निर्णय के अधिकार का दावा करते हुए एक राजनीतिक कार्यक्रम और परियोजना की रचना करते हैं ताकि उनके राष्ट्र को राज्य मिल सके।

सारी दुनिया राष्ट्र-राज्यों में बँटी हुई है, पर राष्ट्रत्व की सभी दावेदारियों को उनका राज्य प्राप्त नहीं है। मसलन, फ्रांसीसियों, डचों, मिस्त्रियों, जापानियों, चीनियों, भारतीयों आदि को उनका राज्य मिल गया है। लेकिन यही बात फ़िलिस्तीनियों, श्रीलंकाई तमिलों, तिब्बतियों, चेचेन्यावासियों और कुर्दों के लिए नहीं कही जा सकती। राष्ट्रों को बहुत लम्बी अवधि तक बिना किसी भू-क्षेत्र के रहना पड़ सकता है। इसका उदाहरण यहूदियों का राष्ट्रत्व है जो आधुनिक युग में काफ़ी समय तक (1948 से पहले तक) अपनी धरती और अपने राज्य के बिना रहे हैं। एक राष्ट्र-राज्य के भीतर अपने राज्य की कामना करने वाले राष्ट्र हो सकते हैं (जैसे, मयनमार के भीतर करेन और संयुक्त राज्य के भीतर सियोक्स)। राज्य की कामना करने वाला राष्ट्र कई राज्यों की सीमाओं में फैला हो सकता है, जैसे कुर्द जिनकी आबादी कम से कम चार राज्यों में रहती है। अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का बहुमत मानता है कि फ़िलिस्तीनियों को उनका राज्य मिलना चाहिए, फिर भी उन्हें दूसरे राज्यों के न्याय-क्षेत्रों के तहत रहना पड़ता है। लेकिन इसी तरह के दूसरे राष्ट्रों के दावे को इस तरह की मान्यता नहीं है, जैसे कोसोवो। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के समय उसके सदस्यों की संख्या 51 थी जो उपनिवेशवाद के पतन के बाद बढ़ कर 190 हो चुकी है।

राज्य बनते-बिगड़ते रहते हैं। युद्धों, आंतरिक विग्रह, एकीकरण, समझौता वार्ताओं और संधियों के जरिये उनकी सीमाओं में परिवर्तन होता है। चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, पूर्व जर्मनी, पूर्वी पाकिस्तान, उत्तरी और दक्षिणी यमन, सोवियत संघ इसी तरह की प्रक्रियाओं के शिकार हो कर खत्म हो चुके हैं। कभी-कभी पैसे के लिए अपने राज्य की सीमा का एक हिस्सा दूसरे राज्य को बेच दिया जाता है। अलास्का का रूस से अमेरिका को हस्तांतरण इसी तरह से हुआ है। चूँकि राष्ट्र एक कल्पित अस्तित्व है इसलिए राज्य के खत्म हो जाने के बावजूद कुछ या बहुत से लोगों के लिए उसकी भावना और परिणामस्वरूप उसकी ज़रूरत बनी रह सकती है।

एक प्रश्न अक्सर उठता है कि राष्ट्र की कल्पना के आधार पर राज्य बनता है, या राज्य स्थापित होने के बाद उस पर राष्ट्रत्व आरोपित होता है? राष्ट्रवाद का इतिहास बताता है कि अगर युरोप में केंद्रीकृत सत्ता से सम्पन्न सर्वसत्तावादी राज्य का उदय न हुआ होता तो राष्ट्रवाद का विचार इस तरह से न पनपता। वेस्टफ़ेलिया की संधि के परिणामस्वरूप

युरोपीय राज्य प्रणाली ने शकल-सूरत ग्रहण की। उत्तरी और पश्चिमी युरोप के क्लासिकल राष्ट्र-राज्य तत्कालीन भू-क्षेत्रीय राज्यों की सीमाओं में बने। लेकिन दूसरी पीढ़ी के राष्ट्र-राज्य (जैसे इटली, जर्मनी और मध्य व पूर्वी युरोप के देश) राष्ट्रवादी चेतना के प्रसार का नतीजा थे। राज्य पहले बनता है या राष्ट्र, इसका फ़ैसला बहुत कुछ परिस्थितियों और राष्ट्रनिर्माताओं के चरित्र व उद्गम पर भी निर्भर करता है। स्थापित राज्यों के राष्ट्रों में बदलने की प्रक्रिया बहुत कुछ राजा के दरबार में कार्यरत वकीलों, राजनयिकों और फ़ौजी अफ़सरों और उनसे मिल कर बनी नौकरशाही के हाथ में रही। जबकि राष्ट्रीय भावनाओं के फैलने के बाद अस्तित्व में आए राष्ट्र-राज्यों के पीछे लेखकों, इतिहासकारों, विद्वानों और बुद्धिजीवियों का हाथ होता रहा है जिनकी कल्पनाशीलता और कार्यक्रमगत प्रयासों से चली राजनीतिक, राजनयिक और फ़ौजी एकीकरण की प्रक्रियाओं ने नयी इकाइयों का जन्म होता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद तीसरी पीढ़ी के राष्ट्र-राज्य अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज पर उभरे, जो अफ़्रीका और एशिया में चली अ-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का परिणाम थे। इन देशों में उपनिवेशवाद विरोधी संग्राम राष्ट्रवादी भावनाओं के तहत चलाया गया जिसके प्रभाव में राष्ट्र पहले कल्पित हुआ और फिर उसके आधार पर राज्य की रचना हुई। इस समीकरण की जटिलता यह थी कि राष्ट्रीय भावनाएँ अ-उपनिवेशीकरण को प्रोत्साहित कर रही थीं, जबकि राज्य-निर्माण की प्रक्रिया औपनिवेशिक प्रभुओं द्वारा तय डिज़ाइन के मुताबिक चल रही थी। चौथी पीढ़ी के राष्ट्र-राज्य सोवियत संघ के पराभव और उसके प्रभाव वाले पूर्वी युरोप के विखण्डन के कारण बीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में उभरे।

पिछले तीस साल के विकास-क्रम ने राष्ट्र-राज्य की सम्प्रभुता को भूमण्डलीकरण के रूप में उल्लेखनीय चुनौती दी है। वाणिज्य, संचार, उत्पादन और वित्त का भूमण्डलीकरण इतनी तेज़ रफ़्तार से हुआ है कि उससे पैदा होने वाली समस्याओं का निदान राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रों के आपसी संबंधों के दायरे में पहले की तरह होना मुमकिन नहीं रह गया है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विद्वानों की मान्यता है कि अगर यही रुझान जारी रहा तो राष्ट्रीय सम्प्रभुता का क्षय और बढ़ जाएगा। नतीजतन ऐसी संस्थाएँ उभरेंगी जिनका चरित्र राष्ट्रतर होगा। इन प्रेक्षकों ने यहाँ तक कहा है कि मौजूदा समय में राष्ट्र-राज्यों की भूमिका कमोबेश म्युनिसिपैलिटी की रह गयी है जिसका काम पूँजी निवेश आकर्षित करने के लिए अधिरचनात्मक सुविधाएँ मुहैया कराने तक सीमित है।

दूसरी श्रेणी उन प्रेक्षकों और विद्वानों की है जो मानते हैं कि किसी भी राजनीतिक या सामाजिक समुदाय को

अस्मिता की जरूरत होती है। जब अन्य अस्मिताएँ कमजोर पड़ जाती हैं या अनुपयोगी साबित होने लगती हैं तो राष्ट्र-राज्य इस जरूरत को पूरा करता है। उसने पहले भी यह भूमिका निभाई है और आज भी निभा रहा है। राष्ट्र-राज्य उस परिस्थिति में कम कामयाब होता है जब उसकी आबादी बड़े-बड़े हिस्सों में विभक्त हो और वे हिस्से अपनी पहले से जारी अस्मिताओं को राष्ट्रीय अस्मिता के तहत करने के लिए तैयार न हों। मलेशिया, इंडोनेशिया और युगोस्लाविया में इस तरह के उदाहरण देखे जा चुके हैं।

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया एक दूसरे कोण से भी राष्ट्र-राज्य के सामाजिक चरित्र को प्रभावित कर रही है। उसके सांस्कृतिक प्रभाव समाज को एटोमाइजेशन (व्यप्टीकरण) की तरफ धकेल रहे हैं। पुरानी सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इकाइयाँ टूटने की तरफ हैं। यहाँ तक कि छोटा परिवार भी टूटने के जोखिम का शिकार हो चुका है। विकसित देशों में यह प्रक्रिया तेजी से चल रही है। परिणामस्वरूप राष्ट्र-राज्य के संस्थागत प्राधिकार पर सवालिया निशान लगने लगा है।

भूमण्डलीकरण का एक अन्य लक्षण है क्षेत्रीयकरण। युरोपियन यूनियन की रचना इसका प्रभावशाली उदाहरण है। राष्ट्र-राज्यों ने अपने कई तरह के आर्थिक काम-काज क्षेत्रीय संगठनों के हवाले कर दिये हैं। भूमण्डलीकरण के कारण ही ग्लोबल सिटी जैसी परिघटना का भी उदय हुआ है। न्यूयॉर्क, लंदन और टोक्यो पहले दर्जे के ग्लोबल सिटी हैं। दूसरे दर्जे के ग्लोबल शहरों में लास एंजेलिस, फ्रैंकफर्ट, ज्यूरिख, पेरिस, सिडनी और सिंगापुर की गिनती है। ऐसे कई पहलू हैं जिनके कारण इन शहरों के अपने-अपने राष्ट्र-राज्यों से रिश्ते अब पहले जैसे नहीं रह गये हैं। मौद्रिक नीति, ब्याज दरों, वाणिज्यिक संधियों और आत्रजन जैसे मामलों में इन शहरों की नीतियाँ उनके राष्ट्र-राज्य से भिन्न हो सकती हैं।

देखें : अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, पार्थ चटर्जी, फ्रासीवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, राज्य-1 और 2, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद और नारीवाद, विनायक दामोदर सावरकर, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. ए.डी. स्मिथ (1991), *थियरीज ऑफ नैशनलिज्म*, डकवर्थ, लंदन.
2. पी. स्पेंसर और एच. वूलमैन (2002), *नैशनलिज्म : अ क्रिटिकल इंट्रोडक्शन*, सेज, लंदन.
3. जे. बारकिन और बी. क्रोनिन (1994), 'द स्टेट ऐंड द नेशन : चेंजिंग नॉर्म्स ऐंड द रूल्स ऑफ सोवरिनिटी इन इंटरनैशनल रिलेशंस', *इंटरनैशनल ऑर्गेनाइजेशन*, अंक 48.
4. एम. क्रेवेलड (1999), *द राइज ऐंड द डिक्लाइन ऑफ द स्टेट*,

केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

5. आर. जैक्सन और ए. जेम्स (सम्पा.) (1993), *स्टेट इन अ चेंजिंग वर्ल्ड*, क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफर्ड.

— अभय कुमार दुबे

राष्ट्र : सांस्कृतिक / राजनीतिक

(Nation : Cultural/Political)

राष्ट्रवाद के सैद्धांतिक संदर्भ में यह बहस लम्बे अरसे से चल रही है कि राष्ट्र मुख्यतः सांस्कृतिक होता है या राजनीतिक। अगर राष्ट्र के राजनीतिक स्वरूप पर उसका सांस्कृतिक आधार हावी है, तो क्या इसे सकारात्मक समीकरण समझा जाना चाहिए या नकारात्मक? या अगर किसी राष्ट्र की संरचना में प्राथमिकता राजनीतिक स्वरूप को मिली हुई है तो उसका मूल्य-निर्धारण किस प्रकार किया जाएगा? इसी प्रश्न को एक दूसरे नजरिये से इस तरह भी पूछा जा सकता है कि राजनीतिक और सांस्कृतिक राष्ट्रवादों में से कौन सा रूप अधिक समावेशनकारी है और कौन सा बहिर्वेशनकारी?

आम तौर पर समझा जाता है कि समान भाषा, साझी परम्परा, समरूप प्रजातीय आधार, जातीयता और ऐतिहासिक चेतना से किसी राष्ट्र का सांस्कृतिक आधार बनता है। साझी भाषा और संस्कृति का यह आधार दो तरह की राष्ट्रवादी परियोजनाओं को जन्म देता है। पहली, किसी बड़ी और प्रधान राष्ट्रीयता के तहत खुद को उत्पीड़ित मानने वाली छोटी राष्ट्रीयताओं की सांस्कृतिक दावेदारी जिसकी अभिव्यक्ति लोकतांत्रिक तरीके से भी हो सकती है और हथियारबंद तरीकों से भी। दूसरी, प्रधान राष्ट्रीयता द्वारा राजनीतिक अधिकारों के बदले छोटी राष्ट्रीयताओं को अपनी संस्कृति के साथ समरस करने की कोशिशें जिनका नतीजा खुली बहुसंख्यकवादी राजनीति में भी निकलता है (जैसे, भारत में प्रचलित हिंदुत्ववादी राष्ट्रवाद जिसकी अभिव्यक्ति लोकतांत्रिक तौर-तरीकों से होती है और श्रीलंका में सिंहली राष्ट्रवाद जिसकी अभिव्यक्ति फ़ौजी दमन में होती है)।

स्विट्ज़रलैंड कई भाषाओं और इंडोनेशिया कई धर्मों का राष्ट्र है। भारत में कई धर्म और कई भाषाएँ हैं। अमेरिकी राष्ट्र कई तरह की ऐतिहासिक परम्पराओं और जातीय पृष्ठभूमियों से मिल कर बना है। सारी दुनिया में फैली हुई सफल राष्ट्रों की बहुसांस्कृतिकता साबित करने वाली ये मिसालें समरूप सांस्कृतिक आधार को ही राष्ट्रवाद की एकमेव परिभाषा नहीं बनने देतीं। इसके बरक्स अगर राष्ट्रवाद

में निहित समान राजनीतिक पहलुओं पर गौर किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि उनके बिना राष्ट्रवाद एक सिद्धांत और व्यवहार के तौर पर सम्भव ही नहीं है। स्वतंत्र और सम्प्रभु राज्यत्व की माँग करने वाला राजनीतिक कार्यक्रम और परियोजना उसका अनिवार्य आयाम है।

जैसे ही कोई राष्ट्रीयता स्वतंत्र राज्यत्व की माँग छोड़ती है, वैसे ही वह किसी अन्य राष्ट्रत्व के अधीन महज स्वायत्तता प्राप्त करके संतुष्ट होने के लिए मजबूर हो जाती है। पृथक् सम्प्रभु राज्य के कई संघर्ष बरसों तक हिंसक कार्रवाई का सहारा लेने के बाद भी सफलता की कोई उम्मीद न होने के कारण एक क्रमदम पीछे हटा कर स्वायत्तता की माँग पर समझौता कर लेते हैं। स्वायत्तता का पैकेज कई तरह के राजनीतिक अधिकारों से मिल कर बनता है। पर ऐसी राष्ट्रीयताएँ सत्ता पर क्राबिज प्रधान राष्ट्रीयता द्वारा अपनायी जाने वाली सांस्कृतिक आत्मसातीकरण की प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न नीतियों से हमेशा चौकन्नी रहती हैं। राष्ट्रवाद के राजनीतिक आयाम छोड़ने के कारण उन्हें अपनी भाषा और संस्कृति के पृथक् अस्तित्व और विकास की रक्षा के लिए लगातार जद्दोजहद चलानी पड़ती है।

कुछ उदाहरणों पर गौर करने से राष्ट्र के सांस्कृतिक और राजनीतिक आयामों की इस पेचीदगी का मुजाहिदा हो सकता है। मसलन, ऐसी राष्ट्रीयताएँ भी हैं जिनका एक हिस्सा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से आगे नहीं बढ़ना चाहता, पर उन्हीं का दूसरा हिस्सा सीधे-सीधे स्वतंत्र और सम्प्रभु राज्य पाने के लिए प्रयासरत रहता है। फ्रांस में बेस्क राष्ट्रवादी अपना आंदोलन केवल अपनी भाषा और संस्कृति की हिफाजत तक सीमित रखते हैं, पर स्पेन के बेस्क राष्ट्रवादी पृथक् राष्ट्र के लिए संघर्ष तक जाने के लिए तैयार हैं। भारत में सिक्ख राष्ट्रीयता का बड़ा हिस्सा एक तरफ़ आनंदपुर साहब प्रस्ताव में दर्ज माँगों के आधार पर क्षेत्रीय अधिकारों और स्वायत्तता की राजनीति संसदीय और लोकतांत्रिक ढंग से करता है (उसकी भाषा और संस्कृति संबंधी राजनीति इसी का एक हिस्सा है), और दूसरी तरफ़ उसका एक छोटा सा उग्रवादी हिस्सा खालिस्तान के नाम से पृथक् राष्ट्र की माँग के लिए आतंकवादी हिंसा का रास्ता अपनाता है। वेल्स राष्ट्रवाद मुख्यतः भाषा और संस्कृति की रक्षा में दिलचस्पी रखता है। ब्रिटनी के ब्रेटन लोगों का राष्ट्रवाद फ्रांस से अलग होने के बजाय सिर्फ़ सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में ही अभिव्यक्त होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में अफ्रीकी-अमेरिकी और अफ्रीकी-कैरेबियायी मूल के नागरिकों के बीच काफ़ी विकसित सांस्कृतिक समरसता है। पर वे अमेरिकी राष्ट्र के दायरे में रहते हुए ही अपनी विशिष्टता व्यक्त करना चाहते हैं। उनकी हैसियत जातीय अल्पसंख्यक की है।

दरअसल दुनिया के कई बड़े और सफल राष्ट्र अपनी अस्मिता की संरचना में मुख्य तौर से राजनीतिक हैं। यूनाइटेड किंगडम, फ्रांस, संयुक्त राज्य और भारत को इस राजनीतिक राष्ट्रवाद का क्लासिक उदाहरण माना जा सकता है। ब्रिटिश राष्ट्र चार राष्ट्रीयताओं के सांस्कृतिक मिलन पर स्थापित है। ये हैं इंग्लिश, वेल्स, स्कॉट और नार्दन आइरिश। अगर इस राष्ट्रवाद का राजनीतिक रूप प्रमुख न होता तो इतनी प्रबल और ऐतिहासिक रूप से विशिष्ट ये राष्ट्रीयताएँ लगातार एक साथ नहीं रह सकती थीं। अमेरिका खुद को एक ऐसी सांस्कृतिक कुठाली (मेल्टिंग पॉट) की तरह पेश करता है जो संविधान आधारित उदारतावादी-लोकतांत्रिक मूल्यों की राजनीति में पगे हुए व्यापक राष्ट्रत्व के बंधनों में बँधा हुआ है। फ्रांस का राष्ट्रत्व तो अपने सूत्र 1789 की क्रांति से जोड़ कर उसे स्पष्ट रूप से आज्ञादी, बराबरी और भाईचारे के आधारभूत उसूलों पर आधारित कर देता है। भारतीय राष्ट्रवाद की पश्चिमी प्रेक्षकों द्वारा अक्सर सांस्कृतिक कह कर आलोचना की जाती है, पर उसके राजनीतिक पहलुओं की प्रधानता की अनदेखी नहीं की जा सकती। भारतीय राष्ट्रवाद के संविधानसम्मत राजनीतिक रूप के कारण ही उसकी बहुसांस्कृतिकता, बहुजातीयता और बहुभाषिकता ने धीरे-धीरे पृथकतावाद के कई झटकों के बाद एक अनूठी भारतीय राष्ट्रीयता के तहत सह-अस्तित्व का जीवन गुज़ारना सीख लिया है।

विकासशील देशों के राष्ट्रवाद पर राजनीतिक पहलू शुरू से ही हावी हैं। ऐसे अधिकतर देशों औपनिवेशिक गुलामी के खिलाफ़ संघर्ष करके राष्ट्रत्व और फिर राज्यत्व उपलब्ध किया है। इसलिए उनकी राष्ट्रीय अस्मिता की बुनियाद में एकजुटता कायम रखने की तीव्र अनुभूति है। इस राष्ट्रवाद के उपनिवेशवादी विरोधी चरित्र ने अब विशिष्ट उत्तर-औपनिवेशिक रूप ग्रहण कर लिया है जिसे राष्ट्रवाद की एक अलग क्रिस्म के तौर पर भी पढ़ा जा सकता है।

तो क्या इन उदाहरणों के आधार पर मान लिया जाना चाहिए कि राजनीतिक राष्ट्रवाद ही श्रेयस्कर है? इस प्रश्न का उत्तर निर्विवाद क्रिस्म की हाँ में नहीं दिया जा सकता। सोवियत संघ, युगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया का कई राष्ट्रों में विघटन राजनीतिक राष्ट्रवाद के एक खास तरह के मॉडल की नाकामी का प्रतीक है। ब्रिटिश राष्ट्रवाद की अपील पिछले दिनों कमजोर हुई है। वेल्स व स्कॉटिश राष्ट्रीय भावनाएँ मजबूत हुई हैं। अफ्रीकी देशों ने अपने औपनिवेशिक प्रभुओं से जिस क्रिस्म की राष्ट्रीय सीमाएँ प्राप्त की हैं, उनके कारण वहाँ जातीय और क़बीलाई संघर्ष एकता की संरचनाओं को लगातार संकटग्रस्त बनाये रखते हैं।

देखें : अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, पार्थ चटर्जी,

फ्रासीवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, राज्य-1 और 2, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्रवाद और नारीवाद, विनायक दामोदर सावरकर, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. डी. ब्राउन (2000), *कंटेम्पेरी नैशनलिज्म : सिविक, एथनोक्लचरल एंड मल्टीक्ल्चरल पॉलिटिक्स*, रॉटलेज, लंदन.
2. एम. कैनोवन (1996), *नेशनहुड एंड पॉलिटिकल थियरी*, एलगर, शेल्टनहैम.
3. ए.डी. स्मिथ (1991), *थियरी ऑफ नैशनलिज्म*, डकवर्थ, लंदन, 1991
4. अर्नेस्ट गेलनर (1983), *नेशंस एंड नैशनलिज्म*, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफर्ड.

— अभय कुमार दुबे

राष्ट्रवाद

(Nationalism)

राष्ट्रवाद लोगों के किसी समूह की उस आस्था का नाम है जिसके तहत वे खुद को साझा इतिहास, परम्परा, भाषा, जातीयता और संस्कृति के आधार पर एकजुट मानते हैं। इन्हीं बंधनों के कारण वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्हें आत्म-निर्णय के आधार पर अपने सम्प्रभु राजनीतिक समुदाय अर्थात् 'राष्ट्र' की स्थापना करने का आधार है। राष्ट्रवाद के आधार पर बना राष्ट्र उस समय तक कल्पनाओं में ही रहता है जब तक उसे एक राष्ट्र-राज्य का रूप नहीं दे दिया जाता। हालाँकि दुनिया में ऐसा कोई राष्ट्र नहीं है जो इन कसौटियों पर पूरी तरह से फिट बैठता हो, इसके बावजूद अगर विश्व की एटलस उठा कर देखी जाए तो धरती की एक-एक इंच ज़मीन राष्ट्रों की सीमाओं के बीच बँटी हुई मिलेगी। राष्ट्रवाद का उदय अट्टारहवीं और उन्नीसवीं सदी के युरोप में हुआ था, लेकिन अपने सिर्फ दो-ढाई सौ साल पुराने ज्ञात इतिहास के बाद भी यह विचार बेहद शक्तिशाली और टिकाऊ साबित हुआ है। राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर रहने वाले लोगों को अपने-अपने राष्ट्र का अस्तित्व स्वाभाविक, प्राचीन, चिरंतन और स्थिर लगता है। इस विचार की ताकत का अंदाज़ा इस हकीकत से भी लगाया जा सकता है कि इसके आधार पर बने राष्ट्रीय समुदाय वर्गीय, जातिगत और धार्मिक विभाजनों को भी लाँघ जाते हैं। राष्ट्रवाद के आधार पर बने कार्यक्रम और राजनीतिक परियोजना के हिसाब से जब किसी राष्ट्र-राज्य की स्थापना हो जाती है तो उसकी सीमाओं में रहने

वालों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी विभिन्न अस्मिताओं के ऊपर राष्ट्र के प्रति निष्ठा को ही अहमियत देंगे। वे राष्ट्र के कानून का पालन करेंगे और उसकी आंतरिक और बाह्य सुरक्षा के लिए अपने प्राणों का बलिदान भी दे देंगे। यहाँ यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि आपस में कई समानताएँ होने के बावजूद राष्ट्रवाद और देशभक्ति में अंतर है। राष्ट्रवाद अनिवार्य तौर पर किसी न किसी कार्यक्रम और परियोजना का वाहक होता है, जबकि देशभक्ति की भावना ऐसी किसी शर्त की मोहताज नहीं है।

राष्ट्रवाद के आलोचकों की कमी नहीं है और न ही उसे खारिज करने वालों के तर्क कम प्रभावशाली हैं। एक महाख्यान के तौर पर राष्ट्रवाद छोटी पहचानों को दबा कर पृष्ठभूमि में धकेल देता है। अंग्रेजों के खिलाफ चले राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान रवींद्रनाथ ठाकुर जैसी हस्तियाँ इस विचार को संदेह की निगाह से देखती थीं। पर दिलचस्पी का विषय तो यह है कि राष्ट्रवाद के ज्यादातर आलोचक राष्ट्र की सीमा में रहने के लिए ही विवश नहीं हैं, पर उनमें से कई हस्तियाँ किसी न किसी राष्ट्र की स्थापना में योगदान करते हुए नज़र आती हैं। राष्ट्रवाद विभिन्न विचारधाराओं को भी अपने आगोश में समेट लेता है। भारत के उदाहरण पर गौर करने से साफ़ हो जाता है कि किस प्रकार आधुनिकतावादी जवाहरलाल नेहरू, मार्क्सवादी कृष्ण मेनन, उद्योगवादविरोधी महात्मा गाँधी और इसी तरह कई तरह की विचारधाराओं के पैरोकारों ने मिल कर भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण किया है।

राष्ट्रवाद के प्रश्न के साथ कई सैद्धांतिक उलझनें जुड़ी हुई हैं। मसलन, राष्ट्रवाद और आधुनिक संस्कृति व पूँजीवाद का आपसी संबंध क्या है? पश्चिमी और पूर्वी राष्ट्रवाद के बीच क्या फ़र्क है? एक राजनीतिक परिघटना के तौर पर राष्ट्रवाद प्रगतिशील है या प्रतिगामी? हालाँकि धर्म को राष्ट्र के बुनियादी आधार के तौर पर मान्यता प्राप्त नहीं है, फिर भी भाषा के साथ-साथ धर्म के आधार पर भी राष्ट्रों की रचना होती है। सवाल यह है कि ये कारक राष्ट्रों को एकजुट रखने में नाकाम क्यों हो जाते हैं? सांस्कृतिक और राजनीतिक राष्ट्रवाद को अलग-अलग कैसे समझा जा सकता है? इन सवालों का जवाब देना आसान नहीं है, क्योंकि राजनीति विज्ञान में एक सिद्धांत के तौर पर राष्ट्रवाद का सुव्यवस्थित और गहन अध्ययन मौजूद नहीं है। विभिन्न राष्ट्रवादों का परिस्थितजन्य चरित्र भी इन जटिलताओं को बढ़ाता है। यह कहा जा सकता है कि ऊपर वर्णित समझ के अलावा राष्ट्रवाद की कोई एक ऐसी सार्वभौम थियरी उपलब्ध नहीं है जिसे सभी पक्षों द्वारा मान्यता दी जाती हो।

मार्क्सवाद भी राष्ट्रवाद से संबंधित सिद्धांत मुहैया कराने में नाकाम रहा है। दुनिया भर के मज़दूरों को एक होने का नारा देने वाले मार्क्स और एंगेल्स मानते थे कि मज़दूरों

का कोई देश नहीं होता। अपने लेखन में उन्होंने वर्ग-विभाजन के परे जा कर राजनीतिक-सामाजिक और सांस्कृतिक एकता करने वाली किसी परिघटना को तरजीह नहीं दी। अपने युग के कुछ राष्ट्रीय संघर्षों के बारे में तो उनकी तिरस्कारपूर्ण धारणा यह थी कि वे नष्ट हो जाने के लिए अभिशप्त हैं। राष्ट्रवाद का कोई मुकम्मल सिद्धांत देने के बजाय उनकी रचनाएँ अपने युग की व्यावहारिक राजनीति के तहत राष्ट्रीय प्रश्न पर विचार करती हैं। दूसरे और तीसरे इंटरनैशनल में राष्ट्रवाद पर काफ़ी बहस हुई। लेनिन ने एक विशाल बहुजातीय साम्राज्य में क्रांति करने की समस्याओं से जूझते हुए राजनीतिक लोकतंत्र की आवश्यकता को अपने राष्ट्रवाद संबंधी विश्लेषण के केंद्र में रखा। उनका निष्कर्ष था कि राष्ट्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार मिलना चाहिए। इसके बाद स्तालिन की विख्यात रचना *मार्क्सिज्म ऐंड नैशनल क्वेश्चन* सामने आयी जिसमें उन्होंने राष्ट्रवाद की थियरी देने की कोशिश की। स्तालिन ने राष्ट्र के पाँच मुख्य तत्त्व बताये : एक स्थिर और नैरंतर्य से युक्त समुदाय, एक अलग भू-क्षेत्र, समान भाषा, आर्थिक सुसंगति और सामूहिक चरित्र। चूँकि स्तालिन राष्ट्रों के उभार को उद्योगीकरण की ज़रूरतों से जोड़ कर देख रहे थे इसलिए उनका सिद्धांत राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उससे उभरने वाले बहुत से प्रश्नों की उपेक्षा कर देता था। कुल मिला कर मार्क्सवादी मानते रहे कि राष्ट्रवाद पूँजीवाद के विकास में उसका सहयोगी बन कर उभरा है। इस लिहाज़ से उसे एक बूज्वा विचारधारा की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। राष्ट्रवाद प्रभुत्वशाली वर्गों को एकजुट करके राजनीतिक समुदाय की एक भ्रांत अनुभूति पैदा करता है ताकि पूँजीपतियों द्वारा किये जाने वाले अहर्निश शोषण और दरिद्रीकरण के बावजूद आम लोग धनी वर्ग के साथ एकता का एहसास करते रहें। मार्क्सवादी विमर्श का एक विरोधाभास यह है कि राष्ट्रवाद को पूँजीवादी वर्ग की विचारधारा मानने के बाद भी क्रांतिकारी राजनीति के धरातल पर कई कम्युनिस्ट पार्टियों ने राष्ट्रवाद को अपनी गोलबंदी का आधार बनाया है। क्रांति के पश्चात् समाजवादी समाज की रचना के लिए भी राष्ट्रवादी भावनाओं का इस्तेमाल किया गया है।

सत्तर के दशक में होरेस बी. डेविस ने मार्क्सवादी तर्कों का सार-संकलन करते हुए राष्ट्रवाद के एक रूप को ज्ञानोदय से जोड़ कर बुद्धिसंगत क्रार दिया, और दूसरे रूप को संस्कृति और परम्परा से जोड़ कर भावनात्मक बताया। लेकिन, डेविस ने भी राष्ट्रवाद को एक औज़ार से ज़्यादा अहमियत नहीं दी और कहा कि हथौड़े से हत्या भी की जा सकती है और निर्माण भी। राष्ट्रवाद के ज़रिये जब उत्पीड़ित समुदाय अपनी आजादी के लिए संघर्ष करते हैं तो वह एक सकारात्मक नैतिक शक्ति बन जाता है, और जब राष्ट्र के नाम पर आक्रमण

की कार्रवाई की जाती है तो उसका नैतिक बचाव नहीं किया जा सकता। राष्ट्रवाद की सभी मार्क्सवादी व्याख्याओं में सर्वाधिक चमकदार थियरी बेनेडिक्ट ऐंडरसन द्वारा प्रतिपादित 'कल्पित समुदाय' (इमैजिन्ड कम्युनिटीज़) की मानी जाती है। ऐंडरसन का मुख्य सरोकार यह है कि एक-दूसरे से कभी न मिलने वाले और एक-दूसरे से पूरी तरह अपरिचित लोग राष्ट्रीय एकता में किस तरह बँधे रहते हैं।

दरअसल, राष्ट्रवाद से संबंधित सभी व्याख्याएँ थोड़ी दूर चलने के बाद पेचीदा हो जाती हैं। इनमें एक प्रमुख व्याख्या यह है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया राष्ट्रवाद के ज़रिये खुद को ज़मीन पर उतारती है। इस तरह राष्ट्रवाद 'आधुनिकीकरण के धर्म' के तौर पर उभरता है। आधुनिकता के कारण सामाजिक जीवन में आयी ज़बरदस्त आर्थिक और राजनीतिक उथल-पुथल के बीच राष्ट्रवाद के ज़रिये ही व्यक्ति एक अस्मिता और संसक्ति के सूत्र हासिल कर पाया। दूसरी तरफ़ यह भी एक हक़ीक़त है कि राष्ट्रवाद कई बार आधुनिकीकरण को रोकने या सीमित करने वाली ताक़त भी साबित हुआ है। राष्ट्रवादी दलीलों के आधार पर ही ऐसे कई व्यापार समझौतों का विरोध किया जाता है जिनसे राष्ट्रीय उद्योगीकरण और आर्थिक समृद्धि की प्रक्रिया को गति मिल सकती है। राष्ट्रवाद के धार्मिक संस्करण (जैसे, ईरान का इस्लामिक राष्ट्रवाद या भारतीय राजनीति के धार्मिक पहलू) सेकुलरीकरण की प्रक्रिया को अगर पूरी तरह ठप नहीं कर पाते तो धीमा अवश्य कर देते हैं। दूसरे, तीसरी दुनिया के अधिकतर देशों में राष्ट्रवाद करीब आधी सदी बीत जाने के बाद भी उद्योगीकरण और खेतिहर अर्थव्यवस्था की जद्दोजहद में फँसा हुआ है।

पश्चिमी और पूर्वी राष्ट्रवादों की तुलना करने के दौरान कुछ विद्वानों ने पूर्वी राष्ट्रवाद को पश्चिमी राष्ट्रवाद के स्वस्थ मूल्यों की कमी का शिकार बताया है। कुछ विद्वान पश्चिमी राष्ट्रवाद को राजनीतिक और पूर्वी राष्ट्रवाद को सांस्कृतिक की श्रेणी में रखते हैं। इन धारणाओं के विपरीत कुछ अन्य विद्वान उल्टी मान्यता पेश करते करते हैं : युरोपियन राष्ट्रवाद एक देशज ऐतिहासिक प्रक्रिया से निकलने के कारण कहीं अधिक सांस्कृतिक है, जबकि पूर्वी राष्ट्रवाद उपनिवेशवाद विरोधी राजनीतिक आंदोलनों के हाथों गढ़े जाने के कारण मूलतः राजनीतिक है। दूसरे, अगर तीसरी दुनिया के देशों के राष्ट्रवाद पर प्रजातीय, जातीय और सांस्कृतिक पहलू हावी हैं तो उनके पीछे उपनिवेशवाद की भूमिका है जिसकी ज़िम्मेदारी पश्चिम पर ही डाली जानी चाहिए। उपनिवेशवादियों ने मनमाने ढंग से स्थानीय जातीयताओं की उपेक्षा की जिसके कारण अफ़्रीका में कई क़बीलाई और जातीय समुदाय दो परस्पर संघर्षरत राष्ट्रों में विभाजित हो गये हैं। तीसरे, भारत समेत ऐसे कई समाज हैं जो पारम्परिक

रूप से सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषाई विविधता से सम्पन्न हैं। ऐसे समाजों में राष्ट्रवाद का अनुभव पश्चिमी अनुभव से भिन्न होना लाजमी है। ऐसी परिस्थितियों में कभी तो राष्ट्रवाद बहुलताओं के बीच परस्पर संसक्ति के सूत्र का काम करता है, और कभी उपराष्ट्रीयताओं के बीच हिंसक संघर्ष और प्रतियोगिता में फँस जाता है।

पश्चिमी राष्ट्रवाद के प्रशंसक पूर्वी राष्ट्रवाद के कई कुछ पहलुओं को तर्कबुद्धि से परे बता कर उसके महत्त्व को खारिज करते हैं। लेकिन कुछ विद्वानों ने ध्यान दिलाया है कि इस तरह के तत्त्व पश्चिमी राष्ट्रवाद में भी निर्णायक रूप से मौजूद हैं। मसलन, अगर भारतीय राष्ट्रवादी किसी ज़माने में काली देवी की आराधना करके प्रेरणा प्राप्त करते थे, तो युरोप के रोमानी राष्ट्रवादी भी इसी प्रकार के सामूहिकतावादी, हिंसक और आध्यात्मिक आयामों से प्रेरित होते रहे हैं। पश्चिम के राष्ट्रवाद को उदार, समझदार और सार्वदेशिक साबित करना एक व्याख्यात्मक आदर्श की उपलब्धि तो करा सकता है, पर व्यावहारिक रूप से ऐसा नहीं है। पश्चिमी राष्ट्रवाद हो या पूर्वी राष्ट्रवाद, दोनों ही परिस्थितियों में सांस्कृतिक और राजनीतिक राष्ट्रवाद एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते हुए एक-दूसरे को पुष्ट करते चलते हैं।

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने राष्ट्रवाद को ज़बरदस्त चुनौती दी है। बीसवीं सदी के आखिरी दो दशकों और इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के बाद कहा जा सकता है कि कम से कम दुनिया का प्रभु वर्ग एक सी भाषा बोलता है, एक सी यात्राएँ करता है, एक सा खाना खाता है। उसके लिए राष्ट्रीय सीमाओं के कोई ख़ास मायने नहीं रह गये हैं। इसके अलावा आर्थिक भूमण्डलीकरण, बड़े पैमाने पर होने वाली लोगों की आवाजाही, इंटरनेट और मोबाइल फ़ोन जैसी प्रौद्योगिकीय प्रगति ने दुनिया में फ़ासलों को बहुत कम कर दिया है। ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है जो अपने देश और सांस्कृतिक माहौल से दूर काम और जीवन की सार्थकता की तलाश में जाना चाहते हैं। युरोप की धरती ने राष्ट्रवाद को जन्म दिया था, और वहीं अब युरोपीय संघ का उदय राष्ट्रवाद का महत्त्व कम कर रहा है। इस नयी परिस्थिति में कुछ विद्वान कहने लगे हैं कि जिन ताकतों ने कभी राष्ट्रवाद को मज़बूत किया था, वे ही उसके पतन का कारण बनने वाली हैं। राष्ट्रीय संरचनाओं के बजाय राष्ट्रों से परे जाने वाले आर्थिक और राजनीतिक गठजोड़ आने वाली सदियों पर हावी रहेंगे।

इन दावों में सच्चाई तो है, लेकिन केवल आंशिक क्रिस्म की। एक राजनीतिक ताकत के रूप में राष्ट्रवाद आज भी निर्णायक बना हुआ है। पूर्व में चल रहे सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी आंदोलन, दुनिया भर में हो रही नस्ल और आब्रजन संबंधी बहस और पश्चिम का बीपीओ (बिजनेस

प्रोसेस आउटसोर्सिंग) संबंधी विवाद इसका प्रमाण है। आज भी फ़िलिस्तीनियों द्वारा राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का आंदोलन जारी है। ईस्ट तिमूर इण्डोनेशिया से हाल ही में आज़ाद हो कर अलग राष्ट्र बना है।

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने राष्ट्रवाद के बोलबाले को कुछ संदिग्ध अवश्य कर दिया है, पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि उदारतावादी और लोकतांत्रिक राज्य से गठजोड़ करके ग़रीबी और पिछड़ेपन के शिकार समाजों को आगे ले जाने में राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। सभी उत्तर-औपनिवेशिक समाजों ने अपने वैकासिक लक्ष्यों को वेधने के लिए राष्ट्रवाद का सहारा लिया है। ख़ास तौर से भारत जैसे बहुलतामूलक समाजों को एक राजनीतिक समुदाय में विकसित करने में राष्ट्रवाद एक प्रमुख कारक रहा है।

देखें : अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, पार्थ चटर्जी, फ़ासीवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बेनेडिक्ट ऐंडरसन, राज्य-1 और 2, राष्ट्रवाद का इतिहास, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद और नारीवाद, विनायक दामोदर सावरकर, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. ई.जे. हॉब्सबॉम (1089), *नेशंस ऐंड नैशनलिज़म सिंस 1789*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. एस. सेठ (1995), *माक्सिस्ट थियरी ऐंड नैशनलिस्ट पॉलिटिक्स*, सेज, नयी दिल्ली.
3. ए. स्मिथ (1994), *नैशनलिज़म : अ रीडर*, खण्ड 1, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. सुनलिनी कुमार (2008), 'नैशनलिज़म', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

राष्ट्रवाद और नारीवाद

(Nationalism and Feminism)

एक विचार के तौर पर राष्ट्रवाद और नारीवाद अपने विकास के लिए एक-दूसरे पर निर्भर हैं। यूरोप की ज़मीन पर दोनों का इतिहास अलग-अलग परवान चढ़ने को है। यूरोप में स्त्री के अधिकारों की दावेदारी जब शुरू हुई, उस समय तक राष्ट्रवाद के क्रम वहाँ पूरी तरह से जम चुके थे। विरोधाभास यह था कि उसकी जीत में औरतों की हिस्सेदारी थी, पर उसके बदले औरत को उसका हिस्सा देने के लिए वह क्रतई तैयार नहीं था। अंततः यूरोपीय राष्ट्रवाद एक पौरुषपूर्ण प्रोजेक्ट के रूप में कल्पित किया गया था जिसके तहत पराक्रमी मर्द को 'स्त्री की तरह अरक्षित राष्ट्र' की हिफाजत करने के लिए अपना सब कुछ होम कर देना था। नारीवादी चिंतकों ने इस ओर भी ध्यान दिलाया है कि राष्ट्र को एक 'स्वाभाविक' निर्मित के रूप में स्थापित करने के लिए परिवार के रूपक का इस्तेमाल किया गया है। एक बार जब राष्ट्र परिवार की तरह ही स्वाभाविक मान लिया जाता है, तो फिर वह बदले में स्त्रियों और बच्चों की अधीनस्थता की बुनियाद पर टिकी परिवार की संस्था के निरंतर वैधीकरण का शक्तिशाली स्रोत बन जाता है। इन्हीं दो मुख्य कारणों से नारीवाद का राष्ट्रवाद के साथ छतीस का आँकड़ा बन गया। पश्चिमी राष्ट्रवाद का परवर्ती विकास जिन परिस्थितियों में हुआ, उसने भी नारीवाद और राष्ट्रवाद के इस रिश्ते को तलखी प्रदान की। चूँकि नारीवाद के बुनियादी संघर्षों में एक प्रमुख संघर्ष परिवार की संरचना में मूलभूत संशोधन के लिए भी चलाया जाता है, इसलिए उसे राष्ट्रवाद की न केवल आलोचना करनी पड़ी, बल्कि वर्तमान और भविष्य का निर्माण करने वाले औज़ार के रूप में उसे खारिज करने की हद तक जाना पड़ा।

लेकिन भारतीय ज़मीन पर राष्ट्रवाद और नारीवाद के ताल्लुकात यूरोप जैसे नहीं हैं। सरोजिनी नायडू ने 1928 में लंदन में एक इंटरव्यू देते हुए भारतीय स्त्रियों के आंदोलन को 'नारीवादी' मानने से इनकार कर दिया था। इसके बाद 1930 में आल इण्डिया वुमंस कांफ्रेंस की सालाना बैठक की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने फिर यही दावा दोहराया। लेकिन आंदोलन में सक्रिय महिलाएँ 'फ़ेमिनिस्ट' लकब का इस्तेमाल करती रहीं। इसमें कोई शक नहीं कि इन नारीवादियों की निगाह में यूरोपीय राष्ट्रवाद की तरह भारतीय राष्ट्रवाद भी एक पौरुषपूर्ण प्रोजेक्ट था। राष्ट्रवाद के इस संस्करण पर किये गये समाज-वैज्ञानिक चिंतन ने दिखाया है कि किस प्रकार इसकी मुख्य प्रवृत्ति स्त्री के प्रश्न को सार्वजनिक धरातल पर हल करने के बजाय परिवार के दायरे

में रखने की रही है। उन्नीसवीं सदी में समाज सुधार की राजनीति से लेकर बीसवीं सदी में उपनिवेशवाद से सीधी टक्कर लेने की राजनीति तक राष्ट्रवादी परियोजना पूरी कोशिश करती है कि पुरानी की जगह आधुनिक प्रतीत होने वाली एक नयी पितृसत्ता खड़ी की जाए। लेकिन इस सीमा के बावजूद ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भिन्न होने के कारण भारतीय ज़मीन पर नारीवाद और राष्ट्रवाद के बीच यूरोप से अलग क्रिस्म की अन्योन्यक्रिया दिखाई पड़ती है।

एक ही समय में साथ-साथ पनपने वाले इन दोनों विचारों के बीच भारतीय संदर्भ में एकता और संघर्ष के रिश्ते बने। उपनिवेशवाद विरोधी गोलबंदी के शिखर पर होने के नाते राष्ट्रवाद तेज़ी से अपना वर्चस्व स्थापित करता चला गया। नारीवाद उसकी मदद लेता हुआ धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए समाज के भीतर अपनी गुंजाइशें तलाशता रहा। उसका प्रसार और गहराई आधुनिकीकरण की उस प्रक्रिया पर निर्भर था जो मुख्यतः राजनीतीकरण की अगुआयी में चलनी शुरू हुई थी। ऐसी बात नहीं कि उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद के वर्चस्व को चुनौती देने वाली ताकतें मौजूद न रही हों। मद्रास प्रेसीडेंसी में रामस्वामी नायकर पेरियार का आत्मसम्मान आंदोलन गाँधी के नेतृत्व में चल रही मुहिम के साथ नाता तोड़ ही चुका था। महाराष्ट्र में ज्योतिराव फुले के आदर्शों का अनुगमन कर रही दलित-बहुजन धारा और उनके उत्तराधिकारी भीमराव आम्बेडकर भी इस राष्ट्रवादी धारा के अंग बनने के लिए तैयार नहीं हुए। विनायक दामोदर सावरकर द्वारा प्रतिपादित 'हिंदुत्व' नामक राजनीतिक विचारधारा ने भी आज़ादी के आंदोलन को हाथ भर दूर से ही देखना पसंद किया। लेकिन इतिहास गवाह है कि अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रही भारतीय स्त्रियों ने ऐसा न करके एक दोहरी लड़ाई लड़ी। उन्होंने राष्ट्रवाद की उपनिवेशवाद विरोधी राजनीतिक दावेदारी में अपना स्वर मिलाना मंजूर किया, क्योंकि उसके माध्यम से उनके लिए एक नया दिगंत खुल रहा था। दूसरी तरफ़ उन्होंने राष्ट्रवाद की मर्दवादी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और जकड़बंदियों को चुनौतियाँ देते हुए राष्ट्रवादी एजेंडे में नारीवादी एजेंसी के ज़रिये पितृसत्ता विरोधी पहलुओं का समावेश करने का यत्न किया। भारतीय नारीवाद की यह रणनीति मोटे तौर पर एशिया और मध्य-पूर्व के अधिकतर देशों में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के दौरान विकसित हुए राष्ट्रवाद और नारीवाद के कुछ अलग क्रिस्म के रिश्ते के मुताबिक ही थी।

इस रणनीति की पहली सुव्यवस्थित अभिव्यक्ति उस समय दिखाई दी जब भारतीय नारीवादियों और उनके संगठनों (वुमंस इण्डियन एसोसिएशन, आल-इण्डिया वुमंस कांफ्रेंस और नैशनल काँसिल फ़ॉर वूमन) ने बीसवीं सदी के तीसरे दशक में अपनी सरगर्मियों से राष्ट्रवाद पर दबाव डालने में

कमोबेश कामयाबी हासिल की। यह मौक्रा उन्हें नस्लवादी और उपनिवेशवाद समर्थक रुझानों के लिए शोहरतयाप्ता अमेरिकी पत्रकार कैथरीन मेयो की कुख्यात पुस्तक *मदर इण्डिया* ने दिया। इस पुस्तक का प्रतिकार करने के लिए गाँधी के उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन को स्त्रियों की विशेष पहलकदमी की जरूरत पड़ी। एक ब्रिटिश खुफिया अधिकारी द्वारा सुझाई गयी विषयवस्तु को केंद्र बना कर मेयो ने *मदर इण्डिया* में यह दिखाने की कोशिश की थी कि जिस देश में स्त्रियों की हालत इतनी खराब हो, उसकी जनता को स्व-शासन माँगने का कोई अधिकार नहीं है। मेयो की इस पॉलिमिक्स के जरिये अंग्रेज राष्ट्रवादियों की उस चुनौती का जवाब भी देना चाहते थे जिसके प्रभाव में भारत का आधुनिकीकरण करने की उनकी दावेदारियाँ लगातार आहत होती जा रही थीं। मेयो के आरोपों एक हद तक तथ्यात्मक सच्चाई भी थी, पर उन्होंने ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के साथ अंग्रेज महाप्रभुओं की साठगाँठ को पूरी तरह से छिपा लिया था। आजादी के आंदोलन के साथ सक्रिय नारीवादी संगठनों ने मेयो के आरोपों पर लीपापोती करने के बजाय इस मौके का फ़ायदा उठा कर स्त्री-प्रश्न को पूरी जोरदारी के साथ केंद्रित किया। उन्हीं की कोशिशों से बालिकाओं का विवाह रोकने वाला शारदा एक्ट प्रस्तावित हुआ। मेयो द्वारा किये गये आक्रमण का परिणाम यह निकला कि राष्ट्रवाद के कंज़रवेटिव प्रवक्ताओं को भी हिचक के साथ ही सही, पर शारदा एक्ट का समर्थन करना पड़ा। हालाँकि शारदा एक्ट भी एक सीमित सुधार ही था, पर उसकी राजनीति ने भारतीय नारीवाद द्वारा भविष्य में अपनाये जाने वाले रास्ते की रूपरेखा बना दी। इसके बाद नारीवाद और राष्ट्रवाद के बीच एकता और संघर्ष के रिश्ते बनते चले गये।

राष्ट्रवाद के इन पहलुओं में भारतीय स्त्री को मुक्ति के रास्ते पर चलाने की प्रेरणाएँ अवश्य मौजूद थीं, लेकिन अंग्रेजों के खिलाफ़ जीत हासिल कर लेने के बाद उसकी सम्भावित भूमिका के बारे में कुल मिला कर एक दोहरा रवैया दिख रहा था। आधुनिकीकरण के राजनीतिक वाहकों का काम तो एक सामरिक चुप्पी से चल जाता था। स्त्री-प्रश्न हल करने की ज़िम्मेदारी वे आजाद भारत के राजनीतिक-आर्थिक निज़ाम पर डाल देते थे। लेकिन सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के पहलू मुखर थे। उनकी दिलचस्पी भविष्य की स्त्री गढ़ने में थी। उन्हें यह कहने में कोई हिचक नहीं थी कि आधुनिक हो या पारम्परिक, अंततः स्त्री के पास पातिव्रत्य के अलावा और कोई विकल्प नहीं है। परम्परानिष्ठ राष्ट्रवादी जब ऐसी बातें बोलते थे, तो उनके पीछे एक ख़ास तरह के इतिहास की ताकत होती थी। वे उस लीक को आगे बढ़ा रहे थे जिसने बौद्धिक आवेश से थरथराती उन्नीसवीं सदी में ही किसी राष्ट्रवादी नायिका की सम्भावनाओं को ख़त्म करने की हर

सम्भव कोशिश की थी। नायिका बनने के लिए स्त्री को जिस साहस, उछाल और बहिर्मुखी रवैये की जरूरत पड़नी थी, उसकी सम्भावनाएँ भूदेव मुखोपाध्याय जैसे राष्ट्रवादी विद्वानों ने 'लज्जाशीलता' का विमर्श स्थापित करके पहले ही ख़त्म कर दी थीं। इस रोशनी में देखने पर पता चलता है कि सीमित सुधार का कार्यक्रम देने वाले उदारतावादी नायकों के मुक्राबले स्त्री-मुक्ति की रैडिकल दावेदारी करने की ज़रूरत करने वाली पण्डिता रमाबाई सरस्वती को भारतीय स्त्रियों की पहली नायिका मानने से इनकार क्यों किया गया, और फिर राष्ट्रवाद के महाआख्यान के तले उनकी स्मृति तक अँधेरे कोनों में कैसे दफ़न हो गयी। क्या यह एक विचारणीय विरोधाभास नहीं है कि 1878-79 में जिस समय रमाबाई बंगाल के ब्रह्मसमाजियों और अन्य समाजसुधारकों के हाथों सम्मानित हो कर 'पण्डिता' और 'सरस्वती' की उपाधियाँ प्राप्त कर रही थीं, उसके चार-पाँच साल के भीतर ही भूदेव मुखोपाध्याय 'पारिवारिक प्रबंध' और 'लज्जाशीलता' जैसी रचनाएँ प्रकाशित कर रहे थे जिनका मक़सद आधुनिक होते हुए भारत में घरेलू जीवन संगठित करने के नये पितृसत्तात्मक मानक स्थापित करना था।

भारतीय राष्ट्रवाद और भारतीय नारीवाद के बीच इस विरोधाभासी संबंध की रोशनी में देखने से लगता है कि भारतीय राष्ट्रवाद के उन पहलुओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती जो स्त्री-मुक्ति के लिए सकारात्मक थे। उन्नीसवीं सदी से ही आधुनिकीकरण के धरातल पर जिस राष्ट्रवादी नायक की छवि गढ़ी जा रही थी, वह इकहरे क्रिस्म के स्त्री-विरोध का शिकार नहीं था। उसकी तस्वीर में राममोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर और महादेव गोविंद रानाडे द्वारा स्त्रियों को परम्परा की ज्यादतियों से मुक्त कराने की असाधारण कोशिशों के उदारतावादी रंग भरे हुए थे। भारतीय नारीवाद इन प्रयासों को हमदर्द निगाह देखता है। भारतीय नवजागरण के दोनों प्रमुख मुक्रामों (बंगाल और महाराष्ट्र) की घटनात्मकता बताती है कि पुरुषों के सुधारवादी और अनुदारतावादी खेमों के बीच स्त्री के प्रश्न को लेकर उस समय कैसा संग्राम चल रहा था। इस संघर्ष में किसी की पूरी जीत या हार नहीं हुई, पर पलड़ा उदारतावादियों का ही भारी रहा। इसीलिए स्त्रियों को उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के मैदान में उतारने का कार्यक्रम पेश करके गाँधी सुधारवादी परम्परा के बेहतरीन उत्तराधिकारी के रूप में उभर सके।

देखें : अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, पार्थ चटर्जी, फ़ासीवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, राज्य-1 और 2, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, विनायक दामोदर सावरकर, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे (2012), 'पटरी से उतरी हुई औरतों का यूटोपिया और राष्ट्रवाद का प्रति-आख्यान', *प्रतिमान समय समाज संस्कृति*, प्रवेशांक.
2. मृणालिनी सिन्हा (2000), 'रिफ्लेक्शनिंग मंदर इण्डिया: फ़ेमिनिज्म ऐंड नैशनलिज्म इन लेट-कोलोनियल इण्डिया', *फ़ेमिनिस्ट स्टडीज़*, खण्ड 26, अंक 3, पाइंट्स ऑफ़ डिपार्चर : इण्डियाएंड साउथ एशियन डायस्पोरा.
3. जान जिंडी पैटमेन (1998), 'नैशनलिज्म ऐंड आफ्टर', *रिव्यू ऑफ़ इंटरनैशनल स्टडीज़*, खण्ड 24, द एटी इयर्स क्राइसिस 1919-1999.
4. रंजू सियोदू हेर (2003), 'द पॉसिबिलिटी ऑफ़ नैशनलिस्ट फ़ेमिनिज्म', *हायपैतिया*, खण्ड 18, अंक 3.
5. पार्थ चटर्जी (1999), 'द नैशनलिस्ट रिजोल्यूशन ऑफ़ वुमंस क्वेश्चन', कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (सम्पा.), *रिक्वॉस्टिंग वुमन : एसेज इन कोलोनियल हिस्ट्री*, काली फ़ॉर वुमन प्रेस.

— अभय कुमार दुबे

राष्ट्रवाद का इतिहास

(Nationalism : A History)

राष्ट्रवाद और आधुनिक राज्य के इतिहास के बीच एक संरचनागत संबंध है। सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के आस-पास यूरोप में आधुनिक राज्य का उदय हुआ जिसने राष्ट्रवाद के उभार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। राज्य का यह रूप अपने पहले के रूपों से भिन्न था। इसकी सत्ता केंद्रीकृत, सम्प्रभु और अविभाजित थी। इसके विपरीत मध्ययुगीन यूरोप में राजसत्ता किसी एक सम्प्रभु शासक या सरकार के पास रहने के बजाय बँटी हुई थी। आधुनिक राज्य ने सत्ता का यह बँटवारा ख़त्म कर दिया जिसके आधार पर राष्ट्रवाद का विचार पनप सका। राष्ट्रवाद के सिद्धांत को समझने के लिए उस घटनाक्रम को समझना आवश्यक है जिसने आधुनिक राजसत्ता के जन्म के हालात बनाये।

मध्य युग में सम्राटों और राजवंशों का अस्तित्व था, पर उन्हें शैतिज रूप से चर्च के साथ और स्तम्भीय रूप से सामंतों और सूबेदारों के साथ सत्ता में साझेदारी करनी पड़ती थी। चर्च इतना ताकतवर था कि वह हुक्मरानों जितना और कभी-कभी उनसे भी ज्यादा ताकतवर हुआ करता था। चौथी सदी में रोमन सम्राट कॉन्स्टेंटाइन द्वारा ईसाई धर्म अपना लेने के बाद से चर्च की शक्ति में लगातार बढ़ोतरी होती चली गयी थी। राजकीय धर्म हो जाने के कारण ईसाइयत का प्रसार न

केवल यूरोप के कोने-कोने में हो गया, बल्कि पूर्व में तुर्की और रूस तक फैलता चला गया। छठीं सदी तक यूरोप में जगह-जगह कैथोलिक चर्च और हुक्मरानों के बीच परस्परव्यापी सत्ता की संरचनाएँ विकसित हो गयीं। राजाओं का दावा यह था कि वे दैवी आदेश से हुक्मत कर रहे हैं, और दूसरी तरफ़ चर्च ग़ैर-धार्मिक अर्थों में एक हद तक राजनीतिक बागडोर अपने हाथ में रखता था। चर्च के पास प्रजा पर टैक्स लगाने तक के अधिकार थे। चर्च और राजा के बीच का यह असहज संबंध एक सर्वशक्तिमान क्रिस्म की राजसत्ता के उदय में बाधक था। दूसरी तरफ़ सम्राट को श्रेणीक्रम के आधार पर संचालित प्रणाली के आधार पर ताकतवर कुलीनों और सामंतों के साथ भी सत्ता में साझेदारी करनी पड़ती थी। राजनीतिक और आर्थिक स्तरों पर काम करने वाली यह जटिल प्रणाली जनसाधारण और मालिक वर्ग को लाइर्स और भू-दासों में बाँट देती थी। स्थानीय स्तर पर लार्ड अपने जागीरदार पर और जागीरदार अपने अधीनस्थ जागीरदार पर हुक्म चलाता था।

दरअसल, यूरोप की तत्कालीन परिस्थितियाँ कई कारणों से एक निश्चित भू-क्षेत्र और आबादी के दायरे में केंद्रीकृत राजनीतिक समुदाय बनने से रोकती थीं। परिवहन और संचार के नेटवर्कों का अभाव भी एक वजह थी जिसके कारण सत्ता में हिस्सेदारी करना एक मजबूरी थी। लगातार युद्धों, जीत-हार और अलग राज्य बना लेने की प्रवृत्तियों के कारण हुक्मतों की सीमाएँ लगातार बनती-बिगड़ती रहती थीं। शाही खानदानों के बीच होने वाली शादियों में पूरे-पूरे के भू-क्षेत्र दहेज़ और तोहफ़ों के तौर पर दे दिये जाते थे जिससे एक इलाके की जनता रातों-रात दूसरे राज्य की प्रजा बन जाती थी। लेकिन इस राजनीतिक परिवर्तन से जनता के रोज़मर्रा के जीवन पर कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ता था। लोगों की एक इलाके से दूसरे में आवाजाही पर कोई पाबंदी नहीं थी। कोई कहीं भी जा कर काम शुरू कर सकता था, कहीं भी विवाह कर सकता था। राजनीति, प्रशासन, क़ानून और संस्कृति इसी तरह से विकेंद्रीकृत ढंग से चलते रहते थे। पूरा यूरोप बोलचाल, रीति-रिवाज और आचार-व्यवहार में बेहद विविधतापूर्ण था। संस्कृति में कोई समरूपता नहीं थी।

इस विकेंद्रीकृत स्थिति में परिवर्तन की शुरुआत इंग्लैण्ड में ट्यूडर और फ़्रांस में बोरबन राजवंशों के सुदृढ़ीकरण से हुई। इन दोनों वंशों ने तिजारती पूँजीपतियों की मदद से अपनी सत्ता मज़बूत की। व्यापार से कमायी गयी धन-दौलत के बदौलत ये राजवंश आमदनी के लिए अपने जागीरदारों पर उतने निर्भर नहीं रह गये। धीरे-धीरे सामंती गवर्नरों से उनकी सत्ता छिन्ने लगी। सामंतों की जगह तिजारती पूँजीपति आ गये। दूसरी तरफ़ पंद्रहवीं सदी के दौरान चर्च में हुए धार्मिक सुधारों ने कैथोलिक चर्च की ताकत

को काफ़ी हद तक घटा दिया। इन दोनों परिवर्तनों ने सम्राटों को पूरे क्षेत्र पर सम्पूर्ण और प्रत्यक्ष शासन करने का मौक़ा प्रदान किया। भू-क्षेत्रीय सीमाओं का अनुपालन होने लगा। धर्म, शिक्षा और भाषा के मामले में जनसाधारण को मानकीकरण के दौर से गुज़रना पड़ा। नागरिकों के आवास और यात्रा पर भी नियम-क़ानून आरोपित किये जाने लगे। स्थाई शाही सेनाओं की भरती और रख-रखाव पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। परिवहन, संचार और शासन की प्रौद्योगिकियों का विकास हुआ जिनके कारण नरेशों और सम्राटों को अपने राजनीतिक लक्ष्य प्रभावी ढंग से वेधने में आसानी होने लगी।

इस घटनाक्रम के दूरगामी प्रभाव पड़े। एक सर्वसत्तावादी राज्य का उदय हुआ जो सम्प्रभुता, केंद्रीकृत शासन और स्थिर भू-क्षेत्रीय सीमाओं के लक्षणों से सम्पन्न था। आज के आधुनिक राज्य में भी यही खूबियाँ हैं। फ़र्क़ यह है कि तत्कालीन राज्य पर ऐसे राजा का शासन था जो घमण्ड से कह सकता था कि मैं ही राज्य हूँ। लेकिन, इसी सर्वसत्तावादी चरित्र के भीतर सांस्कृतिक, भाषाई और जातीय समरूपता वाले 'राष्ट्र' की स्थापना की परिस्थितियाँ मौजूद थीं। सामंती वर्ग को प्रतिस्थापित करने वाला वणिक् बूर्ज्वा (जो बाद में औद्योगिक बूर्ज्वा में बदल गया) राजाओं का अहम राजनीतिक सहयोगी बन चुका था। एक आत्मगत अनुभूति के तौर पर राष्ट्रवाद का दर्शन इसी वर्ग के अभिजनों के बीच पनपना शुरू हुआ। जल्दी ही ये अभिजन अधिक राजनीतिक अधिकारों और प्रतिनिधित्व के लिए बेचैन होने लगे। पूरे पश्चिमी युरोप में विधानसभाओं और संसदों में इनका बोलबाला स्थापित होने लगा। इसका नतीजा युरोपीय आधुनिकता की शुरुआत में राजशाही और संसद के बीच टकराव की घटनाओं में निकला। 1688 में इंग्लैण्ड में हुई ग्लोरियस रेवोल्यूशन इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। इस द्वंद्व में पूँजीपति वर्ग के लिए लैटिन भाषा का शब्द 'नेशियो' महत्वपूर्ण बन गया। इसका मतलब था जन्म या उद्गम या मूल। इसी से 'नेशन' बना।

अठारहवीं सदी में जब सामंतवाद चारों तरफ़ पतनोन्मुख था और युरोप औद्योगिक क्रांति के दौर से गुज़र रहा था, पूँजीपति वर्ग के विभिन्न हिस्से राष्ट्रवाद की विचारधारा के तले एकताबद्ध हुए। उन्होंने खुद को एक समरूप और घनिष्ठ एकता में बँधे राजनीतिक समुदाय के प्रतिनिधियों के तौर पर देखा। नेशन की इस भावना पर प्राचीनता आरोपित करने का कार्यभार जर्मन रोमानी राष्ट्रवाद के हाथों पूरा हुआ। खुद को नेशन कह कर यह वर्ग आधुनिक राज्य से राजनीतिक सौदेबाज़ी कर सकता था। दूसरी तरफ़ इस वर्ग से बाहर का साधारण जनता ने राष्ट्रवाद के विचार का इस्तेमाल राजसत्ता के आततायी चरित्र के खिलाफ़ खुद

को एकजुट करने में किया। जनता को ऐसा इसलिए करना पड़ा कि पूँजीपति वर्ग के समर्थन से वंचित होती जा रही राजशाहियाँ अधिकाधिक निरंकुश और अत्याचारी होने लगी थीं। जनता बार-बार मजबूरन सड़कों पर उतरने के लिए मजबूर थी जिसका नतीजा फ़्रांसीसी क्रांति जैसी युगप्रवर्तक घटनाओं में निकला। कहना न होगा कि हुक्मरानों के खिलाफ़ जन-विद्रोहों का इतिहास बहुत पुराना था, पर अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के युरोप में यह गोलबंदी राष्ट्रवाद के झण्डे तले हो रही थी। इनका नेतृत्व अभिजनों के हाथ में रहता था, और लोकप्रिय तत्त्व घटनाक्रम में ज्वार-भाटे का काम करते थे। किसी भी स्थानीय विद्रोह का लाभ उठा कर पूँजीपति वर्ग राजशाही के खिलाफ़ सम्पूर्ण राष्ट्रवादी आंदोलन की शुरुआत कर देता था।

यह इतिहास बताता है कि प्राक्-आधुनिक युरोपीय राज्य की विकेंद्रीकृत सत्ता किस प्रकार सर्वसत्तावादी राज्य में बदली। फिर वह राज्य धीरे-धीरे राष्ट्रवादी आंदोलनों के दबाव में सीमित क्रिस्म के संवैधानिक राज्य में विकसित हुआ। उन्नीसवीं सदी के आख़िर तक राष्ट्रवाद पूँजीपति वर्ग के लिए और साथ में आम जनता के लिए भी राजनीतिक अधिकारों हेतु गोलबंदी का बहुत बड़ा कारक बन गया।

यह मानना ग़लत होगा कि राष्ट्रवाद का विचार पूरे युरोप में एक ही तरह से फैला। फ़्रांस में इसकी अभिव्यक्ति हिंसक जन-भागीदारी से हुई, जबकि इंग्लैण्ड में इसने स्वयं को अपेक्षाकृत शांतिपूर्वक संसदीय ढंग से व्यक्त किया। जो साम्राज्य बहुजातीय और बहुभाषी थे, वे पहले बहुराष्ट्रीय राज्य बने और बाद में कई हिस्सों में टूट गये। लेकिन, दूसरी तरफ़ राष्ट्रवाद ने कुछ बहुभाषी और बहुजातीय राज्यों को एकजुट रखने का तर्क भी प्रदान किया। राष्ट्रवादी विचार जैसे-जैसे युरोपीय ज़मीन से आगे बढ़ कर एशिया, अफ़्रीका और लातीनी अमेरिकी में पहुँचा, उसकी युरोप से भिन्न क्रिस्में विकसित होने लगीं। इन क्षेत्रों में उपनिवेशवाद विरोधी मुक्ति संघर्षों को राष्ट्रवादी भावनाओं ने जीत के मुक़ाम तक पहुँचाया। परिणामस्वरूप अ-उपनिवेशीकरण और राष्ट्रवाद का अनूठा संश्रय बना।

देखें : अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, पार्थ चटर्जी, फ़्रासीवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, राज्य-1 और 2, राष्ट्रवाद, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद और नारीवाद, विनायक दामोदर सावरकर, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. सुनिलिनी कुमार (2008), 'नेशनलिज़म', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली।
2. बेनेडिक्ट ऐंडरसन (1983), *इमेजिंड कम्युनिटीज़ : रिफ्लेक्शंस ऑन द ओरिजिंस ऐंड ग्रोथ ऑफ़ नैशनल कौंसनेस*, वरसो,

लंदन.

3. एल. ग्रीनफील्ड (1992), *नैशनलिज़म : फ़ाइव रोड्स टु मॉडर्निटी*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.
4. जे. मेआल (1989), *नैशनलिज़म एंड इंटरनैशनल सोसाइटी*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़

(National Democratic Alliance)

राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) भारतीय राजनीति में गैर-कांग्रेसी एवं गैर-कम्युनिस्ट दलों का एक गठजोड़ है। केंद्रीय राजनीति में सत्ता का प्रमुख दावेदार यह मोर्चा कांग्रेस के नेतृत्व वाले संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) से होड़ करता है। इसका नेतृत्व भारतीय जनता पार्टी के हाथों में है। इसमें कई क्षेत्रीय राजनीतिक दल शामिल हैं। राजग के बारे में एक दिलचस्प तथ्य यह है कि इसमें भाजपा, अकाली दल और शिव सेना जैसी गैर-सेकुलर और साम्प्रदायिक गोलबंदी के आधार पर राजनीति करने वाली पार्टियाँ तो हैं ही, बिहार की जनता दल (एकीकृत), ओडिशा का बीजू जनता दल, तमिलनाडु की द्रविड़ पार्टियाँ, आंध्र प्रदेश की तेलुगु देशम पार्टी और बंगाल की तृणमूल कांग्रेस जैसी सेकुलर पार्टियाँ भी साम्प्रदायिक राजनीति का विरोध करने के बावजूद इसमें आती-जाती रहती हैं। हाँ, कुछ क्षेत्रीय राजनीतिक दल ऐसे जरूर हैं जिन्होंने साम्प्रदायिकता के प्रश्न पर राजग से दूरी बनाये रखी। इनमें उग्र की समाजवादी पार्टी और बिहार के राष्ट्रीय जनता दल का नाम लिया जा सकता है। राजग के घटक दलों के इस विलक्षण मिश्रण के पीछे दो बातों की भूमिका है। पहली, भाजपा द्वारा अपनी साम्प्रदायिक समझी जाने वाली माँगों को ठण्डे बस्ते में डालने के लिए राजी हो जाना, और दूसरी, राज्यों में कांग्रेस के वर्चस्व के खिलाफ क्षेत्रीय दलों की राजनीति जो उन्हें अपनी विचारधारात्मक और व्यावहारिक आपत्तियों के बावजूद भाजपा के ध्रुव के इर्द-गिर्द गोलबंदी करने की तरफ ले जाती है। राजग की एक और विशेषता है। यह एक चुनाव-पूर्व गठजोड़ है और इसका अवतरण गठजोड़ राजनीति के मंच पर संप्रग के आगमन से पहले हुआ था। एक तरह से कहा जा सकता है कि केंद्र की राजनीति में गठजोड़ राजनीति का मुहावरा राजग के प्रयोग की सफलता से ही स्थापित हुआ है। राजग का गठन और इसकी सफलताएँ इसलिए भी काफ़ी महत्वपूर्ण हैं कि ये

कट्टर हिंदुत्ववादी राजनीति की सीमाओं को रेखांकित करती हैं। भाजपा जैसी समरूप हिंदुत्व की वकालत करने वाली पार्टी के हाथ में राजग की बागडोर जरूर है, पर इस मोर्चे की निरंतर प्रासंगिकता साबित करती है कि भारत जैसे विविधता सम्पन्न देश में समन्वय की राजनीति द्वारा ही शासन किया जा सकता है।

राजग का गठन मई, 1999 में हुआ। नब्बे के दशक में अपनी हिंदुत्ववादी राजनीति के कारण देश के कुछ क्षेत्रों में भाजपा की स्थिति ख़ासी मज़बूत हो गयी थी। राममंदिर आंदोलन, मुसलमान तुष्टीकरण और समान नागरिक संहिता तथा धारा 370 जैसे मुद्दे उठाकर भाजपा ने उत्तर भारत में ऊँची जातियों और गैर-यादव पिछड़े समुदायों का ध्रुवीकरण अपने पक्ष में करने में सफलता हासिल कर ली थी। पी.वी. नरसिंह राव के नेतृत्व वाली अल्पमतीय कांग्रेस सरकार की विफलताओं और इस पर लगने वाले भ्रष्टाचार के आरोपों ने भी भाजपा की स्थिति मज़बूत की। इसके अलावा, भाजपा को अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व का भी फ़ायदा मिला, जो कि आमतौर पर एक ईमानदार और तुलनात्मक रूप से उदार नेता माने जाते थे। इन कारकों के चलते 1996 के लोकसभा चुनावों में भाजपा सबसे बड़े राजनीतिक दल के रूप में सामने आयी लेकिन लोकसभा में पूर्ण बहुमत से उसकी सीटें तक्रारीबन सौ कम थीं। इसलिए केंद्र में वाजपेयी के नेतृत्व में बनी सरकार अपना बहुमत साबित न कर पाने के कारण केवल तेरह दिनों में ही गिर गयी। असल में, उग्र हिंदुत्ववादी राजनीति के कारण अधिकांश क्षेत्रीय दलों ने इस पार्टी से दूरी बना कर रखी। भाजपा ने इससे सबक लेते हुए क्षेत्रीय दलों खुद से जोड़ने की कोशिश की। नतीजे के तौर पर राजग का गठन हुआ। उल्लेखनीय है कि राजग के गठन के समय भाजपा अपने सहयोगी दलों को संतुष्ट करने के लिए अपनी हिंदुत्ववादी राजनीति से जुड़े तीन विवादास्पदों मुद्दों को छोड़ने का फैसला किया। ये तीन मुद्दे थे : राममंदिर निर्माण, समान संहिता और कश्मीर को विशेष दर्जा देने वाले धारा 370 को ख़त्म करने की माँग। भाजपा की इन मजबूरियों ने स्पष्ट कर दिया कि शासन करने लायक समर्थन हासिल करने के लिए साम्प्रदायिक मुद्दों को ठण्डे बस्ते में डालना आवश्यक है।

1996 में वाजपेयी सरकार के पतन के बाद कांग्रेस के समर्थन से संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी थी, जिसका नेतृत्व बारी-बारी से एच. डी. देवेगौड़ा और इंद्र कुमार गुजराल ने किया। लेकिन कांग्रेस के समर्थन वापस लेने के कारण 1998 में मध्यावधि चुनाव हुए। चुनावों के बाद केंद्र में अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में गठबंधन सरकार बनी। इस बार सहयोगी दलों का समर्थन होने के कारण शुरुआती तौर पर यह सरकार स्थिर रही। इस सरकार ने एक महत्वपूर्ण क़दम पोखरण में परमाणु परीक्षण करके उठाया जिसने भारत को



मई, 1998 में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ (राजग) का गठन हुआ।

परमाणु शक्ति-सम्पन्न देश के रूप में स्थापित कर दिया। कुछ आलोचक यह भी मानते हैं कि दरअसल इस परमाणु परीक्षण के सहारे भाजपा ने उग्र राष्ट्रवाद की राजनीति को बढ़ावा देने की कोशिश की। बहरहाल, क्षेत्रीय दलों, खासतौर पर जयललिता के नेतृत्व वाले अन्नाद्रमुक की लगातार खींचतान के कारण आखिरकार 13 महीने के बाद अप्रैल, 1999 में यह सरकार गिर गयी। संसद में अविश्वास प्रस्ताव में सिर्फ एक वोट से हारने के कारण इस सरकार का पतन हुआ। वाजपेयी ने अपने इन तेरह महीनों के कार्यकाल में पाकिस्तान से संबंध सुधारने की कोशिश की। खास तौर पर पोखरण-2 के बाद पाकिस्तान द्वारा भी परमाणु परीक्षण किया गया। इससे दोनों देशों पर आपसी संबंध सुधारने का दबाव बहुत ज्यादा बढ़ गया था। इसी कारण वाजपेयी ने मई, 1999 में नयी दिल्ली-लाहौर बस सेवा शुरू करवाई और खुद बस से लाहौर गये। लेकिन इसके कुछ महीने बाद ही उनकी सरकार गिर गयी। वे अगले चुनावों तक देश के कार्यवाहक प्रधानमंत्री रहे। इसी दौरान यह पता चला कि कारगिल की पहाड़ियों पर पाकिस्तानी सैनिकों ने अपने अड्डे बना लिए हैं। इन घुसपैठिये सैनिकों को वहाँ से निकालने के लिए भारतीय सेना को तीन महीने तक अभियान चलाना पड़ा। इसमें तकरबीन पाँच सौ भारतीय सैनिक भी मारे गये।

कारगिल युद्ध के कुछ महीने बाद ही 1999 में फिर से लोकसभा का मध्यावधि चुनाव हुआ। भाजपा ने तय किया कि वह अपना चुनाव घोषणापत्र भी जारी नहीं करेगी और राजग के घोषणापत्र पर ही चुनाव लड़ेगी। इन चुनावों में राजग पूर्ण बहुमत के काफ़ी करीब पहुँच गया और भाजपा को भी 182 सीटों पर जीत मिली। राजग को कुल 270 सीटों पर जीत मिली। कुछ अन्य दलों के समर्थन से इसकी सीटों की संख्या तीन सौ के पार चली गयी। एक बार फिर से केंद्र में वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा की सरकार बनी। यह एक स्थिर सरकार थी। एक न्यूनतम साझा कार्यक्रम बनाया गया जिसके तहत गठबंधन की राजनीति संतुलित ढंग से चली। राजग की समन्वय समिति की बागडोर समाजवादी नेता जॉर्ज

फ़र्नांडीज़ के हाथों में रही। भाजपा ने विवादास्पद मुद्दे उठाने से परहेज़ किया। वाजपेयी ने अपनी सहयोगी दलों से विचार-विमर्श करके और समन्वय समिति की नियमित बैठकें करके सहयोगियों को संतुष्ट रखने की कोशिश की।

वाजपेयी ने अपने इस शासन में आर्थिक सुधारों की गति तेज़ करने का प्रयास किया। विनिवेश की गति बढ़ाने के लिए एक विनिवेश मंत्रालय का गठन किया गया। वाजपेयी सरकार ने भारत की विदेश नीति में एक बुनियादी बदलाव किया। कांग्रेसी सरकारों ने अमूमन गुटनिरेपक्षता की नीति अपनायी थी और शीत युद्ध के दौर में यह माना जाता था कि भारत अमेरिका की तुलना में सोवियत संघ के ज्यादा नज़दीक है। लेकिन, वाजपेयी के नेतृत्व वाली राजग सरकार ने भारतीय विदेश नीति में अमेरिका के साथ मधुर संबंधों को बहुत ज्यादा तरजीह दी। भाजपा ने राजग सरकार की नीतियों से अपने विवादास्पद मुद्दों को तो दूर रखा, लेकिन कुछ खास क्षेत्रों में इस तरह बदलाव करने की कोशिश की गयी जिससे दक्षिणपंथी नज़रिये को ज्यादा महत्त्व मिले। मसलन, मानव संसाधन विकास मंत्री के रूप में भाजपा नेता मुरली मनोहर जोशी ने स्कूली स्तर के पाठ्य पुस्तकों में कुछ खास तरह के बदलाव किये। इसका मकसद यह था कि इन किताबों में, खास तौर पर इतिहास की किताबों में दक्षिणपंथी वर्णनों को स्थान मिले। राजग सरकार की सबसे बड़ी परीक्षा फ़रवरी-मार्च, 2002 गुजरात में मुसलमानों के खिलाफ़ हुए दंगों में हुई। गुजरात में भाजपा की सरकार थी और नरेंद्र मोदी वहाँ के मुख्यमंत्री थे। दंगे रोकने में राज्य सरकार की उदासीनता स्पष्ट थी। यह आरोप भी लगा कि उसने कुल मिला कर मुसलमान विरोधी हिंसा को शह भी दी। इन दंगों में दो हजार से भी ज्यादा मुसलमान मारे गये। राजग ने उग्र हिंदुत्व के मुद्दे का अपने एंजेंडे से बाहर रखा था, लेकिन इसके घटक दलों ने गुजरात के दंगे में नरेंद्र मोदी की भूमिका पर कोई गम्भीर सवाल खड़ा नहीं किया। केवल रामविलास पासवान के नेतृत्व वाली लोक जनशक्ति पार्टी राजग से इन दंगों के कारण अलग हुई, और बाकी घटक दल मूकदर्शक बने रहे। यह प्रकरण राजग की राजनीति में भाजपा के वर्चस्व को भी दिखाता है।

बहरहाल, वाजपेयी शासन की आर्थिक मोर्चे पर कामयाबी से खुश भाजपा नेतृत्व ने 2004 में जल्दी चुनाव कराने का फैसला किया। राजस्थान और मध्य प्रदेश राज्य विधानसभा के चुनाव जीत लेने के कारण भी उसे यह निर्णय लेने का प्रोत्साहन मिला। राजग ने 'इण्डिया शाइनिंग' या 'भारत उदय' के नारे के आधार पर चुनाव लड़ा। चुनाव-पूर्व सर्वेक्षणों में राजग की स्थिति काफ़ी मज़बूत मानी जा रही थी। दूसरी तरफ़ राजग की सफलता से सबक लेते हुए कांग्रेस ने भी कई क्षेत्रीय दलों से गठजोड़ कायम किया। इन लोकसभा

चुनावों में राजग को मामूली अंतर से हार का सामना करना पड़ा। राजग की पराजय का विश्लेषण बताता है कि गुजरात में हुई भीषण साम्प्रदायिक हिंसा के खिलाफ कोई क्रदम न उठाना ही उसके लिए महंगा पड़ा। हालाँकि प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने अपनी पार्टी की गुजरात सरकार को राजधर्म निभाने की नसीहत दी थी, और भाजपा की भीतरी राजनीति में वे इस सरकार को बर्खास्त करने के पक्ष में भी थे। लेकिन उनके प्रमुख सहयोगी लाल कृष्ण आडवाणी और अन्य हिंदुत्ववादी रुझान वाले नेता इससे सहमत नहीं थे। 2004 के वोटों का विश्लेषण स्पष्ट संकेत करता है कि गुजरात की घटनाओं के कारण भाजपा से ऐसे वोट अलग हटे जो नब्बे के दशक में उसे एक राष्ट्रवादी और कांग्रेस का विकल्प देने में सक्षम पार्टी मान कर उसके साथ गये थे।

बहरहाल, अपनी नजदीकी पराजय से हिल जाने के बावजूद राजग एक गठजोड़ के रूप में विपक्ष की भूमिका निभाता रहा। लेकिन कांग्रेस ने संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) का गठन करके और वामपंथी दलों से गठजोड़ कायम करके एक स्थिर सरकार देने में सफलता हासिल की। इस सरकार द्वारा उठाये गये प्रगतिशील क्रदमों के कारण इसे 2009 के लोकसभा चुनावों में भी जीत मिली। यहाँ तक कि राजग के 2004 के प्रदर्शन में भी गिरावट आयी। जहाँ 2004 में राजग को कुल 176 सीटों पर जीत मिली थी, वहीं 2009 में इसे 159 सीटों पर ही जीत मिली।

2009 के लोकसभा चुनावों के बाद संप्रग सरकार का प्रदर्शन बहुत अच्छा नहीं रहा। इस सरकार में बहुत सारे घोटाले सामने आये। इनके कारण संप्रग सरकार की छवि तो धूमिल हुई, लेकिन राजग कोई वैकल्पिक रूपरेखा पेश करने या प्रतिरोध कोई आंदोलन करने में नाकाम रहा। इसका एक कारण यह भी रहा है कि जिन राज्यों में राजग के घटक दलों की सरकार रही है, वहाँ भी भ्रष्टाचार के बहुत सारे मामले उभरकर सामने आये हैं। दूसरी तरफ भारतीय जनता पार्टी के भीतर नेतृत्व के सवाल पर लगातार फूट पड़ी रही। संप्रग की नाकामियों के खिलाफ अण्णा हजारे और अरविंद केजरीवाल जैसे लोगों ने राजग या भाजपा के मुकाबले ज्यादा मजबूती से आवाज उठायी है। राजग की दूसरी समस्या यह भी रही है कि उसके पास अब अटल बिहारी वाजपेयी जैसा कोई नेता नहीं है, जो अपने व्यक्तित्व के कारण न सिर्फ अपनी पार्टी में, बल्कि दूसरी पार्टियों में भी पूरी तरह से स्वीकार्य हो। भाजपा द्वारा उग्र हिंदुत्ववादी राजनीति पर वापस जाने की कोशिशों ने भी राजग के सामने चुनौती पैदा की है। भाजपा और संघ परिवार का एक मजबूत धड़ा उग्र हिंदुत्ववादी राजनीति पर वापस जाने के लिए नरेंद्र मोदी को आगे लाना चाहता है।

राजग का गठन नब्बे के दशक के बाद की राजनीति

की एक महत्वपूर्ण घटना है। इसने साबित किया है कि गठजोड़ की सरकारें भी स्थाई हो सकती हैं और बेहतर समन्वय से काम कर सकती हैं। 2004 के बाद राजग से कई राजनीतिक दल बाहर भी निकले हैं। लेकिन फिर भी मुख्य विपक्षी गठजोड़ के रूप में उसने अपना अस्तित्व कायम रखा है। इस गठजोड़ का भविष्य कुछ हद तक कांग्रेस की नाकामियों पर निर्भर जरूर करता है, पर इससे भी ज्यादा जरूरी यह है कि राजग एक सही नेतृत्व और बेहतर समन्वय के साथ खुद को कांग्रेस के विकल्प के रूप में पेश कर पाए।

देखें : अकाली दल, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, दलीय प्रणाली, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारत में गठजोड़ राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. ओलीवर हीथ (1999), 'द एनाटॉमी ऑफ़ बीजेपीज़ राइज़ टू पावर : सोशल, रीजनल ऐंड पॉलिटिकल एक्सप्लेन इन 1990ज', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 34, अंक 34-35.
2. सुमंत बनर्जी (2002), 'गुजरात कारनेज ऐंड अ सिनिकल डेमोक्रेसी', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 37, अंक 18.
3. असगर अली इंजीनियर (2001), 'एनडीए : इलेक्टोरल परफॉरमेंस ऐंड फ्यूचर स्ट्रैटेजीज', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 36, नंबर 28.
4. असगर अली इंजीनियर (2004), 'कम्युनल डार्कनेस इन शाइनिंग इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 39, नंबर 4.
5. संदीप शास्त्री, के. सी. सूरी और योगेंद्र यादव (2009), *इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स : लोकसभा इलेक्शंस इन 2004 ऐंड बियांड*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
6. प्रदीप छिब्बर (2009), 'आर नैशनल इलेक्शन एनी मोर दैन एग्निगेशंस ऑफ़ स्टेट लेवल वरडिक्टस?', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 44, नंबर 29.

— कमल नयन चौबे

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

(Rashtriya Swayamsevak Sangh)

भारत के राष्ट्रत्व को सेकुलर और आधुनिक के बजाय सांस्कृतिक और धार्मिक संदर्भों में परिभाषित करने वाले संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना 1925 में नागपुर में हुई थी। सावरकर द्वारा प्रतिपादित हिंदुत्व के विचार को मूलभूत सिद्धांत की तरह अपनाने वाली इस संस्था का मकसद 'भारत के स्वर्णिम अतीत' से मिलने वाली प्रेरणाओं के आधार पर 'हिंदू-समाज के विभिन्न समूहों को एकताबद्ध' करना है ताकि 'भारत का चौतरफा विकास' हो सके। अल्पसंख्यक विरोध का पर्याय बन चुका संघ मानता है कि भारत-भूमि पर रहने वाले सभी लोग हिंदू हैं, भले ही उनकी पूजा-पद्धति कोई भी हो। इस्लाम और ईसाइयत जैसे गैर-हिंदू धर्मों के बारे में संघ का स्पष्ट मत है कि उनके अनुयायियों को हिंदू-संस्कृति अपनाते हुए भारत-भूमि और उसकी प्राचीन परम्पराओं के प्रति असहिष्णुता और कृतघ्नता त्याग देना चाहिए। अगर वे ऐसा नहीं कर सकते तो उन्हें पूरी तरह से हिंदू-राष्ट्र की मातहत में रहना होगा, उन्हें किसी तरह की माँग या विशेष सुविधा का अधिकार नहीं मिलेगा। यहाँ तक कि उन्हें पूरे नागरिक-अधिकार भी नसीब नहीं होंगे। यह विचारधारा धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए सांस्कृतिक अधिकारों के संवैधानिक प्रावधानों के खिलाफ है। संघ अखण्ड भारत की पैरोकारी करता है और इस लिहाज से वह पाकिस्तान और बांग्लादेश के वैध अस्तित्व के विरोध में भी है। संघ ने उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के किसी भी दौर में भागीदारी नहीं की। 1950 के बाद भारतीय जनसंघ के ज़रिये चुनावों में भागीदारी करने से पहले संघ राष्ट्रीय ध्वज तिरंगे को भी मान्यता नहीं देता था। संघ को तीन बार गैर-क्रान्ती संगठन घोषित किया जा चुका है।

संघ की हज़ारों शाखाएँ पूरे देश में फैली हुई हैं। उत्तर और पश्चिमी भारत में उनका नेटवर्क सघन है। पिछले कुछ वर्षों से उसके क्रमदक्षिण भारत में भी जमने लगे हैं। वह अपने सदस्यों का कोई पंजीकृत लेखाजोखा नहीं रखता, पर समझा जाता है कि कोई पचास लाख लोग उसकी गतिविधियों में नियमित रूप से हिस्सा लेते हैं। संघ का सांगठनिक चरित्र एक तरफ़ अर्धसैनिक अनुशासन वाला है, और दूसरी तरफ़ वह एक विशाल हिंदू परिवार की तरह काम करता है। उसके दिशा-निर्देशन में कई अखिल भारतीय संगठन सक्रिय रहते हैं जिनमें देश का दूसरे नंबर का राजनीतिक दल भारतीय जनता पार्टी, सबसे बड़े ट्रेड यूनियन संगठनों में से एक भारतीय मजदूर संघ, विश्व हिंदू परिषद,

भारतीय किसान संघ, विद्यार्थी परिषद, वनवासी कल्याण आश्रम, विद्या भारती, सेवा भारती, राष्ट्र सेविका समिति, राष्ट्रीय सिक्ख संगत और बजरंग दल जैसी संस्थाएँ शामिल हैं। ये संगठन संघ के प्रचारकों के नेतृत्व में सामाजिक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में सक्रिय रहते हैं।

अर्धसैनिक प्रवृत्तियों के बावजूद संघ अपने लक्ष्यों को हिंसक साधनों के ज़रिये हासिल करने में विश्वास नहीं करता, हालाँकि संघ पर कई बार साम्प्रदायिक तनाव भड़काने और उसके सदस्यों पर साम्प्रदायिक हिंसा में भाग लेने के आरोप लग चुके हैं। तकनीकी तौर पर राजनीति में सीधी भागीदारी करने के बजाय संघ परिवार अपने विभिन्न संगठनों के ज़रिये लोकतांत्रिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करता है। उसके सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रयास नब्बे के दशक में उस समय शिखर पर पहुँचे जब विश्व हिंदू परिषद के नेतृत्व में चले रामजन्मभूमि आंदोलन के फलस्वरूप एक तरफ़ तो अयोध्या की बाबरी मसजिद कार सेवकों द्वारा ढहा दी गयी, और दूसरी तरफ़ गठजोड़ राजनीति का नेतृत्व करते हुए उसकी राजनीतिक शाखा भारतीय जनता पार्टी केंद्र में छह वर्ष तक सत्तारूढ़ रही।

खास बात यह है कि अपनी कल्पनाओं का हिंदू-समाज बनाने की दीर्घकालीन परियोजना के लिए संघ प्रकटतः राजसत्ता को औज़ार बनाने के बजाय त्याग-तपस्या और समाज-सेवा के मॉडल को प्रोत्साहन देता है, लेकिन केंद्र में सत्ता हासिल करने के लिए वह भाजपा को अपने कार्यक्रम के प्रमुख विचारधारात्मक मुद्दों को ठंडे बस्ते में डाल देने की इजाज़त देने के लिए तैयार हो गया। बिना इन मुद्दों को छोड़े खुद को सेकुलर कहने वाली क्षेत्रीय पार्टियाँ भाजपा के साथ गठजोड़ बनाने के लिए तैयार नहीं थीं। यह भी एक दिलचस्प विरोधाभास है कि भारत गणराज्य के संविधान के प्रति पूरी तरह से निष्ठावान न होते हुए भी इस अल्पकालीन राजनीतिक सफलता के चलते संघ के स्वयंसेवकों को देश के सर्वोच्च पदों (उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, उपप्रधानमंत्री, गृहमंत्री, राज्यपाल और मुख्यमंत्री आदि) पर रहने का मौक़ा मिला है।

संघ के संस्थापक डॉ. केशवराव बलिराम हेडगेवार सेंट्रल प्रोविंसिज की कांग्रेस कमेटी के एक सक्रिय नेता थे। कांग्रेस के उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में दो बार जेल-यात्रा करने वाले हेडगेवार की वैचारिक शिक्षा उग्र हिंदू-राष्ट्रवादी नेता डॉ. बालकृष्ण मुंजे की देखरेख में हुई थी। वे कांग्रेस में तिलकपंथियों के घटते हुए प्रभाव, गाँधी द्वारा खिलाफ़त आंदोलन को तरजीह देने और गोरक्षा को कांग्रेस के एजेंडे पर जगह न देने से असंतुष्ट थे। उनका कहना था कि गाँधी के रवैये के कारण मुसलमानों के अलगाववाद को प्रोत्साहन मिल रहा है। कांग्रेस के नागपुर स्थित संगठन भारत



राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों द्वारा की जाने वाली दण्ड-क्रमिकाएँ

स्वयंसेवक मण्डल में फैली अनुशासनहीनता से निराश हेडगेवार की मान्यता थी कि गाँधी का अहिंसक राजनीतिक कार्यक्रम देशभक्त युवकों का प्रेरणा स्रोत नहीं बन सकता। कांग्रेस में काम करते-करते उन्हें धीरे-धीरे यकीन हो गया कि जब तक राष्ट्र के प्राचीन इतिहास और परम्पराओं पर आधारित समर्पित कार्यकर्ताओं का संगठन नहीं बनाया जाएगा तब तक राष्ट्रीय जीर्णोद्धार की बुनियादी शर्त पूरी नहीं होगी।

बनारस में हुए 1923 के हिंदू महासभा सम्मेलन में मदन मोहन मालवीय द्वारा प्रस्तावित हिंदू लड़के-लड़कियों को शिक्षित करने, अखाड़े स्थापित करने और महासभा के फैसलों को मनवाने के लिए हिंदुओं को समझाने-बुझाने हेतु स्वयंसेवकों का संगठन बनाने का कार्यक्रम हेडगेवार को पसंद आया। 1924-25 के दौरान नागपुर में हुए हिंदू-मुसलमान दंगों की उत्तेजक पृष्ठभूमि में हेडगेवार ने सावरकर की कृति *हिंदुत्व : हू इज़ अ हिंदू?* पढ़ी जिसका उनके ऊपर गहरा असर पड़ा। मार्च, 1925 में वे सावरकर से सलाह लेने गये और दो दिन तक उनके साथ रहे। इसी के बाद दशहरे के दिन उन्होंने नागपुर के एक छोटे से मैदान में अपने कुछ साथियों के साथ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का गठन किया जिसका झंडा शिवाजी का भगवा ध्वज था और जिसके सदस्यों की वर्दी नागपुर कांग्रेस अधिवेशन के स्वयंसेवकों जैसी ही थी : खाकी कमीज़, खाकी निक्कर, काली टोपी, लम्बे मोज़े और बूट। हेडगेवार ने संघ को अंग्रेज़ी हुकूमत के विरोध से दूर रखने की रणनीति अपनायी ताकि उनके संगठन को सरकारी प्रकोप न झेलना पड़े।

शुरू में संघ की गतिविधियाँ काफ़ी सीमित क्रिस्म की थीं। हेडगेवार ने ख़ूब सोच-समझ कर अनुशासन का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए पहला बड़ा कार्यक्रम चुना। अप्रैल,

1926 में वे रामटेक गाँव में लगने वाले रामनवमी के मेले में अपने वर्दीधारी स्वयंसेवकों के साथ गये और गुरु रामदास के भजन गाते हुए तीर्थयात्रियों की सेवा में जुट गये। उन्होंने दर्शनार्थियों की लाइनें लगवायीं, उन्हें पानी पिलाया और संदिग्ध मुसलमान फ़क़ीरों और ब्राह्मण साधुओं को रोका ताकि वे गाँववालों से पैसे न वसूल सकें। संघ में भर्ती के इच्छुक लोगों को उन दिनों दो अच्छे स्वयंसेवकों से संस्तुति करवानी पड़ती थी। फिर हेडगेवार स्वयं उनकी तर्कशक्ति की गहरी परीक्षा लेकर संगठन के प्रति पूर्ण समर्पण की शपथ दिलवाते थे। इस तरह स्वयंसेवकों की पहली खेप तैयार हुई जो हेडगेवार के साथ निकट से जुड़ी हुई थी। इन लोगों में से लगभग सभी ब्राह्मण थे, हालाँकि संघ वैचारिक रूप से जातिगत भेदभाव के खिलाफ़ था।

1927 से इस संगठन का विकास अपने नागपुर-वर्धा आधार के बाहर होना शुरू हुआ। हेडगेवार ने संघ को एक कुटुम्ब के तौर पर कल्पित किया जिसमें ख़ुद उनकी भूमिका पारम्परिक गुरु सरीखी या पितृतुल्य नेता की रही। वे हमेशा स्वयंसेवकों को पढ़ाई-लिखाई में मन लगाने और समाज में अच्छी हैसियत हासिल करने का सुझाव देते ताकि संघ और हिंदू समाज दोनों को लाभ हो सके। हेडगेवार ने एक घंटे तक चलने वाली सुबह और शाम की शाखाओं में नियमित होने वाली व्यायाम की गतिविधियों के साथ-साथ मंगल और गुरुवार को स्वयंसेवकों की विचारधारात्मक शिक्षा के लिए राजनीतिक कक्षा का प्रावधान किया जिसे बाद में 'बौद्धिक' कहा जाने लगा।

1929 में संघ के नेताओं की बैठक में हेडगेवार ने तय किया कि संगठन का एक सर्वोच्च नेता होना चाहिए जिसे सरसंघचालक कहा जाएगा जिसकी आज्ञा बिना किसी हीले-हवाले के सभी को माननी होगी। उन्होंने सरकार्यवाह (महामंत्री) और सेनापति के दो मुख्य पद और बनाये। संघ ने छात्र प्रचारकों के जरिये हिंदी भाषी इलाकों में संघ के काम का प्रसार करने की रणनीति अपनायी। उन्होंने ख़ुद उत्तर भारत के कई इलाकों को दौरा किया और छात्र-प्रचारकों को चारों ओर भेजा। ये प्रचारक विश्वविद्यालयों में जाते, नये छात्रों को स्वयंसेवक बनाते, शाखाएँ खोलते और इसी प्रक्रिया में विश्वविद्यालय के अध्यापक भी संगठन की ओर आकर्षित होते। 21 जून, 1940 को निधन से ठीक पहले डॉ. हेडगेवार ने स्वयंसेवकों में गुरुजी के नाम से लोकप्रिय माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। गोलवलकर के तैंतीस साल तक चले नेतृत्व में संघ का उल्लेखनीय प्रसार हुआ। 1940-48 के बीच संघ की उपस्थिति तक्ररीबन सभी प्रांतों में हो चुकी थी। आज़ादी के बाद लम्बे अरसे तक संघ का प्रभाव शहरी इलाकों में अधिक था, पर 1967 के बाद उसने योजनाबद्ध रूप से पिछड़ी हिंदू

जातियों को अपनी ओर खींचने और उनके बीच से नेतृत्व विकसित करने पर ध्यान दिया जिसका राजनीतिक लाभ उसकी राजनीतिक शाखा जनसंघ और उसके बाद भारतीय जनता पार्टी को भी मिला। 1973 में उनके निधन के बाद मधुकर दत्तात्रेय देवरस, राजेंद्र सिंह और कुप्पहल्ली सीतारमैया सुदर्शन ने एक के बाद संघ की कमान सँभाली। इस समय मोहन मधुकर भागवत सरसंघचालक हैं।

संघ ने अपनी विचारधारा के अधिकतर सूत्र सावरकर की रचनाओं और हिंदू महासभा के कार्यक्रम से प्राप्त किये हैं, पर संगठन और गतिविधियों के मामले में वह अन्य किसी भी हिंदू संगठन से अलग है। उसकी गतिविधियाँ प्रत्यक्ष रूप से किसी हिंदू कर्मकांड या रीति-रिवाज का पालन करती हुई नहीं लगतीं। उसके स्वयंसेवकों और पदाधिकारियों के बीच विज्ञान और गणित में शिक्षित लोगों की बहुतायत है। लेकिन वह हमेशा ऐसे मुद्दे (जैसे गोरक्षा, राम मंदिर और धर्मपरिवर्तन) उठाता है जिससे समाज में मुसलमान और ईसाई अल्पसंख्यकों के प्रति क्षोभ की भावना फैले। एकचालकानुवर्तित्व के सिद्धांत पर आधारित संघ के संगठन की बुनियादी इकाई शाखा है जो सुबह या शाम को एक घंटे तक लगायी जाती हैं। यहाँ स्वयंसेवक शारीरिक व्यायाम और विचारधारात्मक बौद्धिक के दौर से गुजरते हैं। शाखा की शुरुआत भगवा ध्वज फहरा कर और मातृभूमि के प्रति समर्पण घोषित करने वाली प्रार्थना से होती है।

प्रत्येक स्वयंसेवक के लिए सरसंघचालक के आदेश में परम निष्ठा का प्रदर्शन करना अनिवार्य है। सरसंघचालक के बाद सरकार्यवाह और राष्ट्रीय कार्यकारिणी समिति रहती है। प्रांतीय कार्यकारिणियाँ पाँच कार्यवाह चुनती हैं जो सांस्कृतिक प्रशिक्षण, शारीरिक प्रशिक्षण, संगठन प्रमुख और कोषाध्यक्ष जैसी जिम्मेदारियाँ सँभालते हैं। संघ का एक लिखित संविधान है और नीति-निर्माता संस्था के रूप में एक अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा है जो प्रांतीय कार्यकारिणियों द्वारा चुनी जाती है। संगठन का यही ढाँचा प्रांतीय, जिला, शहर, तहसील स्तरों पर क्रायम किया जाता है। संगठन की धुरी जीवनदान और ब्रह्मचर्य की शपथ लेने वाले प्रचारकों से मिल कर बनती है। प्रचारकों और वरिष्ठ स्वयंसेवकों के प्रशिक्षण हेतु संघ में तीस के दशक से ही हर वर्ष प्रशिक्षण शिविर लगाये जाते हैं। हर प्रचारक अपने से ऊपर के प्राधिकार के आदेश पर चलता है। संघ परिवार से निकले सभी संगठनों का कामकाज केंद्रीय निर्णय के तहत किसी न किसी प्रचारक के हाथ में रहता है।

समझा जाता है कि संघ का प्रभाव और प्रसार सबसे ज्यादा उस समय बढ़ा जब केंद्र में भाजपा के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ (राजग) की हुकूमत थी। लेकिन 2004 में इस गठजोड़ की पराजय के बाद संघ की शाखाओं

की संख्या में उल्लेखनीय कमी आयी है। ऐसा लगता है कि राजग सरकार से संघ को फ़ौरी फ़ायदा तो हुआ, पर अंत में नुकसान ही उठाना पड़ा। रोज़मर्रा की राजनीति से खुले तौर पर जुड़ जाने के कारण उसके ख़ास चरित्र और छवि का क्षय हुआ। उसे एक सांस्कृतिक और समाजोन्मुख संगठन की तरह देखने वालों को अब यकीन नहीं रह गया है कि संघ के प्रचारक क्षुद्र-राजनीति करने वाले नेताओं से अलग क्रिस्म के हैं। उन्हें नहीं लगता कि जब बाढ़ आयेगी या कोई अन्य विपदा आयेगी तो यह संगठन आगे आ कर मदद करेगा। इस तरह के कामों से संघ की प्रतिष्ठा बढ़ती थी, पर राजनीतिक प्रक्रिया में कूद कर उसने अपना यह करिश्मा खो दिया है। उसने हिंदुत्व की जिस राजनीति का आगाज़ किया था, वह भी नाकामी के कगार पर खड़ी है। आज जनता को रामशिलाएँ अयोध्या ले जाने के लिए तैयार करने का समय निकल चुका है।

देखें : केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. वाल्टर के. ऐंडरसन और श्रीधर डी. दामले (1987), *ब्रदरहुड इन सेफ़रन* : द राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ऐंड हिंदू रिवाइवलिज़म, विस्तार पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
2. प्रलय क्रानूनगो (2002), *ट्रिस्ट विद पॉलिटिक्स* : फ़ॉर्म हेडगेवार टु सुदर्शन, मनोहर, नयी दिल्ली.
3. क्रिस्टोफ़ जैफ़्रेलो (1987), *हिंदू नैशनलिज़म* : अ रीडर, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस.
4. के.आर. मलकानी (1980), *द आरएसएस स्टोरी*, इम्पेक्स, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता

(Rashtriya Sanskritik Kavita)

आधुनिक हिंदी साहित्य की एक उल्लेखनीय प्रवृत्ति है राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता। श्रोताओं और पाठकों के बीच अत्यंत लोकप्रिय इस कविता को 'राष्ट्र-प्रेम' और 'देशभक्ति' की कविता कह कर कुछ तिरस्कार के साथ कमतर समझ कर कोने में डाल दिया जाता है। यदाकदा इसके ऊपर दक्षिणपंथी होने का बिल्ला भी चस्पाँ किया गया है। लेकिन हिंदी के छोटे-बड़े, महत्त्वपूर्ण या मामूली कवियों ने, यहाँ तक कि वामपंथी और क्रांतिकारी समझे जाने वाले कवियों ने भी अपने कृतित्व से इस प्रवृत्ति में कभी न कभी योगदान अवश्य किया है। दरअसल, इस काव्य-प्रवृत्ति पर अभी तक कोई गंभीर शोध नहीं हुआ है। इस कविता ने उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में प्रेरणादायी भूमिका का निर्वाह किया और उन दिनों जातीय-स्मृति और जातीय-चेतना के अखण्डवत स्वरूपों की दावेदारी की जब भारतीय राष्ट्र मुख्य रूप से स्वतंत्रता सेनानियों के सपनों में ही बन रहा था। दरअसल, इस कविता की आधार-भूमि भारतेंदु युग में ही बननी शुरू हो गयी थी। 'भारत दुर्दशा न देखी जाई' के परिवेश में भारतेंदु और उनके युग के सभी कवियों ने उपनिवेशवाद विरोधी कविता और नाटकों का सृजन किया। 'सब रस लिए जात अंगरेज' का भारतेंदु-स्वर जनता की समझ में आने लगा। इसके बाद द्विवेदी युग में विशेष रूप से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता ने शिखर छुए। आज उस युग के कई कवियों के नाम 'राष्ट्र-कवि' के आदरयुक्त सम्बोधन के साथ लिए जाते हैं। आज़ादी के बाद यह कविता एक भिन्न भाषा में निर्मल वर्मा के शब्दों में 'भारतीय होने का अर्थ' तलाशती हुई आयी। दरअसल, यह राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद, कुण्ठा, संत्रास, अकेलेपन वगैरह के बजाय राष्ट्रीय एकता-अखण्डता के प्रति अधिक सरोकार रखती थी और इसने स्वतंत्रता के तुरंत बाद के दशकों में प्रतीक, प्रबंध और गेयता के माध्यम से कई तरह के सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों को स्पर्श किया।

भारतेंदु-युग की कविता में राष्ट्रीयता-स्वतंत्रता की भावना समाज-सुधार के चिंतन से गुँथी हुई है। 'ये धन विदेश विदेश चलि जात इहै अति खारी' का भाव सामने आने लगा है। आलोचकों ने भारतेंदु-युग के कवियों की राष्ट्रीयता को सीमित अर्थ में हिंदू राष्ट्रीयता के आईने में भी देखा है, पर उसमें सभी को साथ लेकर बढ़ने का भाव भी था। 'भारत की डूबी नाव उबारौ कोई' की पुकार वहाँ सुनायी देती है। भारतेंदु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त की

कविताओं में भाषा-प्रेम, प्रकृति-प्रेम और देश-प्रेम का संयुक्त सौंदर्य-राग है। ठाकुर मोहन सिंह ने भी परम्परागत प्रकृति-वर्णन अपनाते से परहेज़ नहीं किया है। भारतेंदु-युग की शृंगारिक कविता में भी रीतिकालीन केलि-क्रीड़ा का वर्णन नहीं है। वस्तुतः भारतेंदुयुगीन सृजन में सामाजिक-राजनीतिक चिंताओं, समस्याओं को प्रमुखता से अभिव्यक्ति मिली है। उस समय की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का यही मुख्य स्वर है।

द्विवेदी-युग में आकर गद्य-पद्य दोनों की भाषा खड़ी बोली हो गयी। हिंदी प्रदेशों से पूरा स्वाधीनता-संग्राम खड़ी बोली में लड़ा गया। इस तरह खड़ी बोली की साहित्य में प्रतिष्ठा द्विवेदी युग की सबसे बड़ी देशभक्ति से भरी घटना है। उस काल के सभी कवियों ने, द्विवेदी मण्डल के कवि और द्विवेदी मण्डल से बाहर के, श्रीधर पाठक, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, श्यामनारायण पाण्डेय, गोपालशरण सिंह, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय ने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता लिख कर खड़ी बोली का विकास-परिष्कार किया। इस युग में मैथिलीशरण गुप्त का *जयद्रथ-वध* और *भारत-भारती*, रामनरेश त्रिपाठी की कृति *पथिक* तो इतना प्रसिद्ध हुआ कि खड़ी बोली बोलने वालों के कण्ठ में उतर गयी। हरिऔध ने काव्य-भाषा में कई तरह के प्रयोग किये। संस्कृत-प्रधान, उर्दू-प्रधान, बोलचाल की काव्य-शैली। इसीलिए वे 'कवि सम्राट' कहलाये।

द्विवेदी-युग की इस कविता में 'समाज' बहुत है। समाज-सुधार और जागरण-युग की हलचल में राष्ट्रीयता का स्थान प्रमुख है। इस राष्ट्रीयता में उपेक्षितों की हिस्सेदारी भी इस कविता के माध्यम से सामने आती है। श्रीधर पाठक ने विधवाओं-अनाथों की समस्या को उठाया, तो हरिऔध और नाथूराम शर्मा शंकर ने सामाजिक विषयों पर लिखा। मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त ने अपनी रचनाओं में नारी जागरण, उपेक्षिताओं के उद्धार और दलित-दमित-अछूत समस्या को स्पर्श किया। दीन-दलित या शोषित-प्रताड़ित, भुखमरी-अकाल से पीड़ित समाज की समस्या पर रामनरेश त्रिपाठी ने प्रभावशाली काव्य-सृजन किया : 'मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुंज और वन में / तू खोजता मुझे था तब दीन के सदन में। तू आह बनकर किसी की मुझको पुकारता था / मैं था तुझे बुलाता संगीत के भवन में'। उस समय गोपालशरण नेपाली गा रहे थे, 'जग की सेवा करना ही है बस सब सारों का सार। विश्व-प्रेम बंधन में ही मुझ को मिला मुक्ति का द्वार'।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के इस संस्करण ने अपनी देशभक्ति भावना को राम और कृष्ण, शिव और पार्वती, राणाप्रताप और शिवाजी, पौराणिक-ऐतिहासिक-प्रतीकों-

मिथकों-आख्यानों से व्यक्त किया। सभी परम्परागत चरित्रों को नव-दृष्टि से नया रूप-रंग दिया। यह जरूर है कि कहीं-कहीं इतिवृत्तात्मक कविता ने उपदेशात्मक रूप ग्रहण कर लिया, लेकिन इस कविता का स्थाई भाव देश-प्रेम और मानवतावाद था। इन कवियों ने अतीत में जाकर वर्तमान की आराधना की। *भारत भारती*, *पंचवटी* और *साकेत* के कवि मैथिलीशरण गुप्त ने सिक्ख गुरुओं के स्मरण पर काव्य रचा और मुहम्मद साहब पर *काबा-क़र्बला*, चैतन्य महाप्रभु की पत्नी पर *विष्णु-प्रिया* की रचना की और बुद्धकाल में जाकर *यशोधरा* लिखी। वैदिक-युग में जाकर वे *नहुष* रचते हैं। कार्ल मार्क्स की पत्नी जैनी पर भी कविता लिखते हैं। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की और अंग्रेज़ी भाषा की भी उन्होंने खूब खबर ली। गाँधी ने खूब समझ-बूझ कर 'मैथिली मानग्रंथ' भेंट करते हुए उन्हें 'राष्ट्रकवि' की उपाधि दी थी। गुप्तजी रामायण, महाभारत काल में ही नहीं रमते, वे उपेक्षिताओं के उद्धार और नारी-जागरण के कवि भी हैं। वामपंथी आलोचकों द्वारा बनायी गयी उनकी 'हिंदू कवि' की छवि में उनकी यह विविधता नहीं अँटती।

इस परम्परा को एक नया स्वर तब मिला जब हिंदी कविता के मंच पर माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, भगवतीचरण वर्मा, नरेंद्र शर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, रामधरी सिंह दिनकर, हरिवंशराय बच्चन का जोरदार प्रवेश हुआ। इन सभी ने राष्ट्र के यौवन की कविता लिखी। यह प्रबंध कविता का युग था जिसमें स्वाधीनता आंदोलन की जवान लय को संवेदनात्मक धरातल पर महसूस किया जा सकता था। छायावाद (1920 से 1936) की कविता भी एक दृष्टि से द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का विस्तार-परिष्कार है। इस युग की बहुत सी कविताओं का केंद्रीय भाव है देशभक्ति। इस कविता में 'उत्साह' की प्रधानता है और राग-रस में देश-प्रेम की अभिव्यक्ति है। यह व्यक्तिपरक कविता न होकर लोक-मंगल की साधनावस्था की कविता है। कविताओं में 'स्व' का विस्तार विश्व-प्रेम तक है। छायावादी कवियों ने देश का गौरव-गान प्रसाद के गीत 'हिमालय के आँगन' में और 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' के रूप में गाया। साथ ही 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती/स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती' का जयघोष भी हुआ। प्रसाद-निराला में देशभक्ति ने साकार रूप ग्रहण किया। छायावाद के सभी कवियों की 'जागो-जागो' की पुकार ने सांस्कृतिक नवजागरण को अर्थ-प्रकाश दिया।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता में देशवासियों के प्रति राग का विस्तार कवियों का ध्यान जनता के कष्टों-अभावों-यातनाओं की ओर ले जाता है। गाँधी के नेतृत्व में प्रांतीयता, साम्प्रदायिकता से ऊपर उठ कर पूरा देश एक इकाई के रूप में संगठित हुआ था और राजनीतिक-चेतना विस्तृत हुई थी।

गाना फूट पड़ा 'अब लौ यही लगन लगी थी हर जवान को/ आजाद करके छोड़ेंगे हिंदुस्तान को'। माखनलाल चतुर्वेदी की ये पंक्तियाँ अविस्मरणीय हैं : 'तन में आग, आँख में मस्ती, ओठों पर मनचाही/कैसे रुकूँ देश-सेवा में मैं हूँ एक सिपाही'। राजपूत, मराठा और जाट योद्धाओं पर लिखी गयी कविता भी देशभक्ति की कोटि में आती है। छत्रसाल और शिवाजी के युद्धों में भी राष्ट्रीयता के दर्शन किये गये।

देशभक्ति की कविता में राग-चेतना, साहसपूर्ण उमंग और बलिदान के आह्वान का भाव रहता है। 'मातृ मंदिर में हुई पुकार/चढ़ा दो मुझको हे भगवान' (सुभद्राकुमारी चौहान) और 'मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर तुम देना फेंक' (माखनलाल चतुर्वेदी) की विख्यात कविताएँ इसी श्रेणी में आती हैं। सोहनलाल द्विवेदी की काव्य पुकार थी : 'बिना चढ़ाये शीश नहीं टूटेगी माँ कड़ियाँ'। इन सोहनलाल द्विवेदी से भवानी प्रसाद मिश्र ने बहुत कुछ पाया और देशभक्तिभाव को पुष्ट किया। 'शीश दान' के 'पाठ' में निहित अनेक भाव भवानी बाबू में मिलते हैं। आल्हाखण्ड की एक परम्परा मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी और भवानी प्रसाद मिश्र में नयी-नयी छवियों के साथ अवतरित होती रहती है।

राष्ट्रवाद का एक रूप है सांस्कृतिक प्रतीकों से नये अर्थ की तलाश। देश की भक्ति का मूर्त रूप इन प्रतीकों से ही सामने आता है, जैसे हिमालय, गंगा, नर्मदा, प्रयाग, मथुरा, द्वारका, दिल्ली, चित्तौड़, हल्दीघाटी, झाँसी आदि से जुड़े प्रतीक। मैथिलीशरण गुप्त से लेकर निराला तक हमारे सभी कवियों ने मातृभूमि-वंदना की है। यहाँ बंकिम और रवींद्रनाथ की प्रेरणा भी सक्रिय दिखती है। निराला ने 'भारति जय विजय करे' में 'मुकुट शुभ्र हिम तुषार/ प्राण प्रणव ओंकार/ ध्वनित दिशाएँ उदार/ शतमुख शतरव मुखरे' का स्वर उठाया। पंत ने 'भारतमाता ग्रामवासिनी' कहकर देश की मूल चिंता का संकेत किया। पूरी कविता में मटमैले उदास चित्र हैं। भारतमाता के साथ हिमालय और गंगा भी हैं, प्रयाग और पानीपत भी। दिनकर की 'हिमालय' और 'पाटलिपुत्र की गंगा', 'दिल्ली' आदि कविताएँ भी प्रसिद्ध रही हैं।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य,

सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास।

संदर्भ

1. विजयदेव नारायण साही (1987), *छठवाँ दशक*, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद.
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1993), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
3. डॉ. नगेंद्र (1968), *आस्था के चरण*, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
4. नंदकिशोर आचार्य (2012), *स्वराज के सवाल*, सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर.
5. स.ही. वात्स्यायन अज्ञेय (1986), *स्मृति-लेखा*, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

— कृष्णदत्त पालीवाल

राहुल सांकृत्यायन

(Rahul Sankrityayan)

महापण्डित की उपाधि से विख्यात राहुल सांकृत्यायन (1893-1963) स्वातंत्र्योत्तर भारत के ऐसे बहुश्रुत विद्वान और साहित्यकार थे कि उनके योगदान को किसी एक अनुशासन में नहीं बाँधा जा सकता। इतिहासज्ञ, भाषाविद् और पुरातत्त्ववेत्ता होने के साथ-साथ उनके दर्शन, साहित्य और संस्कृति विषयक ज्ञान का पारावार नहीं था। 1961 में प्रकाशित उनकी कृति *दर्शन-दिग्दर्शन* से उनके दार्शनिक अध्यवसाय का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। *घुमक्कड़शास्त्र* जैसी अनूठी पुस्तक के रचयिता राहुल एक अथक यायावर थे। मध्य एशिया और तिब्बत की गुफाओं में जा कर उन्होंने बौद्ध दर्शन की पाण्डुलिपियाँ जमा करने और के.पी. जायसवाल इंस्टीट्यूट, पटना का सहयोग पाकर उनका पुनरुद्धार करने का अपूर्व उद्यम किया जिससे स्वातंत्र्योत्तर भारत में बौद्ध दर्शन और बौद्ध न्याय के अध्ययन को एक आधारभूमि प्राप्त हुई। उन्होंने बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद का वैचारिक संश्रय निकालने का उद्यम भी किया। हर क्षण अध्यवसायी राहुल का कहना था कि एक ही जन्म मिला है इसलिए इसमें जो चाहो कर लो। उन्होंने समाज-संस्कृति-परम्परा को आजीवन चुनौतियाँ दीं। हिंदी भाषी क्षेत्रों में बदलाव की गति धीमी थी और रूढ़िवाद जड़ जमाये था। बुद्ध और कबीर की परम्परा स्मृति में ही रह गयी थी। राहुल

ने इस क्षेत्र को अपने चिंतन से झकझोरा और सांस्कृतिक जागरण के अग्रदूत बने। हिंदी के प्रश्न कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता छोड़ने वाले राहुल ने इस भाषा को डेढ़ सौ ग्रंथों का विशाल वांडमय दिया। उनकी गति कामशास्त्र, तंत्रवाद, बौद्ध दर्शन, संत-सिद्ध चिंतन के समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शन, धर्म-संस्कृति, साहित्य-कला सभी में थी; और वे इनका अपने ढंग से भाष्य करने में सक्षम थे। गाँवों की परम्परा, संस्कृति, समाज, इतिहास पर ध्यान देने वाले भारतीय विद्वानों में अग्रणी राहुल ने *वोल्गा से गंगा* जैसा अद्भुत उपन्यास लिखा जिसके केंद्र में संस्कृतियों का संवाद था। राहुल का व्यक्तित्व और कृतित्व मुक्त-विचार प्रवाह, प्रभाव-ग्रहण से ज्ञान-सम्पदा और मानवीयता के विस्तार का संदेश देता है। उनका साहित्य और विमर्श हमारे सामने एक ऐसा मानव पेश करता है जो सार्वदेशिक है।

राहुल सांकृत्यायन वर्तमान उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पंद्रहा ग्राम में गोवर्धन पाण्डे और कुलवंती के घर पैदा हुए। पिता से मिला नाम था केदारनाथ पाण्डे। 1930 के आसपास जब वे बौद्ध हुए तो उनका नाम राहुल पड़ा। बौद्ध होने से पूर्व राहुल जी दामोदर शास्त्री के नाम से भी पुकारे जाते थे। राहुल के साथ सांकृत्यायन इसलिए लगा कि उनका पितृकुल सांकृत्य गोत्रीय था। उनके नाना राम शरण पाठक ने गाँव में ही राहुल को आरम्भिक शिक्षा दिलवायी। उनके पास बालक राहुल को सुनाने के लिए अनेक कहानियाँ थीं। कभी शिकार के वृत्तांत, कभी नदियों के वर्णन, कभी अजंता-एलोरा की किंवदंतियाँ। राहुल ने दर्जा तीन की उर्दू पुस्तक में नवा ज़िंदा-वाज़िंदा का शेर पढ़ा— 'सैर कर दुनिया की गाफ़िल फिर कहाँ, ज़िंदगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ।' यह विचार उनके दिल-दिमाग में स्थाई रूप से बस गया और वे चिर-यायावर हो गये। कुछ समय पश्चात् घर छोड़ कर वे वाराणसी चले गये। वहाँ जाकर मंदिर में रहे, संतों का साथ किया। जम कर संस्कृत-व्याकरण, भाषा साहित्य का अध्ययन किया। तंत्रशास्त्र में रमे और उसे मथ डाला। कामशास्त्र का ग्रंथ हाथ लगा *अनंगराग*, तो उस पर भी गहन चिंतन किया।

राहुल ने अपनी विख्यात रचना *वोल्गा से गंगा* की बीस कहानियों द्वारा उन्होंने सात-आठ हजार साल के समूचे भारतीय इतिहास की एक अपूर्व झलक उपस्थित की। उन्होंने जो बीस कहानियाँ चुनीं उनका विस्तार प्रागैतिहासिक काल से लेकर 1942 तक है। उन्होंने दिखाया कि भारत कहाँ से चल कर, कहाँ-किस दिशा में जा रहा है। एक राहुल वह है जो अपने गाँव कनैला की कथा कहता है और वोल्गा से गंगा की तरह प्रागैतिहासिक काल से चल कर वर्तमान तक आता है। अपने पुरातत्व ज्ञान के सहारे सब कुछ खोजता हुआ आर्यों के आदि देश पर विचार करता है। इस गाँव की कथा के



राहुल सांकृत्यायन (1893-1963)

माध्यम से राहुल ने यह भी कहा कि कैसे भारत में अनेक नस्लों-जातियों का संगम हुआ। कनैला गाँव की इस कहानी में संस्कृति-सभ्यता के न जाने कितने पाठ मौजूद हैं। गाँव की कथा में राहुल ने ध्यान दिलाया कि इस गाँव में जैन, बौद्ध, अबौद्ध सभी तरह की मूर्तियाँ मिलती हैं। यह ग्राम-संस्कृति सच्चे अर्थों में अनेकता में एकता का सौंदर्य जीती रही है।

राहुल की जीवन-यात्रा स्वयं में एक बड़ा 'पाठ' है, जिसे ठीक से पढ़ पाना चुनौती है। वे वाराणसी से कोलकाता गये, घूमे-फिरे और फिर कोलकाता आने के बाद हिमालय यात्रा पर निकल गये। 1910 से 1914 तक हिमालय तथा वैराग्य का संत-राग चलता रहा। मन से विवश यह यायावर दक्षिण-भारत की यात्रा को निकल पड़ा। बीच में मुसाफिर विद्यालय, आगरा आकर फिर पढ़ाई की और ऊब कर लाहौर गये। फिर यायावरी ने जोर मारा। कुर्ग में रहे। 1921-27 के बीच राजनीति की। बाढ़ पीड़ितों की सेवा की और सत्याग्रह-आंदोलन में छह माह की जेल काटी। असहयोग आंदोलन में जेल जाने वाले वे पहले लेखक थे। उसके बाद तो मैथिलीशरण गुप्त, जैनेंद्र, भवानी प्रसाद मिश्र और अज्ञेय

आदि अनेक लेखक सत्याग्रह में जेल गये। राजनीति से मन उचाट होने पर लंका के लिए प्रस्थान कर गये। नेपाल में अज्ञातवास जिया, तिब्बत गये और वहाँ सवा बरस रहे। सत्याग्रह में भाग लेने के लिए वापस आये और फिर लंका चले गये। 1932-33 में युरोप यात्रा पर गये। फिर लद्दाख, तिब्बत, जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत भूमि की यात्राएँ कीं। 1934 में किसान मजदूर आंदोलन-में भाग लिया। फिर 1940 में जेल यात्रा की। इसके बाद पुनः सोवियत रूस, चीन और लंका का सफर किया।

राहुल ने अपने उद्यम से दक्खिनी हिंदी साहित्य और अपभ्रंश काव्य साहित्य जैसी लुप्तप्राय निधि का उद्धार किया। उन्होंने प्राचीन-अर्वाचीन इतिहास के उन अंगों पर प्रकाश डाला जिन पर अब तक ध्यान ही नहीं गया था। उन्होंने मध्य एशिया का इतिहास लगभग पाँच हजार पृष्ठों का ऐसा विशालकाय ग्रंथ लिखा जिसकी टक्कर का कोई ग्रंथ भारतीय भाषाओं में नहीं है। लगभग दो दशकों तक वे इस ग्रंथ के लिए सामग्री एकत्रित करते रहे। उसके लिए अनेक भाषाएँ सीखीं। अब उस ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद हो रहा है। राहुल संस्कृत में छंदोबद्ध-कविताएँ रचते थे। लेकिन संस्कृत का अतिक्रमण करके वे पालि की ओर गये। फिर पालि का अतिक्रमण करके अपभ्रंश की ओर। हिंदी में राहुल पहली हस्ती हैं जिन्होंने *हिंदी काव्यधारा* नामक पुस्तक में सरहयादाचार्य, कष्णापादाचार्य, स्वयंभू और पुष्पदंत से लेकर अनेक जैन-मुनियों, बौद्ध-सिद्धों और नाथों की परम्परा को खोज कर प्रस्तुत किया है। साथ ही यह विचार भी स्पष्ट किया है कि केवल वेद-वेदांत ही भारतीय परम्परा नहीं है। राहुल के अनुसार वेदों में गोमांस भक्षण है, सोमपान है, प्रकृति के विराटत्व की पूजा है, सूर्य-इंद्र को नमन है। उपनिषदों में पुनर्जन्म की चर्चा है और उसका निषेध भी। वेद-पुराणों में ही राहुल ने 'प्रभा' जैसी अमर कहानी को पाया जो अश्वघोष के बारे में है। भारतीय-संस्कृति में लोकधर्मी परम्पराओं का भी बहुत कुछ मूल्यवान मिला हुआ है। वेद-विरोधी बुद्ध के बिना भारतीय संस्कृति का इतिहास पूरा नहीं होता। राहुल बुद्ध से मार्क्स को जोड़ना चाहते थे, किंतु इस जोड़ की गाँठों पर भी उनका ध्यान था।

राहुल ने प्रचुर लेखन किया है जिसमें अनेकानेक विषयों पर पुस्तकें हैं। विषयों की विविधता देखकर चकित होना पड़ता है। उन्होंने उपन्यास और कहानियाँ लिखीं। इनमें *जीने के लिए, विस्मृतयात्री, वोल्गा से गंगा, कनैला की कथा* आदि प्रमुख हैं। उन्होंने अनुवाद भी खूब किया। *शैतान की आँख, विस्मृति के गर्भ में, जादू का मुल्क, सोने की ढाल, जो दास थे, अनाथ और सूदखोर की मौत* प्रमुख अनूदित रचनाएँ हैं। उनके द्वारा लिखीं अनेक जीवनियाँ काफ़ी चर्चित हुईं। इनमें *मेरी जीवन यात्रा (दो खण्ड), बचपन की स्मृतियाँ,*

अतीत से वर्तमान, स्तालिन, कार्ल मार्क्स, लेनिन, माओ त्से तुंग, असहयोग के मेरे साथी, जिनका मैं कृतज्ञ प्रमुख हूँ। यायावरी से संचित अनुभवों को भी अनेक रचनाओं में साकार किया जो देश-विदेश के बारे में जानकारी और ज्ञान बढ़ाने वाली हैं। घुमक्कड़ शास्त्र तो काफ़ी मशहूर रचना है। इसके अलावा सोवियत भूमि (दो खण्ड), सोवियत मध्य एशिया, किन्नर देश में, नेपाल, हिमालय प्रदेश, आजमगढ़ और पुरातत्व जैसी अनेक पुस्तकें लिखीं। यहाँ मेरी लदाख यात्रा, लंका यात्रावली, तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी युरोप यात्रा, मेरी तिब्बत यात्रा, यात्रा के पन्ने, जापान, रूस में पच्चीस मास, एशिया के दुर्गम खण्डों में जैसी महत्वपूर्ण पुस्तकों का उल्लेख करना ज़रूरी है। इसके अलावा राजनीति, धर्म, धर्मशास्त्र, दर्शन, भाषा, इतिहास आदि पर कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें इस तरह हैं— राजनीति साम्यवाद, बाईसवीं सदी, साम्यवाद ही क्यों, दिमागी गुलामी, क्या करें, सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, आज की समस्याएँ, भागो नहीं दुनिया को बदलो, कम्युनिस्ट क्या चाहते हैं?, विश्व की रूपरेखा, इस्लाम धर्म की रूपरेखा, तिब्बत में बौद्ध धर्म, पुरातत्व निबंधावलि, हिंदी काव्य-धारा (अपभ्रंश), बौद्ध संस्कृति, बौद्ध दर्शन, साहित्य निबंधावलि, हिंदी की कहानियाँ, दक्खिनी हिंदी काव्य-धारा, ऋग्वैदिक आर्य और भारत में अंग्रेजी राज्य के संस्थापक। संस्कृत साहित्य पर भी उन्होंने काफ़ी काम किया। इस क्षेत्र में उनकी पुस्तकें हैं : संस्कृत पाठमाला, अभिधर्म कोश टीका, विज्ञप्तिमात्रता सिद्ध, प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति, हेतु बिंदु, महापरिनिर्वाण सूत्र, संस्कृतकाव्य धारा, प्रमाणवार्तिक (अंग्रेजी), तिब्बती व्याकरण। राहुल एक साल में कई-कई पुस्तकें लिखते थे।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा।

संदर्भ

1. धीरेंद्र वर्मा (सम्पा.) (1963), हिंदी साहित्य कोश भाग-2, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी.
2. नामवर सिंह (1955), आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. राहुल सांकृत्यायन (1944), हिंदी काव्यधारा, किताब महल, इलाहाबाद.

— कृष्णदत्त पालीवाल

रियलिटी टीवी

(Reality Television)

आधुनिक समाज में यथार्थ को उसके अनगढ़ रूप में देखने और महसूस करने की कितनी ज़बरदस्त भूख है, इसका अंदाज़ा दुनिया भर में रियलिटी टेलीविज़न की हाई रेटिंग से लगाया जा सकता है। यह एक ऐसा माध्यम है जिसे टीवी अध्ययन के विद्वानों ने आधुनिक युग के मौजूदा चरण के लिए सर्वथा उपयुक्त करार दिया है। टीवी का यह संस्करण एक ऐसा सांस्कृतिक स्पेस मुहैया कराता है जिसमें समकालीन व्यग्रताओं को मनोरंजन की शक्ल-सूरत में एक तयशुदा नाटकीय संरचना के तहत खुल कर खेलने दिया जाता है। उपग्रहीय मनोरंजन चैनलों पर प्रसारित किये जाने वाले ये कार्यक्रम जो न तो वृत्त-चित्र जैसे होते हैं, और न ही उन्हें कथा-चित्र की परम्परा में बनाया जाता है। इन कार्यक्रमों में किसी गुज़र चुकी घटना का वर्णन नहीं होता। न ही कोई किसी किरदार का अभिनय करता है। इनकी विषय-वस्तु समाज के विभिन्न वर्गों से आने वाले वास्तविक लोगों, उनकी असली जीवन-स्थितियों और आम तौर पर अनाम रहने वाले लोगों के प्रथम-पुरुष वृत्तांतों के इर्द-गिर्द बुनी जाती है। अपनी कहानी कहने के लिए वे लोग खुद टीवी-स्क्रीन पर आते हैं। टीवी का कैमरा इन लोगों के जीवन के एक अंश में अपनी ख़ास निगाह से झाँकता है जिसके कारण इन कार्यक्रमों को एक ख़ास तरह की प्रामाणिकता मिल जाती है।

रूप के लिहाज़ से रियलिटी टीवी में कई तरह की शैलियों का मिश्रण होता है। इसमें वृत्त चित्रात्मकता के पहलू तो हैं ही, उनके साथ खोजी पत्रकारिता के रोमांचक पहलुओं का समावेश भी किया जाता है। रियलिटी टीवी में टेबिलॉयड पत्रकारिता की सनसनी, कैमकॉर्डर (घरेलू मूवी कैमरा) के माध्यम से यथार्थ का अंकन करने वाला कार्यकर्तापन और सामाजिक कार्रवाई में निहित डॉक्यूड्रामा के पहलू समाविष्ट रहते हैं। रियलिटी टीवी ने गेम-शो की शैली को 'बिग बॉस' या 'बिग ब्रदर' के रूप में आत्मसात् कर लिया है। दिलचस्प बात यह है कि अगर दर्शकों के सामने परोसा गया फुटेज ख़राब क्वालिटी का है, तो वे उसे यथार्थ का और भी प्रामाणिक नमूना मान कर ग्रहण करते हैं। इसलिए हिलता हुआ कैमरा, ख़राब प्रकाश-योजना, ध्वनि प्रसारण की विकृतियाँ, केंद्र से हिली हुई फ्रेमिंग, टूटा-फूटा सम्पादन मनोरंजन के किसी भी अन्य कार्यक्रम को भले ही डुबा दे, पर रियलिटी टीवी के लिए वरदान का काम करता है।

भारत में इक्कीसवीं सदी के टीवी-मनोरंजन की दुनिया में रियलिटी टीवी अपनी बेतहाशा लोकप्रियता के

कारण व्यावसायिक प्रतिष्ठा कायम कर चुका है। मोटे तौर पर इसकी शुरुआत नब्बे के दशक के उत्तरार्ध में फ़िल्मी गीतों के गायन की एक प्रतियोगिता 'सा रे गा मा' और फ़िल्मी गानों पर ही आधारित अंत्याक्षरी के लोकप्रिय कार्यक्रमों से हुई थी। जल्दी ही टीवी प्रोड्यूसरों को इनकी व्यावसायिक सम्भावनाओं का एहसास हो गया। नये-नये रियलिटी कार्यक्रमों की संकल्पना करना उनके लिए मुश्किल नहीं था, क्योंकि अमेरिका में इस तरह का टीवी अस्सी के दशक में ही अपने झंडे गाड़ चुका था। नब्बे के दशक में अमेरिकी 'बिग ब्रदर' के प्रसारण के बाद टीवी मनोरंजन की यह शैली दूसरे देशों द्वारा भी अपनायी जाने लगी। देखते ही देखते अमेरिकी तर्ज़ पर भारत में भी साधारण लोगों की संगीत और नृत्य प्रतिभा को प्रतियोगिता के मंच पर लाने वाला, उनके सामान्य ज्ञान की परीक्षा करने वाला, जोखिम और खतरों से खेलने की प्रवृत्तियों और सेक्शुअल जीवन समेत निजी रिश्तों की उलझनों पर रोशनी डालने वाला रियलिटी टीवी अपने विविध रंगों में उभर आया।

इसमें कोई शक नहीं है कि रियलिटी टीवी ने समाज में छिपी हुई प्रतिभाओं को बाहर निकालने के माध्यम की भूमिका निभाई है। साथ ही इसके जरिये बहुत सी अनाम जिंदगियों को सार्वजनिक पहचान भी मिली है। कम से कम एक हद तक टीवी को काल्पनिक की जगह तथ्यात्मक प्रोग्रामिंग की तरफ धकेलने का काम भी रियलिटी टीवी की कामयाबी ने किया है।

इस टीवी ने बाज़ारू संस्कृति के क्षेत्र में एक तरह के टीवी-लोकतंत्र की संरचना भी खड़ी कर दी है जिसके तहत टीवी दर्शकों के वोटों से सफल या विफल प्रतियोगियों का फैसला होता है। रियलिटी टीवी के इस पहलू के राजनीतिक मायने भी हैं। ग़ैर-लोकतांत्रिक शासन वाले कई देशों में रियलिटी टीवी के माध्यम से ही आम लोगों ने पहली बार वोटिंग का स्वाद चखा है। चीन में अमेरिकी 'पॉप आइडल' की तर्ज़ पर बने रियलिटी टीवी शो 'सुपर गर्ल' में अस्सी लाख लोगों ने एसएमएस की जरिये वोट डाले। चीनी सरकार ने इस शो की आलोचना की और इसमें निहित लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों व 'अत्यधिक अश्लीलता' के कारण इसे 2006 में प्रतिबंधित कर दिया। अरब देशों में प्रसारित होने वाले 'स्टार एकेडमी अरब वर्ल्ड' नामक रियलिटी शो में सामाजिक मर्यादाओं को चुनौती देते हुए अनजान स्त्री-पुरुषों को साथ-साथ रहते हुए दिखाया गया था। लेकिन, 'बिग ब्रदर' का अरब संस्करण 2004 में काफ़ी विरोध के बाद प्रतिबंधित कर दिया गया।

टीवी अध्ययन के विद्वानों का कहना है कि यह शैली टीवी के लिए सर्वथा नयी घटना नहीं है। तत्काल और आँखों

देखा हाल दिखाने की क्षमता हमेशा से टीवी के सौंदर्यशास्त्र का अंग रही है। टीवी ने शुरू से ही खुद को एक ऐसे माध्यम के रूप में स्थापित किया है जो अन्य माध्यमों के मुकाबले यथार्थ के अधिक नज़दीक जा सकता है। वह अखबारी मीडिया की तरह घटनाओं के पीछे ही नहीं भागता, बल्कि रिंग ऑपरेशन की जगह घटनाएँ गढ़ता भी है। 1948 में एलेन फुंट ने 'कैंडिड कैमरा' नाम का एक कार्यक्रम बनाया था जिसे रियलिटी टीवी के पितामह की हैसियत मिली हुई है। इस कार्यक्रम में कैमरे से लैस टीवी वालों का दल किसी भी व्यक्ति को हास्यजनक परिस्थिति में फँसा लेता था। इस तरह के रियलिटी टीवी कार्यक्रम भारतीय दर्शकों ने भी 'एमटीवी बकरा' के रूप में देख रखे हैं। पचास के दशक में 'बीट द क्लॉक' और 'ट्रुथ ऑर कांसिक्वेंसिज़' जैसे गेम-शो प्रसारित किये गये जिनकी आज तक सारी दुनिया में नकल की जाती है। टीवी के साथ एक वैसी दैनंदिनीयता जुड़ी हुई है जैसी परिवार की भीतरी जिंदगी में समाई रहती है। यह रोज़ानापन और अनगढ़ यथार्थ को प्रसारित करने की क्षमता से इस माध्यम को समकालीनता प्राप्त होती है।

रियलिटी टीवी के समाजवैज्ञानिक आख्यान का मुख्य तौर से चार हिस्सों में बाँट कर जायज़ा लिया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि टेलीविज़न प्रोड्यूसर समकालीन सामाजिक जीवन के ऐसे पहलुओं को दिखाना पसंद करता है जो रूचि के निष्कृष्टतम खाने में फिट हो सकें। इसके लिए वह बिना किसी हिचक के दृश्यात्मकता का सहारा लेता है। दूसरा पक्ष रियलिटी टीवी के 'डैमोक्रेटमेंट' वाले पहलुओं पर जोर देता है। वह कहता है कि पारम्परिक क्रिस्म के तथ्यात्मक टीवी में सहभागी पहलू नहीं थे जिन्हें संचार क्रांति ने सम्भव बना दिया है। चूँकि यह टीवी वास्तविक लोगों, उनकी वास्तविक जिंदगी, वास्तविक मनोभावों और उनके जीवन के वास्तविक अनुभवों का इस्तेमाल करता है, इसलिए उसे अधिक लोकतांत्रिक माध्यम के रूप में परिभाषित करने में कोई जोखिम नहीं है। तीसरा पहलू रियलिटी टीवी की नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व के सवाल उठाता है। इस पक्ष का कहना है कि रियलिटी टीवी मानवीय दुखों और त्रासदियों को दर्शनीय बना कर परोसने की समस्या से ग्रस्त है। चौथी आलोचना कहती है कि रियलिटी टीवी एक ऐसे अराजक समाज का मॉडल पेश करता है जिसका कोई केंद्र नहीं है और अनैतिहासिक एवं भविष्यहीन है। इस लिहाज़ से रियलिटी टीवी सामाजिक-ऐतिहासिक, राजनीतिक और आर्थिक संदर्भों की रियलिटी से कतराने की कोशिश का नाम है।

रियलिटी टीवी एक ग्लोबल परिघटना बन चुका है। अमेरिकी के 'बिग ब्रदर' और 'पॉप आइडियल' जैसे कार्यक्रम ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया, फ्रांस और युरोप के अन्य हिस्सों में न केवल प्रसारित होते हैं बल्कि दिलचस्पी से देखे

भी जाते हैं। इसकी लोकप्रियता के कारणों को समझने के लिए टेक्स्चुअल, सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक और प्रौद्योगिकीय कारकों की बहुअनुशासनीय परख आवश्यक है।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवांगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. एम. आंद्रेजेविक (2003), *रियलिटी टीवी : द वर्क ऑफ़ बीइंग वाचड, रोमैने ऐंड लिटिल फ़ील्ड*, न्यूयॉर्क.
2. ए. बिरेसी और एच. नुन (2004), *रियलिटी टीवी : रियलिज़्म ऐंड रेवेलेशन*, वालफ़्लॉवर प्रेस, लंदन.
3. जे. बिगनेल, *बिग ब्रदर : रियलिटी टीवी इन ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी*, पालग्रेव मैकमिलन (2005), हैमशायर.
4. सी. कालवर्ट (2000), *वॉयर नेशन : मीडिया, प्राइव्सी ऐंड पीयरिंग इन मॉडर्न कल्चर*, वेस्टव्यू प्रेस, कोलराडो.
5. एनेट हिल (2005), *रियलिटी टीवी : ऑडिऐंसज़ ऐंड पाप्युलर फैक्चुअल टेलीविज़न*, रॉटलेज़, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

रीतिकाल-1

(विशुद्ध काव्य-कला, रसिकता, ऐंद्रिकता)

(Reeti Kal-1)

हिंदी साहित्य के विकास में रीतिकाल संवत् 1700 से 1900 तक माना जाता है। हिंदी में रीति का प्रयोग लक्षण ग्रंथों के लिए किया जाता है। जिन ग्रंथों में काव्य के विभिन्न अंगों का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन किया जाता है उन्हें 'रीतिकाव्य' और जिस विधान या पद्धति के अनुसार यह भाष्य-विमर्श किया जाता है उसे 'रीतिशास्त्र' कहते हैं। प्रायः इन ग्रंथों को संस्कृत में काव्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र कहा जाता है। संस्कृत में रीति का एक विशेष अर्थ है। उस सम्प्रदाय विशेष को 'रीति-सम्प्रदाय' का नाम दिया गया है और इसके तहत रीति का अर्थ है 'विशिष्ट पद रचना'। रीति-

सम्प्रदाय काव्य के बाह्याकार को आधार मानकर विवेचन-विमर्श में आगे बढ़ता है। हिंदी में आम तौर पर शुरुआत में रीति शब्द का मूल संकेत रीति-सम्प्रदाय से ज़रूर लिया गया, लेकिन हिंदी में रीति शब्द 'काव्य रचना संबंधी नियमों के विधान' के लिए प्रयुक्त होता है। डॉ. नगेंद्र ने *रीतिकाव्य की भूमिका* नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है, 'जिस ग्रंथ में रचना संबंधी ग्रंथों का विवेचन हो, वह रीति ग्रंथ और जिस ग्रंथ की रचना इन नियमों से आबद्ध वे रीतिकाव्य हैं। स्वभावतः इस काव्य में वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की, आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलंकरण की प्रधानता मिलती है।' संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की रीति परम्परा का कलात्मक विकास रीतिकाव्य में हुआ। इसीलिए इस काल को शृंगारकाल, अलंकृतकाल के साथ 'कलाकाल' भी कहा जाता है। इन कवियों की काव्यकला पर राजपूत-शैली, मुगल-शैली, आभीर-शैली आदि का चित्रकला के अनुपम विकास का असर हुआ है। ललित कलाओं के लिए भी रीतिकाव्य का स्मरण अवश्य किया जाना चाहिए।

वस्तुतः रीति शब्द का एक विशिष्ट प्रयोग हिंदी का अपना प्रयोग है और माना जा सकता है कि यह प्रयोग रीतिकाल के कवियों से ही आया हुआ है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने 'काव्य की रीति' और 'अलंकार रीति' की चर्चा की है और यह प्रयोग उस अर्थ का संकेत देता है। भिखारीदास ने *काव्य निर्णय* ग्रंथ में स्पष्ट कहा है, 'काव्य की रीति सिखी सुकवीन सो, देखी सुनी बहुलोक की बातें'। मुगलकालीन समाज के अनेक काव्यानुभव रीति काव्य के प्रेरक आधार रहे हैं। रीतिकाल के मेधावी कवि पद्माकर ने अपने ग्रंथ *पद्माभरण* में अलंकार विवेचन को 'अलंकार रीति' कहा है। 'रीति' को एक प्रणाली या पद्धति मानते हुए मिश्र बंधुओं ने *मिश्र बंधु विनोद* में इस युग का नामकरण 'अलंकृतकाल' किया तथा इस काल के कवियों के ग्रंथों को रीतिग्रंथ कहा। रीतिकाल के आचार्य कविता करने की रीति या प्रणाली सिखाते हैं। ज़ाहिर है कि हिंदी में प्रयुक्त यह शब्द आचार्य रामचंद्र शुक्ल का आविष्कार नहीं है। वह तो काफ़ी पहले से हिंदी में चल रहा था। इसलिए आचार्य शुक्ल ने इस काल को 'रीतिकाल' कह कर कहीं भी इस रीति शब्द की व्याख्या नहीं की है। यह अलग बात है कि आचार्य शुक्ल की प्रतिभा ने रीति शब्द को शास्त्रीय आधार दे कर इस शब्द का स्वरूप निश्चित किया। उनके बाद बहुत से विद्वानों ने इस काल को 'शृंगारकाल' तथा 'अलंकृतकाल' कहना उचित समझा। हालाँकि उन्हें इस काल को रीतिकाल कहना उपयुक्त नहीं लगा, पर आज हिंदी के पाठक और विद्वान केशवदास, चिंतामणि, मतिराम, बिहारी, देव, पद्माकर, ठाकुर, घनानंद के इस काल को रीतिकाल कह कर ही याद करते हैं।

रीतिकाल से संबंधित काव्यशास्त्र में कवि और

आचार्य अलग-अलग थे, लेकिन हिंदी के दायरे में इस काल के कवि और आचार्य एक हो गये। इस काल के ज्यादातर कवि आचार्य बनने का अरमान पाले हुए हैं। संस्कृत में दण्डी, राजशेखर आदि कवि थे, किंतु उन्होंने अपने को 'आचार्य' बनाने की चाह व्यक्त नहीं की। संस्कृत के आचार्य शताब्दियों तक खण्डन-मण्डन में लगे रहे। संस्कृत काव्यशास्त्र के उत्तरार्द्ध में रीतिग्रंथ लिखने की परिपाटी चल पड़ी जिसका उद्देश्य 'कवि शिक्षा' देना था। इनके उदाहरण प्रायः स्वरचित होते थे। शृंगार-रस की बढ़ती लोकप्रियता ने नायक-नायिका भेद का प्रचलन किया। इस तरह संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रौढ़ विवेचन यहाँ आते-आते अपनी मौलिकता खो बैठा। प्राकृत तथा अपभ्रंश के ग्रंथ इसी सतही परिपाटी को लेकर चले तथा हिंदी का रीतिकाव्य इसी का विकास कहा जा सकता है। यही कारण है कि इसमें कवि और आचार्य का घालमेल होता चला गया।

रीतिकाव्य के आश्रयदाता राजा, रईस, सामंत और बड़े धन्नासेठ थे। परिणामस्वरूप रीतिकाव्य में जनता की अभिरुचियों का नहीं, बल्कि इन्हीं राजाओं-रईसों की अभिरुचियों का पोषण हुआ। कविता में काम-केलि क्रीड़ा के साथ मांसल देहवाद को स्थान मिला। कलाकारगण औरंगजेब की मृत्यु के बाद बिखराव के शिकार हो गये। कवि, गायक, चित्रकार, कलाकार, शिल्पी सभी छोटे-छोटे सामंतों के यहाँ आश्रय खोजने लगे जिनका जीवन काम-केलि क्रीड़ा में गर्क था। उनके पास विलास के लिए भरपूर समय था और दरबार के साथ-साथ रनिवास स्त्रियों से भरा पड़ा था। दूतियाँ और कुट्टनियाँ सुंदर युवतियों को बहला-फुसला कर इन सामंतों की हवस का शिकार बनाती थीं। सामंतों में न तो कोई गौरव शेष बचा था न चरित्र की नैतिकता। इनका दृष्टिकोण ऐंद्रिक रह गया था और ध्यान केवल भोग पर केंद्रित था।

रीतिकाल के कविगण निम्नवर्ग या निम्न-मध्यवर्ग से आये थे। साहित्य के संस्कार पैतृक-परम्परा से कमा कर वे कवि बने थे, इसलिए इनका ध्यान काव्य-साधना और काव्य-कला पर कम न था। इनकी प्रतिभा में कल्पना-विलास का विस्तार था और कला में नयी चित्रमयता का प्राधान्य। डॉ. नगेंद्र का कथन यहाँ भी ध्यान देने योग्य है कि 'हिंदी साहित्य के प्राचीन इतिहास में यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया गया था। अपने शुद्ध रूप में रीति-कविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने को थी, न धार्मिक-प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक या राजनीतिक सुधार की प्रचारिका ही। काव्य कला का अपना स्वतंत्र महत्त्व था।'

रीति-निरूपण दृष्टि से इन कवियों की स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ अलग से दिखाई देती हैं। यहाँ ऐसे कवियों का भी

एक वर्ग है, जिन्होंने लक्षण-ग्रंथों का निर्माण किया। दूसरा उन कवियों का है जिन्होंने रीतिशास्त्र के पण्डित होने पर भी लक्षण-उदाहरण के फेर में न पड़कर केवल लक्ष्य ग्रंथों की रचना की। जाहिर है कि रीतिशास्त्र के पीछे एक शक्तिशाली परम्परा सक्रिय थी। विडम्बना यह है कि यह सब होने पर भी उस युग में मूल सिद्धांत विषयक उद्भावनाएँ प्रायः चुक गयी थीं। इनमें न कोई मौलिक आविष्कार की शक्ति बची थी और न मूलसिद्धांतों के विवेचन-विमर्श का उचित ज्ञान। संस्कृत की जिस उत्तरकालीन मूल परिपाटी का ये सब लोग अनुकरण कर रहे थे वह परिपाटी स्वयं अपनी सर्जनात्मकता खो चुकी थी। सूक्ष्म चिंतन के साथ खण्डन-मण्डन की शक्ति भी निःशेष हो गयी थी। अब तो केवल रसिक-विलासियों का एक समुदाय था जिसमें ज्ञान की सूक्ष्मताओं को सामने लाने का विचार तक नहीं था। केवल कान्यांग-निरूपण का सहारा लेकर ये लोग अपनी नैया खे रहे थे। गद्य की विवेचन शैली के अभाव में विचार का परिपक्व कौशलशास्त्र ज्ञान की आवश्यकताओं से निबटने में असमर्थ था।

दरअसल, दरबारी कवि जिस उद्देश्य को सामने रख कर चले थे, उसमें प्रमुख था रिझाने वाले सरस काव्य की रचना और विलासप्रिय शौकीन मिजाज राजाओं, रईसों को काव्यांगों का साधारण ज्ञान करा देना। यही कारण है कि रीतिकाल का कोई-कोई कवि ही पाण्डित्य-प्रदर्शन के फेर में पड़ा है। इसी कारण ज्यादातर कवि मौलिक सिद्धांतों की रचना वाले सिद्धांत-ग्रंथ नहीं रच सके। *चंद्रालोक*, *कुब्जपानंद*, *रसमंजरी* की दौड़ काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण तक थी, लेकिन *ध्वन्यालोक*, *लोचन*, *वक्रोक्ति जीवितम्* जैसे ग्रंथों तक नहीं। इसीलिए कवियों ने काव्यांग निरूपण तो किया, लेकिन खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति से दूर रहे। रस-निष्पत्ति, रस-स्वरूप, साधारणीकरण, काव्य में आत्मा आदि का कुलपति मिश्र जैसे अपवादों को छोड़कर ज्यादातर ने तो संकेत तक नहीं दिया। काव्य-लक्षण, शब्द-शक्ति, गुण-अलंकार जैसे भेद भी प्रायः अस्पष्ट रहे।

प्रायः हिंदी के रीति-ग्रंथों में तीन प्रकार की निरूपण-शैली, व्यवहार में लाया गया : सभी काव्यांगों पर प्रकाश डालने वाली, *काव्य-प्रकाश* की शैली, शृंगार-निरूपण तथा नायिका-भेद वाली *शृंगार-तिलक* की शैली और अलंकारों का लक्षण-उदाहरण देने वाली *चंद्रालोक* की शैली। गद्य का माध्यम उपलब्ध न होने के कारण सभी कवि-आचार्य जटिलताओं का विवेचन नहीं कर सके। ज्यादातर शब्द-शक्तियों, अलंकार के भेदों के निरूपण में ही उलझकर रह गये। कुछ अपवादों को छोड़ कर हिंदी के कवि-आचार्य न तो हिंदी के ठीक उदाहरण दे पाते हैं न स्पष्ट लक्षण बता पाते हैं। वे प्रायः संस्कृत पद्यों से उदाहरण देते हैं। कुलपति तथा भिखारी दास ने गद्य में विवेचन का प्रयास तो किया, किंतु

भाषा की ठोकें लगती रहीं और वे आगे नहीं बढ़ पाये। इस गद्य-सीमा के कारण हिंदी में आचार्यगण मौलिक सिद्धांतों का निरूपण नहीं कर सके। दूसरे संस्कृत से मुक्त होकर मौलिक सिद्धांत-निरूपण का इनमें साहस भी नहीं था।

हिंदी में रीतिकाल के कवि-आचार्यों की मौलिक उद्भावनाओं की चर्चा कुछ विद्वानों ने की है। इन विद्वानों पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कठोर प्रहार किये हैं। उन्होंने प्रबल तर्कों से सिद्ध किया है रीतिकालीन कवि-आचार्यों में मौलिक उद्भावना करने वाली प्रतिभा का अभाव था। ये तो संस्कृत काव्यशास्त्र का माल हिंदी में ला रहे थे, और वह भी तमाम भ्रांतियों के साथ। यह भी ध्यान में रखना होगा कि इस युग में केवल शृंगार-रस तथा अलंकारों का वर्णन हुआ, ध्वनि-वक्रोक्ति की ओर ये आचार्य नहीं गये। रीतिकाल के सभी आचार्यों ने एकस्वर से शृंगार का रसरजत्व घोषित किया है। पर यह न उनकी नवीन कल्पना थी, न ही उद्भावना। शताब्दियों पूर्व *अग्निपुराणकार* और *शृंगारतिलक* जैसे संस्कृत-ग्रंथ शृंगार को रसरजत्व घोषित कर चुके थे। *अग्निपुराणकार* ने कहा था कि आनंद से अलंकार की उत्पत्ति होती है, अहंकार से अभिमान की, अभिमान से रति की-जिसके कि शृंगार-हास्य आदि विभिन्न रूप हैं। यह विचार भी कई तरह से व्यक्त किया गया कि रस तो केवल एक ही है और वह है शृंगार रस। इसके मुताबिक वास्तव में हमारा अहंकार ही अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर विभाव, अनुभाव, संचारी आदि भावों के द्वारा आनंद रूप में रसत्व को प्राप्त होता है। इस शृंगार-रस चिंतन का आधार रहा है—कामशास्त्र। इसका मनोवैज्ञानिक निरूपण आचार्यों ने किया है। केशवदास ने सभी रसों को शृंगार में ठेल कर अंतर्भुक्त करने की कोशिश तो की, लेकिन इस कार्य में सफल नहीं हो सके। देव ने रस का विस्तार-भेद से विवेचन तो किया लेकिन उनका अभिप्रेत अर्थ आनंदजन्यरति ही रहा।

लोक में तथा शास्त्र में रति, उत्साह, शम् ये तीन उदात्त वृत्तियाँ ही नहीं हैं— करुणा भी हैं। हिंदी के रीति कवियों ने भाव-वर्णन बहुत ही उपेक्षा से किया। कामदशाओं के वर्णन में भी वे *रस तरंगिणी* का पल्ला थामे रहे। आम तौर पर कहा जा सकता है कि इसमें कोई नवीनता नहीं है। इसकी तुलना में हिंदी का नायिका-भेद काफ़ी व्यवस्थित और विस्तृत है। यह भी कहा जाता है कि दो सौ वर्षों तक हिंदी कविता कामिनी की लटों-भौहों में अटक रही। यहाँ अनुकरण संस्कृत के ही रीतिग्रंथों का है। यही वजह है कि नायिका-भेद में अनेक प्रभेद-पाठ आने पर भी कुछ नया प्रवेश नहीं पा सका। रीतिकाल का एक प्रमुख वर्ण्य-विषय है—अलंकार। अलंकारों पर जमकर ग्रंथ लिखे गये। इस क्षेत्र में केशवदास ने चकित करने वाला चमत्कारवाद पैदा किया। समस्त काव्य-सौंदर्य को अलंकार का पर्याय माना गया।

अलंकार को काव्य का शोभाकारण धर्म भी कहा गया। इस तरह रस, गुण, ध्वनि आदि को अलंकार के भीतर ही समाहित करने का प्रयत्न किया गया।

कृष्णशंकर शुक्ल ने *केशव की काव्य-कला* पुस्तक में विस्तार से सिद्ध किया है कि केशव संस्कृत-काव्यशास्त्र के अलंकार विवेचन से बाहर नहीं निकल सके। इसलिए केशव जैसे आचार्य भी अलंकार-क्षेत्र में कोई मौलिक योगदान नहीं दे सके। इनकी प्रतिभा केवल पिष्टपेषण में ही भटकती रही। मूल बात यह है कि ज्यादातर कवि अलंकारवादी न होकर रसवादी थे। मतिराम, देव, घनानंद, ठाकुर, नेवाज, बोधा आदि रसवादी थे। केवल बिहारीलाल ध्वनिवाद की ओर गये और लक्षण-ग्रंथ की रचना न करके भी ध्वनि को सिद्ध किया। अन्य कवि तो रसरज के चारों और चक्कर लगाते थे और मौक़ा पाते ही *लटहज़ारा*, *तिलकहज़ारा* लिखते रहे। रसिकों के लिए रस का अर्थ था, शृंगार रस। इन सभी ने 'अभिधा उत्तमकाव्य' का उद्घोष किया, क्योंकि उसके सम्प्रेषण में कहीं भी व्यवधान नहीं है। घनानंद, ठाकुर, बोधा, आनंद आदि कवि रीति से मुक्त हुए, लेकिन कवित्त-रस में शृंगार-रस ही बरसाते रहे। किसी ने वक्रोक्ति की चर्चा तक नहीं की। इसलिए रसवाद की दृष्टि से यह काल शृंगारकाल है। इस कविता की धमनियों में शृंगारिकता बहती है। 'प्रेम सारशृंगार' की ध्वनि का इतना विस्तार बोध जागा कि देव ने नायिका को माया तथा पुरुष को ब्रह्म कह दिया। ज्यादातर कवियों ने अपनी कृति का आरम्भ ही प्रायः बेधड़क हो कर नायिका-भेद से किया है। वास्तविकता यह है कि रीतिकालीन शृंगारिकता की प्रवृत्तियों का सच्चा प्रतिनिधित्व यही कवि करते हैं। यहाँ इनका उद्देश्य आचार्यत्व का प्रदर्शन न होकर मर्मस्पर्शी कला की साधना है, ऐसी कला जिसमें रसात्मक कला का सौंदर्य हो।

यहाँ एक वर्ग ऐसे कवियों का भी है, जिसके अंतर्गत मतिराम की रचना *ललित ललाम* और भूषण के *शिवराज भूषण* को लिया जा सकता है। इन ग्रंथों के रचनाकार आचार्यत्व को लक्ष्य बनाकर नहीं चले। इन्होंने लक्ष्यों से ज्यादा सरस उदाहरणों को महत्त्व दिया। भूषण ने तो शायद स्वतंत्र छंद लिखकर फिर उन्हें रीतिबद्ध किया, इसलिए उनका अलंकार-निरूपण किनारे चला गया। वे रीति-शिक्षक से ज्यादा निपुण कवि की काव्यात्मकता को लेकर पाठकों के सामने आये। रीतिग्रंथ चमत्कारवाद के लिए शब्द-क्रीड़ा में रमते गये। यह कार्य महाकवि सूरदास *साहित्य लहरी* में पहले ही कर चुके थे। केशव जैसे आचार्य चित्र-काव्य के विवेचन में बहुत-सी उक्ति-क्रीड़ाओं की चर्चा कर चुके थे। चित्रकाव्य को अधमकाव्य कहकर 'बायस चामय बात' कहना भी भूले नहीं। संस्कृत में अप्पय दीक्षित ने *चित्र-मीमांसा* ग्रंथ में जो स्थापना की थी, उनका तार्किक खण्डन

पण्डितराज ने अपने *चित्र-मीमांसा खण्डन* में किया है।

रीति कालीन कविता का आधार उज्वल प्रेम न हो कर विलासी-कला की रसिकता है। यह रसिकता शुद्ध ऐंद्रिक है, इसलिए जगह-जगह वासना का विस्तार है और इस वासना का उदात्तीकरण करने में ये कवि असमर्थ रहे हैं। ज्यादातर दरबारी कविता बाजारी इश्क की क्रीड़ा है। यह देहवाद की कविता है जिसमें नखशिख-वर्णन और बारहमासा की आरती घूम रही है। इन कवियों ने जीवन के गम्भीर प्रश्नों का सामना कविता में कहीं नहीं किया है। इसलिए इनका भौतिक जीवन-दर्शन स्वस्थ नहीं है। रीतिकालीन धार्मिकता तथा भक्ति स्वरूप देहवाद पर केंद्रित होकर रह गया। अनेक बार नायक के लिए 'हरि' और नायिका के लिए 'राधा' का प्रयोग होने पर भी इस काव्य में भक्ति नहीं है— भक्ति की नाम-स्मृति है। इन कवियों ने 'शृंगार को सार-किशोर किशोरी' कहने के बाद उन्मुक्त मन से यह भी कह दिया कि 'आगे के सुकवि रीझि हैं तौ कविताहि। न तौ राधिका कान्ह सुमिरन को बहानो है'। मूलतः यह कवि 'निजितीरत हरिराधिका, तनद्युति कर अनुराग' की ऐंद्रियता में विश्वास रखते हैं। हाँ, यह काल काव्य-भाषा का अलंकृत काल है। भक्तिकाल में प्रौढता को प्राप्त काव्य-भाषा रीतिकाल में अलंकार के सौंदर्य-भार से झुकने लगी। नतीजा यह हुआ कि इस काल के कवियों ने काव्य के रूपाकार को कई प्रकार से अलंकृत किया। शब्दार्थ की व्यंजना का विकास किया और रंगभरी शब्दावली से कविता का शरीर चमका दिया। यह भाषा जन-भाषा से दूर हट कर केवल काव्य की भाषा रह गयी।

रीतिकाल का साहित्यिक पृष्ठ आधार मुक्तक कविता के विकास के लिए अनुकूल था। यही कारण है कविगण प्रबंध का विस्तृत क्षेत्र छोड़कर जीवन के छोटे-छोटे अनुभवों को कविता में स्थान देने लगे। इस काल में आभीर संस्कृति का आर्य संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। भारतीय मन परलोक की चिंता से मुक्त होकर लौकिक जीवन के रस में निमग्न रहने लगा। बिहारीलाल की *सतसई* रीतिकाव्य की प्रेरणा बनी। प्राकृत गाथाओं की स्थूल मांसलता कविता के केंद्र में आ गयी और कविता में स्वभावोक्ति का सौंदर्य निखरने लगा। अमरुक कवि का *अमरुक शतक*, गोवर्धन की *आर्यासप्तशती* की राह पर कविता चल पड़ी। *चंडी शतक*, *दुर्गासप्तशती* तथा *कृष्णलीलामृत* जैसे ग्रंथ स्रोत ग्रंथों के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इनमें शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन मिलता है। लगता है विद्यापति के गीत इन्हीं काव्यों की शृंगारिक कोख से फूट-फूट कर सामने आये।

इन्हीं के साथ कामशास्त्र-कामसूत्र की परम्परा में *रतिरहस्य*, *अनंगरंग* जैसे न जाने कितने ग्रंथ आते रहे। हिंदी साहित्य को इन ग्रंथों की परम्पराएँ कम-ज्यादा मिली हैं।

विद्यापति के पद केलिक्रीड़ा का बड़ा क्षेत्र सामने लाते हैं। इस वजन को लेकर कृपाराम की *हिततरंगिणी* आती है। इस नायिका-भेदी ग्रंथ ने मतिराम-पद्माकर जैसे कवियों के भाव-विधान को दिशा दी है। सूरदास की *साहित्य लहरी* के दृष्टिकूट पद, तुलसी की *बरवै रामायण*, रहीम का *बरवै नायिका भेद*, और नंददास की *रसमंजरी* रीतिकाल की प्रेरणा बनी हैं।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायलॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, भारतेन्दु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारि प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. डॉ. नगेंद्र (1949), *रीतिकाव्य की भूमिका*, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
3. हजारि प्रसाद द्विवेदी (1941), *हिंदी साहित्य की भूमिका*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. जगदीश गुप्त (1960), *रीतिकाव्य संग्रह*, साहित्य भवन, इलाहाबाद.
5. भगीरथ मिश्र (1965), *हिंदी रीति साहित्य*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— कृष्णादत्त पालीवाल

रीतिकाल-2

(हिंदी साहित्य में स्थान)

(Reeti Kal-2)

हिंदी-साहित्य में रीतिकाव्य प्रायः निष्पक्ष आलोचना के अभाव में उपेक्षा का ही शिकार हुआ है। नीतिवादी आलोचकों ने इस कविता में नैतिकतावादी मूल्यों को तिरस्कृत पाकर इस ओर से मुँह फेर लिया और सांस्कृतिक नवजागरण के प्रतीक छायावादी कवि-चिंतक इस काव्य को स्थूल-ऐंद्रिक कहकर अधम कोटि का समझते रहे। प्रगतिवादी समीक्षकों ने इस काव्य को सामंतवाद की खुली अभिव्यक्ति कह कर 'प्रतिक्रियावादी' करार दिया। एक खास तरह की सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करने वाली कविता मान कर इस काव्य के समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र और कलाशास्त्र पर कम ही विचार हुआ। इस कविता की प्रवृत्तियों के विश्लेषण-मूल्यांकन का बहुत कम प्रयास होने के कारण रीतिकाल को केवल कलाकाल, शृंगारकाल या दरबारीकाव्य कह कर चलता कर दिया गया। समीक्षकों ने इस काल को चमत्कारवादी, नायक-नायिका की निरूपणवादी कविता तथा संस्कृत काव्यशास्त्र का पिष्टपेषण करने वाली काव्य-परम्परा में डाल कर मान्यता स्थापित की कि इस काव्य-क्षेत्र में तो कवि तथा आचार्य बनने की होड़ होती रहती थी। रस, रीति, अलंकार आदि सबके लिए 'अलंकार' शब्द का व्यवहार किया गया। इसलिए कुछ आलोचकों ने इस काल को 'अलंकारकाल' या 'अलंकृतकाल' की संज्ञा भी दी है। इस दौर में लक्षण-ग्रंथों की भरमार देखी जाती है। कविता लिखने की यह प्रणाली भी इसी दौर की देन है कि पहले दोहे में रस या अलंकार का लक्षण दिखाया जाए और फिर उदाहरण के रूप में कवित्त-सवैया लिखने की चतुरता प्रदर्शित की जाए।

रामचंद्र शुक्ल ने इस पूरी स्थिति पर विचार करने के बाद *हिंदी साहित्य का इतिहास* में रीतिकाल का सामान्य परिचय देते हुए लिखा है कि 'हिंदी साहित्य में यह एक अनूठा दृश्य खड़ा हुआ। संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिंदी काव्य-क्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि-कर्म में प्रवृत्त रहे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, नये-नये सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि कुछ भी नहीं हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस समय

गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ भी लिखा जाता था वह पद्य में ही लिखा जाता था। अपर्याप्त लक्षण-ग्रंथों के कारण हिंदी साहित्यशास्त्र का भी भला इस काल में नहीं हो सका। केशवदास जैसे लक्षण ग्रंथकार कवियों ने सारे लक्षण संस्कृत काव्य शास्त्र से ग्रहण किये किंतु वे इस क्षेत्र में कोई नवीन उद्भावना नहीं कर सके। रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य जैसे वादों के लिए कोई नया रास्ता नहीं निकला।

दरअसल, रीतिग्रंथों के रचयिता बड़े संवेदनशील कवि थे। उनका उद्देश्य मनोहारी सरस कविता करना था। इन कवियों द्वारा बड़ा कार्य यह हुआ कि सरस पद्यों का उदाहरण के रूप में और शृंगार-रस के अंतर्गत सुंदर मुक्तक काव्य का विकास हुआ। इनका झुकाव नायक-नायिका भेद की ओर अधिक रहा। रस का सारा वैभव नायिका-भेद के अंतर्गत ही दिखाया गया है। हिंदी के ज्यादातर लक्षण-ग्रंथों में 'नायिका भेद' का ही निरूपण अधिक हुआ। यहाँ रस के आलम्बन का वर्णन एक स्वतंत्र विषय हो गया और न जाने कितने नखशिख वर्णन और षड्भूत वर्णन के ग्रंथ लिखे गये। कुछ कवियों ने विरह संबंधी 'बारह मासे' भी लिखे।

इन सबका एक प्रभाव तो पड़ना ही था कि जीवन-जगत को लेकर कवि-दृष्टि सीमित हो जाती। इससे अनुभव के बहुत से क्षेत्र सामने आने से रह गये। लेकिन दूसरी तरफ़ लाभ यह हुआ कि सैकड़ों कवियों द्वारा भाषा का परिमार्जन किया गया। इस काल में काव्य की भाषा ब्रजभाषा रही और इस भाषा ने इस काल की कविता में कलात्मकता के शिखर चूमे। ब्रजभाषा में मुसलमानों से सम्पर्क के कारण फ़ारसी के शब्द आये, साथ ही बोलियों से भी अनेक शब्द ग्रहण किये गये। बिहारी लाल पर तो फ़ारसी शैली का प्रभाव अनेक कोणों से पड़ा है। फ़ारसी के भावों ने बिहारी-काव्य का रूपरंग ही बदल दिया है। शृंगार में इस काल की कविता ने सेक्शुअलिटी का समावेश किया जिसे कुछ समीक्षकों द्वारा अश्लीलता करार दिया गया। रामचंद्र शुक्ल ने इस संबंध में दलील दी है कि 'इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता राजाओं की रुचि थी जिनके लिए वीरता और कर्मण्यता का जीवन बहुत कम रह गया था।'

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रीतिकाव्य को 'सेकुलर-काव्य' कहा है। इस काव्य में धर्म की जकड़न नहीं है। उन्होंने रीतिकाव्य के विद्वानों में तीन तरह के भेद किये हैं : रीतिबद्ध-काव्य (इस धारा के प्रतिनिधि कवि हैं महाकवि भूषण), रीतिसिद्ध-काव्य (इस धारा के अंतर्गत बिहारी की *सतसई* को स्थान दिया जाता है) और रीतिमुक्त-काव्य (इस धारा के प्रतिनिधि कवि हैं घनआनंद या घनानंद, ठाकुर आदि)। आज रीतिसिद्ध, रीतिबद्ध, रीतिमुक्त इन तीनों प्रकार का काव्य न्याय माँगता है। यह पूरा का पूरा काव्य निंदा-

तिरस्कार के योग्य नहीं है। इस में बहुत-सा काव्य कलात्मक और प्रभावशाली है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मतिराम, घनानंद, ठाकुर आदि कवियों की प्रशंसा की है। हाँ, केशवदास के छंद-चमत्कारवाद से उनका मन क्षुब्ध हुआ है। दूसरी तरफ़ रायप्रवीण के दोहों की भावुकता और कथन भंगिमाओं से उनका मन भीगा है। कल्पना प्रायः नये ढंग के बिम्बों का सृजन करती हैं। देव-पद्माकर की रचनाओं में पर्वों, त्योहारों, उत्सवों का वर्णन ग्राम जीवन की स्मृति जगाता है। इस काल में लिखे गये बहुत से कवित्त, दोहे, छप्पय, कुंडलियाँ लोक-स्मृति के अंग बन गये हैं। इसमें प्रकृति-प्रदेश का मुग्धकारी सौंदर्य है। साथ ही इन कवियों की शब्द-चयन कला से आज भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

रीतिकालीन कवियों की कला की बहुत सी जातीय विशेषताओं के कारण रामविलास शर्मा इस कविता के अभिव्यंजना शिल्प के प्रशंसक रहे हैं। ब्रज भाषा के न जाने कितने ही जातीय शब्दों ने इधर खड़ी बोली भाषा को नूतन सर्जनात्मकता प्रदान की है। रीतिकालीन चित्रमयता एवं सजग शब्द योजना से आज भी नये कवि बहुत कुछ सिख सकते हैं। रीतिकाल के अंतर्गत संवत् 1700 से लेकर संवतः 1900 तक पूरी दो शताब्दियाँ आती हैं। यह काल मुगल साम्राज्य के उत्कर्ष एवं विघटन दोनों की राजनीतिक कहानी कहता है। जहाँगीर-शाहजहाँ के काल में कला अपने चरम वैभव पर थी। शाहजहाँ ने इसी काल में मयूर सिंहासन और ताजमहल का निर्माण कराया था।

इसी काल में दाराशिकोह और औरंगजेब का सांस्कृतिक-राजनीतिक युद्ध हुआ। औरंगजेब का अधिकांश समय दक्षिण के विद्रोहों को दबाने में बीता। आगरा, इलाहाबाद, अवध में भी कम उपद्रव नहीं हुए। इसी वातावरण में मथुरा में केशवदेव तथा काशी में विश्वनाथ का मंदिर ध्वस्त कराया गया। बुंदेलखण्ड में छत्रसाल तथा मराठा राज्य में शिवाजी विद्रोही बन कर उभरे। जोधपुर के राजा जसवंत सिंह ने साम्राज्य की ओर से युद्ध करते हुए प्राण गँवाए। पंजाब में गुरु तेग बहादुर की हत्या और गुरु गोविंद सिंह के बच्चों पर होने वाले अत्याचार ने सिक्ख-धर्म का धैर्य तोड़ दिया। नादिरशाह का आक्रमण हुआ और पानीपत की पराजय से मराठा शक्ति चौपट होने लगी।

रामविलास शर्मा का विचार है कि रीतिकालीन काव्य की परम्परा हिंदी भाषी प्रदेश के सामंतवर्ग की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा है। सामंत वर्ग ब्रजभाषा काव्य के अभ्युदय के बहुत पहले इन हिंदी भाषी प्रदेशों में विद्यमान रहा है और यह काव्य परम्परा भी बहुत पहले से ही संस्कृत में थी। यही कारण है कि रीतिकाल के ज़्यादातर आचार्यों ने अपनी

सिद्धांत-दृष्टि संस्कृत-आचार्यों से ग्रहण की। यह अलग बात है कि ब्रजभाषा काव्य के उदय तक उत्तरी भारत का सामंती वर्ग अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरा करके जातीय विकास के मार्ग में अवरोधक शक्ति बन गया था। सामंती-संस्कृति का विरोध करने वाले नयी शक्तियाँ सामने आ गयीं थीं। यहाँ ध्यान में रखने की बात है कि संस्कृत रीतिकाव्य के उत्कर्षकाल में सामंत इतने पतित नहीं हुए थे, जितने सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में। अतिशय वैभव और विलास के इस युग को हिंदी साहित्य में देहवाद-भोगवाद के युग की तरह भी देखा जाता है। इस युग का बीज-मंत्र था, 'तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति कर अनुराग। जेहि ब्रज केलि निकुंज मग पग-पग होत प्रयाग'। इसी कारण से भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुंद गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' तथा प्रेमचंद ने रीतिवाद विरोधी अभियान चला कर लोकमंगल की दृष्टि से एक नया दृष्टिकोण स्थापित करने की चेष्टा की। आधुनिककाल के सभी रचनाकारों ने रीतिवाद पर प्रहार किया। इन स्थापित संस्कारों के कारण साहित्य में आज भी रीतिवाद की परम्परा को निर्मूल करने की कोशिश जारी है।

रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत की चमत्कारवादी परम्परा अपना कर घोषित तौर पर कहा कि, 'भूषण विनु न बिराजई, कविता, वनिता, मित्र'। चाहे कविता सरस क्यों न हो, उसका काम आभूषणों की चमक-दमक के बिना नहीं चलता। रीतिवाद के कवियों द्वारा नायक-नायिका-भेद पर जोर दिये जाने को हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस तरह व्याख्यायित किया है : 'इस प्रकार समूचा नायिका-भेद का साहित्य नाट्यशास्त्र के सामान्य अंग पर लोकगम्य भाषी के सिवा और कुछ नहीं हैं।' संस्कृत कामशास्त्र का भी व्यापक प्रभाव इस रीतिकाव्य पर पड़ा। कवियों-आचार्यों ने नायिकाओं के वर्गीकरण में अपनी काव्य प्रतिभा को खपा दिया। फिर भी वे इस कार्य में किसी गहराई का एहसास नहीं करा सके। बौद्धिक कलावादी कविता प्रदर्शनवादी चमत्कार बनकर रह गये। हिंदी के अलंकार ग्रंथ संस्कृत ग्रंथों की नकल या अनुकृति बनकर रह गये, जिनमें मौलिकता का अभाव खटकता है। कहना ही होगा कि यहाँ रीतिकाव्य-परम्परा का सैद्धांतिक-पक्ष बहुत दुर्बल है। आज के आलोचक नायिक-भेदी साहित्य का सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य खोजते हैं और इस खोज से पाते हैं कि यह नायिका-भेद पतनशील समाज का दर्पण है, जिसमें जीवन के उदात्त मूल बहिष्कृत हैं। मुग्धा, प्रौढ़ा, धीरा, खण्डिता, पोषित पतिका, कलहांतरिला जैसे भेद नारी की यथार्थ भावना को समझाने में अक्षम हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन है कि, इस काल में एक विशेष प्रकार का मकरजध्वजवाद पोषित किया गया। मकरजध्वजवादियों में नारी केवल भोग की वस्तु

थी। इसमें प्रेम का पवित्र रूप न था। केवल विलास था। इनकी पूरी मनोभूमिका भक्तिकाव्य की राधा से अलग बनी है। इन्होंने कहा है कि, 'आगे के सुकवि रीझि हैं तौ कविताई। न तो राधिका कान्ह सुमिरन को बहानो हैं'। यहाँ राधा-कृष्ण अपनी दिव्यता खोकर सामान्य नर-नारी रह गये हैं। नारी के नायिका रूप का भाष्य पहले है, कविता बाद में। बँधी-बँधाई लीकों में ढलकर कविता प्रकृत भावभूमि से दूर जा पड़ी है। इनके छंद भी कल्पना के चमत्कार में चकित करते रह गये हैं।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, रहूल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफ़ीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. राम विलास शर्मा (1981), *परम्परा का मूल्यांकन*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. रामधारी सिंह दिनकर (1961), *संस्कृति के चार अध्याय*, उदयाचल, पटना.

— कृष्णदत्त पालीवाल

रुक्मिणी देवी अरुंडेल

(Rukmini Devi Arundel)

भारत के सांस्कृतिक नवजागरण की अग्रदूत रुक्मिणी देवी अरुंडेल (1904-1986) ने दक्षिण भारत की अत्यंत प्राचीन नृत्य शैली भरतनाट्यम को न केवल पुनर्जीवन दिया, बल्कि उसे शास्त्रीय कलाओं के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की। रुक्मिणी देवी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में भी शामिल थीं और साथ ही भरतनाट्यम की नृत्य-शैली को तत्कालीन कर्मकाण्डी व जातिवादी संकीर्णताओं से मुक्त कराने के लिए संघर्ष भी कर रही थीं। उनकी भूमिका एक दार्शनिक की तो थी ही जो सौंदर्य और कला के माध्यम से जीवन की सच्चाई का अनुभव करता है। साथ ही वे एक शास्त्रीय नृत्यशास्त्री भी थीं जिनका नृत्य समृद्ध परम्परा, गहरे अनुसंधान और सम्पूर्ण समर्पण की अभिव्यक्ति था। एक सौन्दर्यशास्त्री के रूप में उन्होंने समूह नृत्य शैली को एक नयी परिभाषा दी। एक भविष्य-द्रष्टा के रूप में उन्होंने इस नृत्य-शैली के संरक्षण-प्रशिक्षण के लिए एक संस्थान कलाक्षेत्र की स्थापना की। रुक्मिणी देवी में छिपे मानवतावादी ने उनसे राज्य सभा के एक निजी सदस्य के रूप में पशुओं के प्रति क्रूरता की रोकथाम के लिए एक विधेयक पेश करवाया। 1954 में राज्य सभा में इस विधेयक को पेश करते हुए दिया उनका भाषण संसदीय वक्तृत्व का उत्कृष्ट उदाहरण था। भारत गणराज्य के इतिहास यह पहला अवसर था जब एक निजी सदस्य द्वारा प्रस्तुत विधेयक एक अधिनियम का रूप ले पाया। रुक्मिणी देवी शाकाहारी थी और मंदिरों आदि में पशुओं पर हिंसा के सख्त खिलाफ थीं। 1957 में उन्होंने भारत में विश्व शाकाहार सम्मलेन का आयोजन किया।

1924 में अपनी थियोसिफ़िकल सोसाइटी के काम से की गयी लंदन यात्रा के दौरान रुक्मिणी देवी को महान बैले नर्तकी अन्ना पावलोवा का नृत्य देखने का अवसर मिला। रुक्मिणी देवी इस नृत्य शैली की कायल हो गयीं। 1925 में अपनी ऑस्ट्रेलिया यात्रा के दौरान रुक्मिणी को अन्ना पावलोवा से बातें करने का अवसर मिला। रुक्मिणी देवी ने अन्ना पावलोवा से कहा कि मैं आप जैसा नृत्य कभी नहीं कर सकती। पर रुक्मिणी देवी के रूप-लावण्य-भंगिमा को देख कर अन्ना पावलोवा का जवाब था, 'नहीं, तुम्हें नृत्य करने की ज़रूरत ही नहीं है। यदि तुम केवल मंच पर पैदल चलो तो उसे देखने को ही भारी भीड़ आ जायेगी।' कुल मिला कर अन्ना पावलोवा से हुई इस मुलाकात से रुक्मिणी देवी को नृत्य सीखने की प्रेरणा मिली। भारत लौट कर रुक्मिणी देवी को दक्षिण भारत की नाट्य परम्परा का प्रदर्शन देखने का अवसर मिला।

दक्षिण भारत की नाट्य परम्परा बहुत प्राचीन और गौरवशाली है। औपनिवेशिक शासन के दौरान राजसी और मंदिर-संरक्षण के अभाव में यह परम्परा अ-प्रतिष्ठा के गर्त में गिर कर केवल देवदासियों के जीवन-यापन का जरिया बन कर ही रह गयी थी। लेकिन कलापारखी रुक्मिणी देवी ने इस नृत्य में निहित लय, ताल, सुंदरता और हाव-भाव के मर्म को समझा। 28 वर्ष की आयु में उन्होंने नाट्य शास्त्र का अध्ययन किया और तमिलनाडु में नृत्य के एक प्रसिद्ध गुरु मीनाक्षी सुंदरम पिल्लै से नृत्य सीखना आरम्भ करके इस कला में महारत हासिल की। यह रुक्मिणी देवी का अदम्य साहस और दृढ़ विश्वास ही था कि तीस वर्ष की आयु में पहली बार उन्होंने चेन्नई में थियोसोफिकल सोसाइटी के अंतर्राष्ट्रीय सम्मलेन में अपनी नृत्य कला का सार्वजनिक प्रदर्शन किया। रूढ़िवादी समाज रुक्मिणी देवी के इस क्रम से बहुत रुष्ट हुआ। उस समय रुक्मिणी देवी जैसी विशिष्ट महिला से सादिर (नाट्य के लिए घृणित नाम) में भाग लेना उसके पथभ्रष्ट होने का प्रमाण था। लेकिन भरतनाट्यम का यह प्रदर्शन इतना सुरुचिपूर्ण, शास्त्रीय और मनोहारी साबित हुआ कि रुक्मिणी देवी के सबसे कर्कश आलोचक भी उनकी प्रतिभा के कायल हो गये। इसके बाद रुक्मिणी देवी ने सबसे पहले अपनी इस नृत्यशैली को अपमानजनक सूचक शब्द सादिर से मुक्त कराया और उसके स्थान पर भरतनाट्यम का प्रचलन किया। उनका ख्याल था कि इस नामांतरण से यह नृत्य भरतमुनि का नृत्य कहा जा सकेगा।

इसके बाद रुक्मिणी देवी ने थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रांगण में एक बरगद के वृक्ष की छाँव में अंतर्राष्ट्रीय कला अकादमी की स्थापना की और अपनी भतीजी राधा के रूप में अपनी पहली शिष्या को भरतनाट्यम का प्रशिक्षण देना शुरू किया। रुक्मिणी देवी ने भरतनाट्यम में अनेक नये प्रयोग किये। उन्होंने कलाकारों की वेशभूषा, बनाव-शृंगार, आभूषण आदि को प्राचीन मूर्तियों व चित्रों की शैली में बनवाया। अपने चेहरे के हाव-भाव और अभिनय द्वारा मानवीय संवेदनाओं को प्रदर्शित करने की शुरुआत की। नाट्य प्रस्तुति में मंच पर पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, प्राकृतिक दृश्यों को पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया। रुक्मिणी देवी ने अपने नृत्य के साथ गायन और वादन के लिए पहली बार वंशानुगत कलाकारों के स्थान पर सामान्य कलाकारों से काम लिया। यह पुरानी परम्परा से बिलकुल अलग था। रुक्मिणी देवी को कला के लोकाचार की अत्यंत बारीक समझ थी। वे यह जानती थीं कि कला की सामंजस्यपूर्ण प्रस्तुति के लिए अलग-अलग क्षमताओं में आपसी तालमेल आवश्यक है। रुक्मिणी देवी ने भरतनाट्यम

में शृंगार के स्थान पर भक्ति को प्राथमिकता दी जिसके कारण समाज के सम्भ्रांत और पारम्परिक लोगों में भी इस कला के प्रति आदर का भाव उत्पन्न हुआ। इसी कारण से रुक्मिणी देवी पर भरतनाट्यम के ब्राह्मणीकरण का आरोप भी लगता रहा है। आलोचकों का कहना है कि उन्होंने नृत्य में से शृंगार हटा कर उसके स्थान पर केवल भक्ति और वात्सल्य शामिल किया और देवदासियों की भड़कीली वेशभूषा तथा बनाव-शृंगार को पारम्परिक वस्त्रों-आभूषणों में तब्दील कर दिया।

रुक्मिणी देवी द्वारा स्थापित अंतर्राष्ट्रीय कला अकादमी को सन 1938 से कलाक्षेत्र के नाम से पुकारा जाने लगा। चेन्नई के अडयार इलाके में स्थित कलाक्षेत्र प्राचीन गुरुकुल परम्परा पर आधारित था। उसका उद्देश्य भरतनाट्यम को सर्वोत्तम नृत्य कला के रूप में स्थापित करना था। कलाक्षेत्र में आध्यात्मिक साहित्य व शास्त्रीय संगीत पर आधारित नृत्य प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने संस्कृत के विद्वानों, शास्त्रीय संगीत के महारथियों तथा पारम्परिक नृत्यशास्त्र के मनीषियों-कलाकारों को आमंत्रित किया। आरंभिक दिनों में कलाक्षेत्र में विद्यार्थियों का अभाव था क्योंकि अधिकतर परिवार अपने बच्चों को नृत्य सिखाने के लिए तैयार नहीं थे। रुक्मिणी देवी ने अपने इस गुरुकुल में विद्यार्थियों को लाने के लिए अपने संदेशवाहक बहत दूर-दूर तक भेजे।

धीरे-धीरे रुक्मिणी देवी के नृत्य की कलात्मकता एवं कला की शुद्धता की प्रसिद्धि के साथ कलाक्षेत्र में विद्यार्थियों की संख्या भी बढ़ने लगी।

रुक्मिणी देवी ने भरतनाट्यम रामायण शृंखला की एक नयी परम्परा शुरू की। उनके पहले नृत्य नाटिका में रामायण पर कभी कोई विधिवत् प्रस्तुति नहीं हुई थी। अपने दक्षिणपूर्व एशिया (विशेषकर इंडोनेशिया) प्रवास के दौरान रुक्मिणी देवी ने वहाँ पर रामायण का मंचन देखा था। उनके नृत्य नाटिका प्रस्तुतीकरण में यह प्रभाव देखा जा सकता है। रुक्मिणी देवी ने वाल्मीकि रामायण का गहन अध्ययन किया था। शास्त्रीय नाट्य शास्त्र पर आधारित रामायण के विभिन्न प्रसंगों की इस नृत्य शृंखला ने भरतनाट्यम तथा रुक्मिणी देवी को अद्वितीय स्थान पर पहुँचा दिया।

रुक्मिणी देवी का सौंदर्य-बोध उनकी हर गतिविधि में झलकता था। कलाक्षेत्र संस्थान के नये परिसर का विन्यास उन्हीं की कल्पना पर आधारित है। रुक्मिणी देवी ने साड़ी के प्राचीनतम पैटर्न बुनने के लिए कलाक्षेत्र में ही करघे लगवाये। इन साड़ियों को अत्यंत फ़ैशनेबुल अडयार साड़ी के नाम से जाना जाता है। रासायनिक रंगों के जहरीले प्रभाव के प्रति



रुक्मिणी देवी अरुंडेल (1904-1986)

रुक्मिणी देवी बेहद गंभीर थीं। उन्होंने कलाक्षेत्र में प्राकृतिक रंगों के प्रयोग पर काम बहुत पहले ही शुरू कर दिया था।

नीलकंठ शास्त्री और शेषअम्मल की आठवीं संतान के रूप में 29 फ़रवरी, 1904 को रुक्मिणी देवी का जन्म हुआ। एक रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार के सदस्य होने के बावजूद उनके पिता इंजीनियर भी थे और संस्कृत के प्रकांड विद्वान भी। एनी बेसेंट के सम्पर्क में आने के बाद उनका सारा परिवार थेओसोफ़ाएट हो गया। 1920 में मात्र सत्रह साल की आयु में जब रुक्मिणी देवी ने थियोसोफ़िकल सोसाइटी के एक 41 वर्षीय अंग्रेज़ डॉ. जी.एस. अरुंडेल से विवाह का निर्णय लिया तो चेन्नई के भारतीय और अंग्रेज़ समाजों द्वारा इसकी तीव्र भर्त्सना हुई। अभिजन अंग्रेज़ समाज उम्र के इस बड़े फ़ासले को लेकर नाराज़ था, तो भारतीय समाज एक वेदांतिक ब्राह्मण कन्या के विजातीय विवाह से आगबबूला था। इस विवाह को अंततः एनी बेसेंट की देखरेख में सम्पन्न किया गया।

देखें : अरविंद घोष, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, क्राजी नज़रुल इस्लाम, कुमारन् आशान्, गजानन माधव मुक्तिबोध, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, प्रेमचंद, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, राजा राममोहन राय, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, वल्लत्तोल नारायण मेनन, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, सुब्रह्मण्यम भारती, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. लीला सैमसन (2010), *रुक्मिणी देवी अरुंडेल : अ लाइफ़*, पेंगुइन बुक्स इण्डिया, नयी दिल्ली.
2. अवन्ती मेदुरी (2005), *रुक्मिणी देवी अरुंडेल (1904-1986) : अ विज़नरी आर्किटेक्ट ऑफ़ इण्डियन कल्चर ऐंड परफार्मिंग आर्ट्स*, मोतीलाल बनारसी दास, नयी दिल्ली
3. शकुंतला रमानी (2004), *रुक्मिणी देवी अरुंडेल : बर्थ सेटेंनरी वॉल्यूम*, कलाक्षेत्र फ़ाउंडेशन, चेन्नई.

— रवि दत्त वाजपेयी

रुथ बेनेडिक्ट

(Ruth Benedict)

सांस्कृतिक मानवशास्त्र के शीर्ष विद्वानों और सिद्धांतवेत्ताओं में एक रुथ फुल्टन बेनेडिक्ट (1887-1948) ने अपने अनुशासन की सीमाओं का विस्तार करते हुए संस्कृति की व्याख्याओं में नये आयामों का समावेश किया। उन्होंने व्यक्तित्व, कला, भाषा और संस्कृति के संबंधों के बारे में स्थापना की कि इनमें से किसी भी प्रवृत्ति को अलगाव में नहीं समझा जा सकता। संस्कृतियों का उनकी सम्पूर्णता में अध्ययन करना ज़रूरी है और केवल तभी उनके अपने नैतिक और मूल्यगत संसार के गहरे तात्पर्यों को ग्रहण किया जा सकता है। बेनेडिक्ट दूसरी संस्कृतियों का अध्ययन और विश्लेषण करते समय मानवशास्त्री की अपनी संस्कृति के मानक हावी हो जाने के प्रचलित रुझान को अनुचित क्रार देती थीं। उनके शिक्षक और आधुनिक मानवशास्त्र के संस्थापक फ्रेंज़ बोआस उन्हें अपना उत्तराधिकारी मानते थे। बोआस द्वारा प्रतिपादित सांस्कृतिक सापेक्षतावाद की विरासत को आगे बढ़ाते हुए बेनेडिक्ट ने दावा किया कि सभी संस्कृतियाँ प्रारूपबद्ध होती हैं, पर उनके प्रारूप मानवीय रचनाशीलता के हाथों समय के साथ बदलते रहते हैं। इसीलिए दुनिया भर की संस्कृतियाँ अपने अलग-अलग विशिष्ट लक्षणों से सम्पन्न हो जाती हैं।

रुथ बेनेडिक्ट का जन्म न्यूयॉर्क शहर में हुआ था। उनके पिता होम्योपैथिक की डॉक्टरी से अच्छी कमायी करते थे। बचपन में पिता का देहांत हो जाने और अपनी माँ को लगातार पिता की याद में रोते देखने का रुथ पर गहरा असर हुआ। वे मृत्यु के बारे में अक्सर सोचने लगीं और सार्वजनिक रूप से आँसू बहाने या अपनी भावनाओं के इज़हार को उन्होंने एक कमज़ोरी के रूप में ग्रहण किया। रुथ की शिक्षा-दीक्षा एक ऐसे समय में हुई जब पुरुषों को स्त्रियों से अकादमीय तौर पर श्रेष्ठ माना जाता था, और स्त्रियों को बहुत पढ़ाने-लिखाने का चलन नहीं था। जिस जमाने में रुथ ने अपनी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक 'पैटर्स ऑफ़ कल्चर' की रचना की, उस समय स्त्रियाँ समान अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही थीं। ऐसे माहौल में एक स्त्री के लिए कोलंबिया जैसे प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर के रूप में सफलतापूर्वक कार्य करना आसान नहीं था। लेकिन रुथ बेनेडिक्ट ने अपनी सहयोगी विद्वान मार्गरेट मीड के साथ मिल कर निजी उदाहरण पेश करके स्त्री-जीवन से जुड़ी हुई रूढ़ छवियों को तोड़ने में सफलता प्राप्त की।

तीस के दशक की शुरुआत से चालीस के दशक के



रुथ फुल्टन बेनेडिक्ट (1887-1948)

मध्य तक रुथ बेनेडिक्ट अपने अनुशासन की सबसे महत्वपूर्ण हस्तियों में से एक थीं। सैद्धांतिक रूप से उनका विमर्श मनोवैज्ञानिक मानवशास्त्र की श्रेणी में आता है। मानवशास्त्र की इस प्रवृत्ति को 'कल्चर ऐंड पर्सनैलिटी' के लकब से भी जाना जाता है। संस्कृति और व्यक्तित्व के रिश्तों के इर्द-गिर्द विकसित हुए इस मानवशास्त्रीय विचार की मुख्य तौर पर तीन अभिव्यक्तियाँ हैं। पहली अभिव्यक्ति व्यक्तित्व पर संस्कृति के प्रभावों को समझने पर जोर देती है। दूसरी संस्कृति पर व्यक्तित्व के असर का अध्ययन करना चाहती है। तीसरी अभिव्यक्ति इन दोनों प्रकार के प्रभावों के अध्ययन का आग्रह करती है। रुथ बेनेडिक्ट दूसरी प्रवृत्ति की अगुआ थीं।

बोआस के साथ मिल कर बेनेडिक्ट ने उत्तर और दक्षिण अमेरिकी इण्डियनों की संस्कृतियों के विशद अध्ययन की परियोजना चलाई। वे अमेरिकी एंथ्रोपोलॉजिकल एसोसिएशन की अध्यक्ष और अमेरिकी फोकलोर सोसाइटी की प्रमुख सदस्य रहीं। बेनेडिक्ट की रचना 'पैटर्स ऑफ कल्चर' का दुनिया की चौदह भाषाओं में अनुवाद हुआ। लम्बे अरसे तक यह पुस्तक मानवशास्त्र की कक्षाओं में पढ़ाई जाती रही। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान अमेरिकी सरकार ने उन्हें युद्ध संबंधी अनुसंधान और परामर्श के लिए आमंत्रित किया। इस दौरान बेनेडिक्ट ने अपने साथी जीन वेल्टफ्रिश के साथ मिल कर 'रेसिज ऑफ मेनकाइंड' जैसा पर्चा लिखा जिसमें सरल भाषा और कार्टूनों की मदद से नस्लवादी आस्थाओं का

वैज्ञानिक खण्डन किया गया था। अपने युद्धकालीन अनुसंधानों के निष्कर्षों के आधार पर बेनेडिक्ट ने 'दि क्रिसएथेमम ऐंड द स्वोर्ड' की रचना की जिसमें जापानी समाज और संस्कृति का अध्ययन पेश किया गया है।

बेनेडिक्ट की रचना 'पैटर्स ऑफ कल्चर' दक्षिण-पश्चिमी अमेरिकी में किये गये उनके फ़ील्डवर्क का परिणाम थी। इस अध्ययन के दौरान वे यह देख कर चकित रह गयीं कि भौगोलिक लिहाज से एक-दूसरे के सम्पर्क में रहने वाले समुदायों के बीच किस तरह के सांस्कृतिक विभेद हैं। उन्होंने मानवीय अस्तित्व के आधारभूत मूल्यों तक पहुँचने के लिए मूल्यों के प्रारूपों (पैटर्स) की शिनाख्त की। मूल्यों के इस प्रारूपीकरण के माध्यम से अपनी इस रचना में बेनेडिक्ट ने संस्कृति का एक सम्पूर्ण सिद्धांत पेश करने के साथ-साथ तीन अलग-अलग संस्कृतियों के विवरण भी प्रस्तुत किये। उन्होंने मानवशास्त्र को 'रीति-रिवाजों के विज्ञान' के रूप में परिभाषित करते हुए कहा कि रिवाजी आचरण और सोच-विचार के मामूली प्रतीत होने वाले विवरणों के आधार पर ही प्रत्येक व्यक्ति की यथार्थगत समझ बनती है। उन्होंने दूसरा निष्कर्ष यह निकाला कि रीति-रिवाज और संस्कृति से संबंधित तथ्य अपनी स्थानीयता के हिसाब से विविध होते हैं। चूँकि जीवन-शैलियों की सम्भावनाएँ लगभग अनंत हैं, इसलिए प्रत्येक मानव समूह का अपना अलग और विलक्षण सांस्कृतिक प्रारूप होता है। इतिहास के क्रम में अलग-अलग सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ आपस में गुँथ कर एक ऐसा बुनियादी प्रारूप रचती हैं जिसे केवल बाक़ी सभी के साथ उसके संबंधों की रोशनी में ही समझा जा सकता है।

रुथ बेनेडिक्ट ने संस्कृति संबंधी अपनी धारणा का प्रतिपादन इस प्रकार किया : संस्कृति इतिहास का उत्पादन है न कि नस्ल का। जैविकीय संदर्भों में मानवीय विविधता को समझने से केवल भ्रांतियों का जन्म ही हो सकता है। इसी तरह संस्कृति को भूगोल, पर्यावरण या प्रौद्योगिकी के आईने में देखना भी उतना ही भ्रांतिमूलक होगा। यानी संस्कृति अपने-आप में दोनों सिरों पर खुली संरचना है जो कभी भी बदल सकती है। इसलिए उसके किसी एक निश्चित प्रकार (टाइपोलॉजी) की स्थापना नहीं की जा सकती। संस्कृतियों को 'अपने आप में एक अलग जगत' और 'अपेक्षाकृत स्थिर' संरचना की तरह देखने के इस प्रभावी दृष्टिकोण की आलोचना सिडनी वाल्ट्ज़ और एरिक वोल्वफ़ ने यह कह कर की कि यह नज़रिया संस्कृतियों पर साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और भूमण्डलीय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रभावों की अनदेखी करता है।

मानवशास्त्री दूसरी संस्कृतियों को अपनी संस्कृति की कसौटियों के आधार पर समझने की कोशिश करते हैं। इस प्रवृत्ति को आड़े हाथों लेते हुए रुथ बेनेडिक्ट ने 'दि क्रिसएथेमम ऐंड द स्वोर्ड' में जापानी संस्कृति के उन पहलुओं

की चर्चा की जो अमेरिकियों की निगाह में सर्वाधिक विचित्र, अंतर्विरोधी और न समझ में आने वाले थे। उन्होंने कहा कि किसी संस्कृति के विदेशज लगने वाले तथ्य उन स्थानीय संदर्भों में पढ़े जाने चाहिए जिनमें वे सहज और प्रकट रूप से मौजूद रहते हैं। उन्होंने बताया कि जापानी समाज एक निश्चित पदानुक्रम में व्यक्ति को मिलने वाले दर्जे और पूर्वजों व समकालीनों के प्रति उसकी कृतज्ञता-अनुभूति को बहुत महत्व देता है। इसके उलट अमेरिकी समाज समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों को बुलंद करने वाला है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ अपने-अपने संदर्भों में महत्व और तात्पर्य से सम्पन्न हैं। इसके बावजूद दोनों संस्कृतियाँ एक-दूसरे के प्रति गलतफ़हमियों की शिकार हैं। जापानी अमेरिकियों को नियम-क्रान्तियों से वंचित और मनमानी करने वाला मानते हैं और अमेरिकियों की मान्यता है कि जापानियों का लोकतंत्र के विचार से कोई नाता नहीं है। दरअसल, दोनों देशों में नागरिक का आत्म-सम्मान अलग-अलग मानकों से बँधा हुआ है। अमेरिका में वह व्यक्ति द्वारा अपने मामलों का प्रबंधन खुद किये जाने के आग्रह से जुड़ा है, जबकि जापान में वह कृपालुओं के ऋण से उन्नत होने का पर्याय है।

दिलचस्प बात यह है कि जापानी संस्कृति का यह अध्ययन किसी फ़्रील्डवर्क पर आधारित नहीं था। यह 'दूर से की गयी एंथ्रोपोलॉजी' था जिसमें अखबारी कतरनों, साहित्य और फ़िल्म रिकॉर्डिंगों को सामग्री के तौर पर इस्तेमाल किया गया था। जापानी संस्कृति के इस अध्ययन से रुथ बेनेडिक्ट अंतर-सांस्कृतिक समझ की पैरोकार के रूप में सामने आती हैं। लेकिन उन्हें सांस्कृतिक सापेक्षतावाद की अंधाधुंध समर्थक के रूप में देखना भी ठीक नहीं होगा। उन्हें लगता था कि मानवशास्त्र के माध्यम से लोग अपने समाज की संस्थाओं को नयी रोशनी में समझ सकते हैं, पर अगर वे नयी समझ के मुताबिक अपने रीति-रिवाज बदलने में लग जाएँगे तो तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में उनकी यह कोशिश तर्कहीन और नुकसानदेह प्रतीत होगी। लोगों को दूसरी संस्कृतियों से सीखना चाहिए, पर अपने तरीके और अपनी ज़रूरतों के मुताबिक न कि ताकतवर और चमकदार संस्कृतियों की शर्तों पर।

देखें : अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्त, क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस, क्लॉड गीर्टज़, जार्ज जिमेल, टैलकॉट पार्संस, डेविड एमील दुर्खाइम, पिएर बोर्दियो, फ्रैंज़ उरी बोआस, मारग्रेट मीड, मारसेल मौज़, मार्गरेट मीड, मिल्टन सिंगर, मैक्स वेबर।

संदर्भ

1. रुथ बेनेडिक्ट (1935), *पैटर्स ऑफ़ कल्चर*, रॉटलेज, लंदन.
2. रुथ बेनेडिक्ट (1946), *द क्रिसैथमम एंड द स्पोर्ट्स*, हॉटन मिफ़िस, बोस्टन.

3. मार्गरेट मीड (1974), *रुथ बेनेडिक्ट*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. जूडिथ शैचर मॉडेल (1983), *रुथ बेनेडिक्ट : पैटर्स ऑफ़ लाइफ़*, युनिवर्सिटी ऑफ़ पेंसिलवानिया प्रेस, फ़िलाडेल्फ़िया.

— अभय कुमार दुबे

रेने देकार्त

(Rene Descartes)

महान गणितज्ञ, सत्रहवीं सदी की वैज्ञानिक क्रांति की प्रमुख हस्ती और 'आधुनिक दर्शन के पितामह' रेने देकार्त (1596-1650) के बारे में माना जाता है कि दर्शन का सभी परवर्ती विकास उनके चिंतन की अनुक्रिया-प्रतिक्रिया में हुआ है। उनकी विख्यात रचना *मेडीटेशंस ऑन फ़र्स्ट फ़िलॉसफ़ी* (1641) आज तक ज्यादातर विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों में एक मानक पुस्तक के रूप में पढ़ाई जाती है। देकार्त की कृति *डिस्कॉर्स ऑन मैथड* (1637) के चौथे हिस्से में उनकी विश्वविख्यात उक्ति दर्ज है : 'मैं सोचता हूँ, इसीलिए मैं हूँ।' देह और मस्तिष्क के द्वैत से जुड़ी सारी बहसों का स्रोत देकार्त के चिंतन में निहित है। वे विश्लेषणात्मक ज्यामिति के संस्थापक थे जिसने बीजगणित और ज्यामिति के बीच सेतु की भूमिका निभाई। इसके बिना समाकलन और अवकलन (केलकुलस) का आविष्कार सम्भव नहीं था। देकार्त के सिद्धांतों ने न्यूटन की भौतिकी के लिए भी रास्ता साफ़ किया।

देकार्त ने पूरी तरह से सुनिश्चित एक ऐसी आधारशिला बनाने का प्रयास किया जिसकी बिना पर ईश्वर का अकाद्य अस्तित्व सिद्ध किया जा सके, विज्ञान की उपयुक्तपद्धति स्थापित की जा सके और भौतिक जगत के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सके। उनका उद्देश्य धर्मशास्त्र और अपने युग के उदीयमान नये विज्ञान को आपस में समरस करना था।

देकार्त अपने चिंतन को पूर्ववर्ती विद्वानों से अलग करके पेश करना चाहते थे। *पैशंस ऑफ़ द सोल* (1649) में उन्होंने दावा भी किया है कि वे मनोभावों के बारे में इस तरह लिखेंगे कि जैसे पहले किसी ने इस विषय में न लिखा हो। हालाँकि उनके दर्शन में अरस्तू, स्टोइकवाद और संत ऑगस्टीन के विचारों की छाप दिखाई पड़ती है, लेकिन वे इनसे कई मुद्दों पर मतभेद भी रखते थे। वे दैहिक तत्त्व का विश्लेषण द्रव्य और स्वरूप में करने के विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि प्रकृति की परिघटना व्याख्यायित करने के



रेने देकार्त (1596-1650)

लिए न तो किसी दैवी स्रोत के सहारे की जरूरत है, न ही अनुभववादियों की तरह प्रकृत अवस्था संकल्पित करने की। अपने समय में ज्ञान की अवस्था से असंतुष्ट देकार्त को लगता था कि केवल गणित एक ऐसी विद्या है जिस पर नपी-तुली नियमबद्ध प्रक्रिया के कारण भरोसा किया जा सकता है। इसलिए उन्होंने दर्शन के क्षेत्र में भी गणितीय पद्धतियों को अपनाया। संत ऑगस्टीन की भाँति उन्होंने भी 'बाक्रायदा संदेह' से सोचना शुरू किया। दर्शन की यह विधि संशयमूलक पद्धतिवाद कहलाती है जिसमें दार्शनिक संदेश से आरम्भ करके विश्वास तक यात्रा करता है। देकार्त ऐसे हर विचार को खारिज करते हैं जिस पर संदेह किया जा सकता है, और फिर उस पर विचार करते हुए उसकी पुनर्स्थापना करते हैं ताकि सच्चे ज्ञान की मजबूत बुनियाद रखी जा सके।

देकार्त की पहली मान्यता यह है कि विचार का अस्तित्व है, और चूँकि उसे मुझसे अलग नहीं किया जा सकता इसलिए मेरा भी अस्तित्व है। इसीलिए उन्होंने दावा किया : *कोजिटो अरगो सम* ('मैं सोचता हूँ, इसीलिए मैं हूँ')। देकार्त ने निष्कर्ष निकाला कि जब वे संदेह कर रहे हैं तो इसका मतलब है कि कोई न कोई संदेह कर रहा है। यानी उनका संदेह करना ही उनके अस्तित्व को सिद्ध करता है। लेकिन इस अस्तित्व का स्वरूप क्या है? हालाँकि स्वरूप अर्थात् काया का एहसास इंद्रियों के जरिये होता है, पर इंद्रियाँ देकार्त को विश्वसनीय नहीं लगतीं। मोम से बनी एक वस्तु की मिसाल से उन्होंने इंद्रियों की सीमा का प्रदर्शन किया। *वेक्स आगूमेंट* के नाम से प्रसिद्ध इस तर्क के जरिये देकार्त दिखाते हैं कि इंद्रियाँ मोम के टुकड़े के रंग, आकार, गंध आदि के प्रति निश्चित हैं, पर आग की लौ के पास जाते ही इस टुकड़े के लक्षण पूरी तरह से बदल जाते हैं। फिर भी लगता है कि वह चीज़ वही है। इंद्रियाँ उसके बदले हुए रूप को समझने में मदद नहीं कर पातीं, जिसके लिए मस्तिष्क की मदद लेनी पड़ती है। इंद्रियगोचरता की अविश्वसनीयता सिद्ध हो जाने के बाद मस्तिष्क की मदद से किया गया निगमन

एकमात्र पद्धति के रूप में रह जाता है।

तीसरे और पाँचवें *मेडिटेशन* में देकार्त दयालु ईश्वर का सत्तामीमांसक प्रमाण देते हुए कहते हैं कि इंद्रियों की वास्तविकता का एहसास उन्हें उस कारगर मस्तिष्क और संवेदी तंत्र के जरिये होता है जो ईश्वरप्रदत्त है। यह उनके साथ कभी छल नहीं कर सकता, इसलिए बोध और निगमन के जरिये जगत का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

पैशंस ऑफ द सोल और अपनी मृत्यु के बाद प्रकाशित *डिस्क्रिप्शन ऑफ द ह्यूमन बॉडी* (1647) में देकार्त दिखाते हैं कि शरीर मशीन की तरह काम करता है। भौतिकी के नियमों के अनुसार उसमें विस्तार और गति है। दूसरी तरफ मस्तिष्क भौतिकी के नियम नहीं मानता और पाइनियल ग्रंथि के स्तर पर काया के साथ उसकी अन्योन्यक्रिया होती है। यह एक द्वैत है जिसमें मस्तिष्क काया का नियंत्रक है, पर काया भी उस मस्तिष्क को प्रभावित कर सकती है जो बुद्धिसंगत होते हुए भी भावावेग के अधीन हो जाता है। देकार्त से पहले काया और मस्तिष्क का आपसी संबंध आम तौर से एकतरफ़ा ही बताया जाता था।

पशुओं को मस्तिष्कविहीन और पाइनियल ग्रंथि से वंचित मानने के कारण देकार्त की धारणा यह बनी कि वे पीड़ा की अनुभूति नहीं कर सकते। यह धारणा उन्हें जीवित पशुओं के अंगोच्छेदन पर आधारित प्रयोगों की तरफ़ ले गयी। युरोप में नवजागरण अवधि तक अंगोच्छेदन की निर्मम प्रवृत्ति जारी रही।

देकार्त का जन्म फ्रांस के ला हाये ऐन तौराइन के एक अमीर परिवार में हुआ। उनके पिता प्रांतीय संसद के सदस्य भी थे। देकार्त ने पिता की इच्छा के मुताबिक वकील बनना पसंद नहीं किया। आइज़क बीकमेन की सोहबत के कारण उनकी दिलचस्पी गणित और भौतिकी की नयी समस्याओं में पैदा हुई। फ्रांस में पैदा होने और युरोप की यात्राएँ करने के बावजूद देकार्त का अधिकतर रचनाशील समय हालैंड में गुज़रा जहाँ वे बीस साल रहे। विचित्र बात यह थी कि इस अवधि में उन्होंने अपना पता कम से कम चौदह बार बदला। 1633 में जब रोमन कैथोलिक चर्च ने गैलीलियो और उनके विज्ञान की भर्त्सना की तो देकार्त ने अपनी रचना *ट्रीटाइज़ ऑन द वर्ल्ड* का प्रकाशन स्थगित कर दिया ताकि उनका हाल भी वैसा ही न हो। उनका देहांत निमोनिया की बीमारी से स्टाकहोम, स्वीडन में हुआ।

धार्मिक आस्था से रोमन कैथोलिक देकार्त ने ईश्वर को अकाट्य रूप से प्रमाणित करने की चेष्टा तो की, पर उनका वैज्ञानिक रवैया चर्च को नाराज़ करने के लिए काफ़ी था। चर्च के अधिकारी मानते थे कि वे एक छिपे हुए नास्तिक या देववादी हैं। 1663 में पोप द्वारा उनकी रचनाओं को प्रतिबंधित पुस्तकों की सूची में डाल दिया गया।

देकार्त दर्शन के बुद्धिवादी स्कूल का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने बारुश स्पिनोज़ा और गोटफ्रीड लाइबनिज़ के मिल कर द्वैतवाद की त्रयी बनायी। अनुभववादियों ने उनका विरोध किया। हॉब्स, लॉक, बर्कले और ह्यूम ने उनके प्रत्ययों की आलोचना की। हॉब्स ने देकार्त के दार्शनिक प्रोजेक्ट की जो आलोचना लिखी वह *फ़र्स्ट फ़िलॉसफ़ी* में देकार्त के उत्तर के साथ संकलित है।

देकार्त ने जैविकी का सहारा ले कर जिस तरह द्वैतवाद को सिद्ध करने का प्रयास किया, वह विवादास्पद था। वे आत्मा यानी मस्तिष्क (जो देकार्त के अनुसार सिर्फ़ मनुष्यों के पास होता है) को एकात्मक मानते थे और पाइनियल ग्रंथि भी उनके हिसाब से एकात्मक थी। देकार्त के ये दोनों दावे ग़लत साबित हुए। पाइनियल ग्रंथि दो गोलार्धों से मिल कर बनी होती है, और पशुओं में भी पायी जाती है। मस्तिष्क पशुओं के पास भी होता है।

बीसवीं सदी में नारीवादियों ने देकार्तवादी दर्शन की सुव्यविस्थित आलोचना पेश की। नारीवादी दार्शनिक हस्तक्षेप ने दिखाया कि किस तरह देकार्त ने विचार प्रक्रिया को ही पौरुषपूर्ण बना दिया है। नारीवादियों ने कहा कि अगर मनुष्य एक मशीन है तो मशीन प्रजनन नहीं कर सकती। अगर सारे जगत की व्याख्या गणितीय समीकरणों के ज़रिये की जाएगी तो इनसान एक डरावने परायेपन का शिकार हो जाएगा। दरअसल, देकार्त प्रवर्तित विज्ञान के दर्शन (जो आधुनिकता के मूलतत्त्वों में शामिल है) का संबंध आंतरिक प्रकृति, बाह्य प्रकृति और स्त्री के दमन से है। यह दर्शन अनिवार्यतः पुरुषवादी और स्त्रीत्व से पलायन की इच्छा का शिकार है।

देखें : अफ़लातून, अरस्तू, आग्युस्त कॉम्त, इमैनुएल कांट, ईसैया बर्लिन, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, कार्ल रायमंड पॉपर, ज्यॉ ज़ाक रूसो, चार्ल्स-लुई द सेकॉद मोंतेस्क्यू, जार्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, निकोलो मैकियावेली, मार्सिलियस पाडुआ के, सुकरात, संत थॉमस एक्विना।

संदर्भ

1. स्टीफ़न गाउक्रोगर (1995), *देकार्त : ऐन इंटलेक्चुअल बायोग्राफी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
2. ए.सी. प्रेलिंग (2005), *देकार्त : द लाइफ़ ऐंड टाइम्स ऑफ़ आ जीनियस*, वाकर पब्लिशिंग हाउस, न्यूयॉर्क.
3. सूज़न बोर्डो (1997), *द फ़्लाइट टु ऑब्जेक्टिविटी : एसेज़ ऑन कर्टेज़ियनियज़म ऐंड कल्चर*, स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्यूयॉर्क प्रेस, अल्बेनी.
4. कार्ल स्टेर्न (1965), *द फ़्लाइट फ़्रॉम वुमन*, नूनडे, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग

(Rosa Luxemburg)

यूरोप के क्रांतिकारी समाजवादी आंदोलन की शीर्ष नेताओं में से एक, मार्क्सवाद को क्रांति के बजाय सुधारवाद के रास्ते पर ले जाने की कठोर आलोचक, शिक्षाविद् और असाधारण मार्क्सवादी सिद्धांतकार रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग (1870-1919) का सारा जीवन क्रांति के लिए समर्पित रहा और क्रांति की वेदी पर ही उन्होंने अपने जीवन की आहुति दी। उन्होंने तीन यूरोपीय देशों, पोलैण्ड, जर्मनी और रूस, के समाजवादी आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाई। सोशल डेमोक्रेसी ऑफ़ द किंगडम ऑफ़ पोलैण्ड की प्रमुख संस्थापकों में से एक रोज़ा अपने राजनीतिक जीवन के दूसरे दौर में जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी (एसपीडी) के वामपंथी धड़े की प्रमुख सिद्धांतकार बन कर उभरीं। जर्मनी की क्रांतिकारी राजनीति में नेतृत्वकारी भूमिका निभाने के साथ-साथ रोज़ा ने रूस में क्रांति के लिए भी लेनिन के साथ काम किया, लेकिन वे पार्टी संगठन को हरावल दस्ते की तरह देखने के बोल्शेविक रवैये के प्रति असहज थीं। अक्टूबर क्रांति होने के बाद बोल्शेविक सरकार में लोकतंत्र और स्वतंत्रता की कमी के सवाल पर भी रोज़ा ने उसके प्रति आलोचनात्मक रुख अपनाया। इन आलोचनाओं के बावजूद लेनिनवादियों के बीच रोज़ा आज तक सम्मान की निगाह से देखी जाती हैं। रोज़ा यह तो मानती थीं कि पूँजीवादी शासन का हिंसक तख्तापलट ज़रूरी है, लेकिन साथ में उनका यह भी आग्रह था कि मज़दूरों के शासन को आज्ञादी और लोकतंत्र से भरपूर होना चाहिए। उनका कहना था : 'केवल सरकार के समर्थकों के लिए और केवल एक पार्टी के सदस्यों के लिए, भले ही वे संख्या में कितने भी अधिक क्यों न हों, स्वतंत्रता अपने सार में स्वतंत्रता होती ही नहीं। ... भिन्न विचार रखने वाले को दी जाने वाली स्वतंत्रता ही हमेशा सच्ची स्वतंत्रता होती है।' रोज़ा चाहती थीं कि मज़दूरों के राज्य में आम चुनाव कराए जाएँ और अभिव्यक्ति की पूरी आज्ञादी हो। लेनिन और उनके बीच चली बहस आज भी दुनिया भर के समाजवादियों के लिए शिक्षाप्रद बनी हुई है। अपने ख़ास्मे से पहले जिस समय सोवियत संघ संकट के दौर से गुज़र रहा था, सारी दुनिया में मार्क्सवादी प्रेक्षकों को रोज़ा की वे चेतावनियाँ याद आयीं जो उन्होंने बीसवीं सदी के दूसरे दशक में अक्टूबर क्रांति की आलोचना करते हुए दी थीं।

पोलैण्ड के एक मध्यवर्गीय यहूदी परिवार में पैदा हुई रोज़ा बचपन से ही बेहद प्रतिभाशाली थीं। मिडिल स्कूल में पढ़ने के दौरान ही वे क्रांतिकारी राजनीति के सम्पर्क में आ गयी थीं। उन्होंने स्विट्ज़लैण्ड के ज्यूरिख विश्वविद्यालय में



रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग (1870-1919)

पोलैण्ड के आर्थिक विकास पर अनुसंधान किया। मार्क्सवादी चिंतक और नेता रोज़ा की शुरुआत पॉलिश प्रश्न में हस्तक्षेप करने से हुई। वे पोलैण्ड की स्वतंत्रता और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के उसके अधिकार की सैद्धांतिक विरोधी थीं। लेनिन के विचारों के विपरीत उन्होंने पूरे रूसी साम्राज्य के मजदूर वर्ग के एकीकृत आंदोलन का पक्ष लिया।

1898 में वे जर्मनी पहुँची और जर्मन पार्टी में काम करते हुए उन्होंने कार्ल काउत्स्की द्वारा सम्पादित पत्रिका में नियमित योगदान किया। पार्टी के क्रांतिकारी हिस्से के सैद्धांतिक प्रवक्ता के रूप में उन्होंने संशोधनवादी विचारक एडुअर्ड बर्न्सटीन की आलोचना करते हुए मार्क्सवाद के क्रांतिकारी सार की रक्षा करने का प्रयास किया। मार्क्सवाद में संशोधन के हिमायतियों का कहना था कि मार्क्स द्वारा किया गया मजदूर क्रांति का आह्वान आधुनिक पूँजीवाद और तत्कालीन जर्मन यथार्थ के लिए प्रासंगिक नहीं रह गया है। बर्न्सटीन का विचार था कि पूँजीवादी विकास अर्थव्यवस्था को सामाजिक रूप से संगठित करता चला जाता है और उसमें समाजवादी दिशा में क्रमशः विकसित होते चले जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इसलिए समाजवाद की स्थापना करने के लिए सत्ता पर कब्ज़ा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। रोज़ा ने 1899 में प्रकाशित अपनी रचना *रिफ़ॉर्म और रेवोल्यूशन?* और 1903 में प्रकाशित *स्टेगनेशन ऐंड प्रोग्रेस ऑफ़ मार्क्सिज़म* में इस नज़रिये पर आक्रमण करते हुए कहा

कि समाज-सुधार और सामाजिक क्रांति का आपस में कोई मुकाबला नहीं किया जा सकता। संशोधनवादी रास्ते पर चल कर जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी (एसपीडी) समाजवाद की स्थापना करने के बजाय पूँजीवाद में सुधार करने वाला दल बन जाएगी। रोज़ा ने माना कि पूँजीवाद के तहत उत्पादन उत्तरोत्तर सामाजिक चरित्र ग्रहण करता चला जाता है, पर उसके साथ-साथ बड़ी-बड़ी कम्पनियों और कॉरपोरेशनों की सत्ता भी क्रायम होती जाती है। इसका नतीजा श्रम के भीषण शोषण और दमन में निकलता है। बर्न्सटीन के विपरीत रोज़ा का दावा था कि अपने ही अंतर्विरोधों के कारण पूँजीवाद के ढह जाने की मार्क्स द्वारा भविष्यवाणी अभी ग़लत साबित नहीं हुई है। इसलिए मार्क्सवादियों को संसद में भागीदारी के जरिये समाज-परिवर्तन के फेर में नहीं पड़ना चाहिए।

1913 में प्रकाशित *द एक्युमुलेशन ऑफ़ कैपिटल* को रोज़ा की सर्वश्रेष्ठ रचना और मार्क्सवादी विचार में मौलिक योगदान माना जाता है। यह किताब एसपीडी के सेंट्रल पार्टी स्कूल में कार्यकर्ताओं को पढ़ाते हुए रोज़ा द्वारा दिये गये लेक्चर्स का नतीजा थी। इस रचना के कम से कम चार आयाम ऐसे थे जो उसे तत्कालीन मार्क्सवादी चिंतकों से अलग करते थे। पहला, साम्राज्यवाद का गहन आर्थिक विश्लेषण करते हुए रोज़ा का निष्कर्ष था कि विकसित पूँजीवादी देशों में शोषण के कारण कम उजरत पाने से मजदूर वर्ग की क्रय-शक्ति कम हो जाती है और वह जिंसों का पूरी तरह से उपभोग नहीं कर पाता। इसीलिए पूँजीपतियों को विकसित बाज़ारों से बाहर कच्चे माल, उत्पादन और उपभोग की सम्भावनाएँ तलाश करनी पड़ती हैं। दूसरा, साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की उच्चतम अवस्था या कोई नयी अवस्था मानने के बजाय रोज़ा की मान्यता थी कि साम्राज्यवाद के पहलू तो पूँजीवाद के शुरुआती चरण में ही मौजूद थे जिसे मार्क्स ने पूँजी का आदिम संचय क्रार दिया था। संचय की यह प्रक्रिया बिना रुके पूरी रफ़्तार से हर दम जारी रहती है। इस सिलसिले में पूँजीवाद को अपनी सम्पूर्ण परिपक्वता हासिल करने के लिए ग़ैर-पूँजीवादी तबकों और सामाजिक संगठनों के साथ सहअस्तित्व में रहना पड़ता है। तीसरा, रोज़ा ने पूँजीवादी विस्तार के सांस्कृतिक आयामों को भी रेखांकित किया। अपने तर्क की पुष्टि के लिए उन्होंने पूँजीवाद के हाथों अंग्रेज़ किसानों और कारीगरों की बर्बादी, अमेरिकी रेड इण्डियनों की हिंसक तबाही, अमेरिका के कई इलाकों में छोटे स्तर की खेती के ख़ात्मे, युरोपीय ताक़तों द्वारा अफ़्रीकी जनता को गुलाम बनाने और अल्जीरिया में फ़्रांसीसी उपनिवेशवाद, भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की विस्तृत मिसालें दीं। चौथा, रोज़ा ने सैन्यवाद की आर्थिक भूमिका पर भी प्रकाश डाला। उनका कहना था कि पूँजी अपने इतिहास के हर अहम मुकाम पर फ़ौजों की मदद से संचय करती है। फ़ौज पर होने वाला खर्चा ही अपने आप में एक तरह का संचय है। इसके कारण

आधुनिक राज्य उन जिंसों का बड़े पैमाने पर खरीददार बन जाता है जिनके साथ बेशी मूल्य जुड़ा होता है।

1904 में रोजा ने *ऑर्गनाइजेशनल क्वेश्चंस ऑफ रशियन सोशल डेमोक्रेसी* लिख कर बोल्शेविकों द्वारा हरावल दस्ते नुमा एक ऐसी पार्टी बनाने की आलोचना की जो कड़े अनुशासन और केंद्रीकरण पर आधारित थी। इसी आलोचना को विस्तृत करते हुए रोजा ने 1906 में प्रकाशित अपनी अनूठी रचना *मास स्ट्राइक, पॉलिटिकल पार्टी ऐंड ट्रेड युनियंस* में सर्वहारा क्रांति संबंधी अपनी संकल्पना पेश की। उनकी मान्यता थी कि हड़तालों, प्रदर्शनों, जुलूसों और सभाओं की विशाल लहर में डूबता-उतराता मजदूर वर्ग अपने प्रयासों, अनुभवों और गलतियों से सीख कर ही परिपक्व हो सकता है। उसे क्रांतिकारी पार्टी के दिशा-निर्देशों की आवश्यकता तो होती है, लेकिन पार्टी की जकड़बंदी की नहीं। 1918 में प्रकाशित *द रशियन रेवोल्यूशन* में रोजा ने चेतावनी देते हुए कहा कि अगर आम चुनाव नहीं होंगे, प्रेस और सभा-संगठन की असीमित आजादी नहीं होगी, अगर विभिन्न मतों को एक-दूसरे का सामना नहीं करने दिया जाएगा तो सार्वजनिक संस्थाओं की जीवनी-शक्ति समाप्त हो जाएगी। सक्रियता और पहलकदमी के नाम पर नौकरशाही का बोलबाला होगा। सार्वजनिक जीवन निष्क्रिय हो कर मुट्ठी भर नेताओं और मजदूर वर्ग के ऊपरी तत्वों का मोहताज हो जाएगा। मजदूर बीच-बीच में मीटिंगों में नेताओं के भाषणों पर ताली बजाते रहेंगे और प्रस्तावों पर उनकी मुहर लगती रहेगी। इसका परिणाम कुछ लोगों की तानाशाही में निकलेगा, न कि सर्वहारा की तानाशाही में।

अपने क्रांतिकारी विचारों और सांगठनिक सक्रियता के लिए रोजा को जीवन में कई बार दमन का सामना करना पड़ा। जार की निरंकुशता के खिलाफ आयी क्रांतिकारी लहर में भागीदारी करने के लिए उन्हें रूस में गिरफ्तार किया गया। प्रथम विश्व-युद्ध में जर्मनी की भूमिका का एसपीडी ने समर्थन किया। रोजा और उनके साथी इसके विरोध में थे। पार्टी से निकाले जाने के बाद उन्होंने कार्ल लीबनेख्त के साथ स्पार्टाकस लीग का गठन किया। युद्ध के दौरान उनका ज्यादातर वक्त जेल में बीता। नवम्बर, 1918 में छूटने के बाद रोजा ने रैडिकल सोशलिस्टों के एक छोटे से गुट के साथ मिल कर जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी बनायी 1919 में जनवरी के दूसरे हफ्ते में रोजा की चेतावनियों के बावजूद लीबनेख्त और उनके साथियों ने बिना पूरी तैयारी के क्रांतिकारी उग्रवाद के वशीभूत हो कर हथियारबंद बगावत शुरू कर दी। नतीजा खूनी दमन में निकला। अर्धसैनिक बलों ने वाइमर रिपब्लिक की हिफाजत करने के नाम पर क्रांतिकारियों की योजनाबद्ध हत्याएँ कीं। रोजा और लीबनेख्त को पकड़ कर यातनाएँ दी गयीं और बिना मुकद्दमा चलाये गोली मार दी गयी।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ाई लांगे, आंगिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूर्च्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा का मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रैंज़ फानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमो, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. पी. फ़ोलिख (1972), *रोजा लक्ज़ेमबर्ग : हर लाइफ़ ऐंड वर्क*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. पी. हुडिस और के. ऐंडरसन (सम्पा.) (2004), *द रोजा लक्ज़ेमबर्ग रीडर*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. एन. गेराज़ (1983), *द लीगेसी ऑफ़ रोजा लक्ज़ेमबर्ग*, वरसो, लंदन.
4. जे.पी. नेटल (1966), *रोजा लक्ज़ेमबर्ग*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
5. एम.ए. वाटर्स (1970), *रोजा लक्ज़ेमबर्ग स्पीक्स*, पाथफ़ाइंडर, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

रोमिला थापर

(Romila Thapar)

रोमिला थापर (1931-) भारतीय इतिहास-लेखन की नवीन मार्क्सवादी धारा की उस परिपाटी की प्रमुख हस्ताक्षर हैं जो औपनिवेशिक इतिहास-लेखन की रूढ़िवादी और एकांगी परम्परा के विपरीत हैं। रोमिला थापर ने भारत के प्राचीन इतिहास को एक नयी दृष्टि से देखा और प्राच्यवादी निरंकुशता, आर्य प्रजाति और अशोक की अहिंसा संबंधी स्थापित मान्यताओं का खण्डन करते हुए अनुसंधान का दायरा विकसित किया। बीसवीं सदी के मध्य में भारतीय इतिहास को सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में देखने की मार्क्सवादी परम्परा का आगाज़ डी.डी. कोसम्बी के खाँटी



रोमिला थापर (1931-)

भारतीय तरीके से हुआ था। इसी को राम शरण शर्मा के साथ रोमिला थापर ने आगे बढ़ाया। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं : *अशोक ऐंड द डिक्लाइन ऑफ़ द मौर्याज़* (1963), *हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया* (1966), *ऐंशिएंट इण्डियन सोशल हिस्ट्री* (1978), *फ्रॉम लीनियेज टू स्टेट* (1983), और *इंटरप्रिटिंग अर्ली इण्डिया* (1992)। आर्यों के आक्रमण, उनके आप्रवासन के सिद्धांत, सोमनाथ मंदिर के ऐतिहासिक विवेचन और महाकाव्यों पर अपनी टिप्पणियों के लिए विवादों में आर्यों थापर ने 1992 और 2005 में भारत सरकार द्वारा दिये जाने वाले पद्मभूषण पुरस्कार को यह कहते हुए अस्वीकार कर दिया कि वह केवल अकादमिक संस्थाओं या फिर पेशागत रूप से किये गये कार्यों के लिए प्रदत्त पुरस्कारों को ही स्वीकार करेंगी। पिछले एक हज़ार साल के इतिहास को केवल हिंदू और मुसलमान समुदाय के परस्पर-विरोध तथा संघर्ष की सतत चली आ रही एकल और पूर्वग्रहग्रस्त धारणा से ओत-प्रोत बताने की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति की प्रखर आलोचक रोमिला थापर मानती हैं कि साम्प्रदायिक तत्त्व इतिहास की पुनर्व्याख्या चालाकी से चुने गये उद्धरणों के ज़रिये करते हैं।

रोमिला थापर का जन्म 30 नवम्बर, 1931 को लखनऊ में एक सम्पन्न पंजाबी परिवार में हुआ। पंजाब विश्वविद्यालय से स्नातक करने के बाद थापर ने युनिवर्सिटी ऑफ़ लंदन के स्कूल ऑफ़ ओरिएंटल ऐंड अफ्रीकन स्टडीज़ से ए.एल. बाशम के शोध-निर्देशन में 1958 में पीएचडी की उपाधि अर्जित की। पंजाब में अपने अध्यापन की शुरुआत के बाद 1963 में वे नयी दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग से बतौर रीडर जुड़ीं। 1970 में वे जवाहरलाल नेहरू युनिवर्सिटी में प्राचीन भारतीय इतिहास की विशेषज्ञ प्रोफ़ेसर बनीं और सेवानिवृत्ति के बाद से वहीं 1993 से प्रोफ़ेसर एमेरिटस हैं।

रोमिला थापर ने अपनी इतिहास-लेखन की यात्रा का प्रारंभ 1963 में प्रकाशित *अशोक ऐंड द डिक्लाइन ऑफ़ द*

मौर्याज़ से किया, जो पचास वर्षों बाद भी सम्बद्ध विषय की सर्वाधिक उद्धृत होने वाली पुस्तक बनी हुई है। एक ओर इस कृति में मौर्य सम्राट अशोक के इतिहास की पुनर्व्याख्या है। इसमें धम्म की उसकी नीति को आदर्शवादी शासक की दैवी चेतना से इतर तत्कालीन समय की राजनीतिक और सामाजिक आवश्यकता के रूप में चित्रित किया गया है। रोमिला थापर बताती हैं कि कैसे दक्षिणवर्ती तमिल भाग छोड़ कर सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप में फैल चुके मौर्य साम्राज्य के विविध नृजातीय एवं सांस्कृतिक तत्त्वों पर साम्राज्यिक प्रभुत्व स्थापित करने और उसे अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए मौर्य साम्राज्य को जिस बाध्यकारी कारक की आवश्यकता थी, उसी की पूर्ति के लिए अशोक ने धम्म का उपयोग किया। धम्म की नीति उच्च सामाजिक आचार और नागरिक दायित्व पर आधारित सामाजिक व्यवहार की संहिता थी, जो न्यूनतम सीमा तक साम्प्रदायिक थी। उसने अत्यधिक नैतिक प्रकृति के सामाजिक उत्तरदायित्वों पर जोर दिया।

दूसरी ओर, मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों का विश्लेषण करते हुए रोमिला थापर मौर्यों की अत्यधिक केंद्रीकृत प्रशासनिक प्रणाली के समुचित संचालन हेतु बहुत हद तक शासक की व्यक्तिगत योग्यता को ज़िम्मेदार मानती हैं। थापर का विवेचन मुख्य रूप से मौर्ययुगीन प्रशासनिक व्यवस्था की विशेषताओं पर आधारित है। उन्होंने शासन में केंद्रीकरण की प्रधानता का उल्लेख किया है। ऐसे शासन के लिए बेहद ज़रूरी था कि शासक काफ़ी योग्य हो। केंद्र की शिथिलता के कारण शासन का कमजोर पड़ना स्वाभाविक था। अशोक की मृत्यु के बाद, विशेषकर जब साम्राज्य का विभाजन हो गया, केंद्र का नियंत्रण ढीला पड़ गया और प्रांत साम्राज्य से पृथक् होने लगे। थापर लिखती हैं कि असाधारण क्षमता वाले शासकों की अनुपस्थिति में भी साम्राज्य का विघटन रोकना सम्भव हो सकता था यदि उस समय एक प्रकार की राष्ट्रव्यापी चेतना विद्यमान होती जिसके अंतर्गत राज्य की अवधारणा को सम्राट, प्रशासन और सामाजिक व्यवस्था की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता और प्रत्येक नागरिक की निष्ठा को इस दृष्टि से आवश्यक माना जाता। पर मौर्यकालीन भारत में ऐसी किसी चेतना का अस्तित्व नहीं मिलता।

पतन के लिए ज़िम्मेदार अर्थव्यवस्था का ज़िक्र करते हुए रोमिला थापर ने डी.डी. कोसम्बी के इस मत का उल्लेख किया है कि उत्तरवर्ती मौर्यों के राज्य काल में अर्थव्यवस्था संकटग्रस्त थी। कर वृद्धि के लिए अनेक उपाय अपनाये गये, और इस काल के सिक्कों में काफ़ी मिलावट मिलती है। परंतु थापर ने इस मत का खण्डन किया है। वे बताती हैं कि मौर्यों के ही काल में सर्वप्रथम राज्य की आय के प्रमुख साधन के रूप में करों के महत्त्व को समझा गया। विकसित अर्थ व्यवस्था और राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार के साथ करों में

वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। सिक्कों में मिलावट होने से यह नतीजा निकाला जा सकता है कि अर्थव्यवस्था पर भारी दबाव था। उत्तरवर्ती मौर्यों के शासन में क्षीण-नियंत्रण के कारण मिलावट वाले सिक्के अधिक मात्रा में जारी होने लगे, विशेषकर उन प्रदेशों में जो साम्राज्य से अलग हो गये थे। चाँदी की अधिक माँग होने के कारण हो सकता है कि चाँदी के सिक्कों में चाँदी की मात्रा कम हो गयी हो। इसके अलावा कोसम्बी की यह धारणा इस आधार पर बनी कि ये आहत सिक्के मौर्य काल के हैं, किंतु यह भी निश्चित नहीं है। हस्तिनापुर तथा शिशुपालगढ़ की खुदाइयों से जो मौर्यकालीन अवशेष मिले हैं, उनसे एक विकसित अर्थव्यवस्था तथा भौतिक समृद्धि का ही परिचय मिलता है।

वैदिक संस्कृति से शुरू होकर सोलहवीं सदी में युरोपियनों के आगमन तक के विस्तृत काल को समाहित करते हुए अपनी दूसरी कृति *हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया* (खण्ड-1) (1966) की रचना रोमिला थापर ने इतिहास में सामान्य रुचि रखने वाले पाठक वर्ग को ध्यान में रख कर की है। राजनीतिक इतिहास और राजवंशों के ऐतिहासिक अध्ययन और विश्लेषण की पूर्वस्थापित परम्परा से अलग हट कर रोमिला थापर इस कृति में नयी प्राथमिकताओं पर बल देते हुए बताती हैं कि कैसे राजनीतिक प्रणाली में परिवर्तन आर्थिक संरचना में परिवर्तनों से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा था और कैसे इन परिवर्तनों ने समन्वित रूप से सामाजिक संबंधों पर गहरा प्रभाव डाला था। वे यह भी कहती हैं कि ये परिवर्तन एक जनसमुदाय और एक संस्कृति का निर्माण भी करते हैं। थापर की यह कृति जहाँ एक ओर भारतीय जन-जीवन का प्रतीकात्मक रूप दिखाती है, वहीं दूसरी ओर संस्कृति को भौतिक जनजीवन में आधारभूत और उसी के द्वारा पुष्पित-पल्लवित मानती है। इसके अलावा इस कृति में थापर ने आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, कला और साहित्यिक पहलुओं को उनके अंतर्संबंधों के आलोक में तथा राजनीतिक इतिहास के प्रमुख तत्त्वों, जैसे उद्योग, ग्राम्य-नगरीय जीवन, वाणिज्य-व्यापार और सामुद्रिक गतिविधियों का विशेष ऐतिहासिक निरूपण किया है।

रोमिला थापर की रचना *ऐंशिंट इण्डियन सोशल हिस्ट्री* प्राचीन काल से ईसा के उपरांत पहली सहस्राब्दी तक के प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन से संबंधित विषयों पर केंद्रित है। थापर ने इसी पुस्तक में संकलित निबंध 'सोसाइटी ऐंड लॉ इन द हिंदू ऐंड बुद्धिस्ट ट्रेडीशंस' शीर्षक निबंध में जहाँ एक तरफ़ हिंदू और बौद्ध धर्म की सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन किया है, वहीं दूसरी तरफ़ जाति व्यवस्था में सामाजिक प्रतिरोध और सामाजिक गतिशीलता के रुझान के पीछे बौद्ध धर्म की भूमिका की पड़ताल भी की है। थापर बताती हैं कि हिंदू परम्परा

सामान्यतः राजनीति और शासन के संदर्भ में राजसत्तात्मक और सर्वाधिकारवादी, कानून में भेद-भावपरक, सामाजिक संबंधों में जातीयताग्रस्त और विद्वेषपूर्ण तथा मानव स्वतंत्रता और व्यक्ति के अधिकारों के प्रति नकारात्मक थी। उसकी तुलना में गैर-रूढ़िवादी बौद्ध और जैन परम्परा ब्राह्मणवादी प्रणाली के रूपवाद (फ़ॉर्मलिज़म) पर अनुभववादी चिंतन के महत्त्व को स्थापित करते हुए, मनुष्यों में समता तथा विधि के समक्ष उनकी समानता पर बल देती थी। इन परम्पराओं ने दास-प्रथा का खण्डन किया और महिलाओं के उच्चतर सामाजिक दर्जे को प्रोत्साहित किया।

इसी कृति के एक अन्य निबंध 'इथिक्स, रिलिजन ऐंड सोशल प्रोटेस्ट इन द फ़र्स्ट मिलेनियम बीसी इन नार्दन इण्डिया' में थापर ने बौद्ध धर्म की व्याख्या आचार प्रणाली और धर्म के सामाजिक प्रतिवाद के साधन के रूप में की। 'सोशल मोबिलिटी इन ऐंशिंट इण्डियाविद स्पेशल रेफ़रेंस टु इलीट गुप्स' नामक एक अन्य लेख में थापर ने प्राचीन काल में वर्ण आधारित भारतीय समाज के जड़ होने की धारणा पर कड़ी आपत्ति की। एक हजार ईसा पूर्व से एक हजार ईस्वी तक के बारे में थापर ने बताया कि कि कैसे रीति-रिवाज के बाह्य-स्तर पर न सही लेकिन वास्तविक अर्थों में सामाजिक प्रस्थिति में एक प्रकार की गतिशीलता विद्यमान रही।

1996 के अपने लेख 'थियरी ऑफ़ आर्यन रेस ऐंड इण्डिया: हिस्ट्री ऐंड पॉलिटिक्स' शीर्षक लेख में आर्य आगमन के सिद्धांतों की व्याख्या के दौरान रोमिला थापर ने प्राचीन भारत के सामाजिक इतिहास के अध्ययन में दृष्टिकोणों के नये अभिमुखन पर बल दिया। उन्होंने बताया कि पहले तो पुरातात्विक साक्ष्यों से यह संकेत नहीं मिलता कि बड़े पैमाने पर आर्यों का आक्रमण अथवा आप्रवास हुआ होगा। इंडो-आर्यों द्वारा बोली जाने वाली भाषा को उन नवागंतुकों के लघु समूहों द्वारा अव्यवस्थित रूप से अपनाया गया जो लोहे और घोड़े का प्रयोग करते थे। थापर की दूसरी धारणा थी कि जाति के उद्भव को गौरवर्ण आर्यों द्वारा श्यामवर्ण अनार्यों पर प्रभुत्व के परिणाम के रूप में नहीं अपितु सामाजिक नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखना चाहिए क्योंकि जातीय समाज का मूल रूप हड़प्पा संस्कृति में भी विद्यमान हो सकता है। अपनी तीसरी अवधारणा प्रस्तुत करते हुए थापर उल्लेख करती हैं कि उत्तर वैदिक साहित्य के धार्मिक पक्षों में अनेक अनार्य व्यवहार और विश्वास की प्रस्थापनाओं से यह मानना पूरी तरह असंगत लगता है कि यह साहित्य विशुद्ध रूप से आर्यों द्वारा ही रचा गया था।

रोमिला थापर कृत फ़ॉर्म *लीनियेज टू स्टेट* में ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी में मध्यवर्ती गंगा के मैदान में राज्य-निर्माण की प्रक्रिया का ऐतिहासिक विश्लेषण है। इस कृति में रोमिला

थापर ने सवाल पूछा कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने राज्य के इतिहास की पूर्वकल्पना कैसे कर ली थी बिना इस बात को जाने कि वह अस्तित्व में कैसे आया। थापर ने गंगा घाटी में राज्य-निर्माण के कारणों को बज़रिये कृषि उत्पादन की वंश पद्धति से निजी भू-सम्पदा की कृषक अर्थव्यवस्था एवं क्रमशः लगातार बढ़ते नगरीकरण की दिशा की संक्रमणकालीन अवस्था में तलाशा। थापर ऋग्वैदिक समाज को कुल आधारित मानते हुए राज्य निर्माण के लिए ऐसी निर्वैयक्तिक अवस्था में लोहे के प्रयोग, हल से खेती में उन्नति तथा गृहपति या सम्भ्रांत कृषकों के एक वर्ग के रूप में उदय को ज़िम्मेदार मानती हैं। वे बताती हैं कि कैसे इन सम्भ्रांत कृषकों ने कृषि अधिशेष के एक अंश को व्यापार और वाणिज्य में लगा कर व्यापार को बढ़ावा दिया, और कैसे इस प्रक्रिया ने बाजारों की स्थापना, नगरीकरण, मुद्रा के प्रचलन और बैंकिंग और व्यापार को प्रारंभ किया। साथ ही यह भी कि ऐसे समाज ने ही अपने हितों के संरक्षण और प्रोत्साहन हेतु राज्य रूपी ऐसे सांगठनिक ढाँचे की आवश्यकता का मार्ग प्रशस्त किया, जो व्यापार-वाणिज्य के अधिशेष पर करारोपण द्वारा चालित-संचालित होता। पूर्ववर्ती कुलाधारित कुरु और पांचाल राज्यों से भिन्न मगध और कोशल जैसे राज्यों के उदय के पीछे थापर इन्हीं परिस्थितियों को ज़िम्मेदार मानती हैं। यह व्यवस्था कोषागार और पेशेवर स्थाई सेना की व्यवस्था पर आधारित था। ऐसी व्यवस्था ने निर्वैयक्तिक एवं अधिक औपचारिक प्रकृति के राजनीतिक संबंधों को बढ़ावा दिया।

‘आइडियोलॉजी ऐंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ अर्ली इण्डियन हिस्ट्री’ (1992) शीर्षक लेख में रोमिला थापर ने भारतीय इतिहास की आधुनिक व्याख्याओं, आर्य प्रजाति का सिद्धांत और प्राच्य निरंकुशता की अवधारणा पर प्रश्नचिह्न लगाया। एक ओर उन्होंने पुरातत्त्व-विज्ञान, भाषाशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा प्रदत्त साक्ष्यों द्वारा आर्य आक्रमण के सिद्धांतों पर सवाल उठाया। दूसरी ओर यह स्थापित करने का प्रयास भी किया कि धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्र द्वारा बिक्री, वसीयत और भूमि पर वंशगत स्वामित्व एवं निजी सम्पत्ति के अन्य रूपों के साथ, व्यापार में सिक्कों, ऋणपत्रों और प्रतिज्ञापत्रों के अलावा आरम्भिक पाली ग्रंथों और *कामसूत्र* जैसी कृतियों में वर्णित शहरी समाज के विवरण प्राच्य निरंकुशता (इसके तहत माना जाता है कि भारतीय अतीत की प्रकृति अपरिवर्तनशील थी) की अवधारणा का खण्डन करते हैं।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन वाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार,

रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रामशरण शर्मा, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. रोमिला थापर (1987), *ऐंशिएंट इण्डियन सोशल हिस्ट्री : सम इंटरप्रिटेशंस*, ओरियंट लांगमैन, नयी दिल्ली.
2. अर्नाल्ड पी. कमिंसकी, रोजर डी. लांग (सम्पा.) (2011), *इण्डियाटुडे : ऐन इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ द लाइफ़ इन द रिपब्लिक*, ए.बी.सी. क्लियो पब्लिकेशन, कैलिफ़ोर्निया.
3. रोमिला थापर (1992), *इंटरप्रिटिंग अर्ली इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (सम्पा.) (2002), *कम्युनलाइजेशन ऑफ़ एजुकेशन : द हिस्ट्री टेक्स्टबुक कंट्रोवर्सी*, डेल्ही हिस्टोरियंस ग्रुप, नयी दिल्ली.
5. आर. चम्पकलक्ष्मी, सर्वपल्ली गोपाल (सम्पा.) (1996), *ट्रेडिशन, डिस्टेंस ऐंड आइडियॉलॉजी : एसेज़ इन आनर ऑफ़ रोमिला थापर*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

—निर्मल कुमार पाण्डेय

रोलाँ बार्थ

(Roland Barthes)

बीसवीं सदी की साहित्य-समीक्षा और सांस्कृतिक चिंतन में एक विशिष्ट स्थान रखने वाले रोलाँ बार्थ (1915-1980) के समस्त कृतित्व को ठीक से इंगित करने के लिए कई पदों का इस्तेमाल करना पड़ता है। इन सारे पदों को एक जगह रखा जाए तो उन्हें साहित्य का सिद्धांतकार, आलोचक, दार्शनिक, भाषाशास्त्री और लोकप्रिय संस्कृति का अध्येता कहा जाएगा। उन्हें किसी पूर्व-परिभाषित वैचारिक शिविर में रखने के प्रयास प्रायः निष्फल रहे हैं। उन्होंने सचेत ढंग से अपने पीछे न कोई परम्परा छोड़ी न अनुगामियों की मण्डली तैयार की। ‘लेखक की मृत्यु’ जैसी बहु-व्याख्यायित उक्ति का सृजन करने वाले बार्थ का रचना कर्म भाषा, लोकप्रिय संस्कृति से लेकर फ़ोटोग्राफी और संगीत जैसे भिन्न-भिन्न विषयों तक फैला है। अपने लेखन में बार्थ स्थापित रूढ़ियों और मान्यताओं से इस क्रूर बच कर चलते थे कि कई समकालीन विद्वानों ने तो उनके लेखन को अ-बौद्धिक और आत्म-प्रलाप घोषित कर दिया था। विचार के क्षेत्र में हमेशा नये, मूल और स्वतंत्र चिंतन के पक्षधर बार्थ के कृतित्व की संरचनावाद, लक्षणशास्त्र तथा उत्तर-संरचनावाद के विकास में अहम



रोलॉ बार्थ (1915-1980)

भूमिका मानी जाती है। हालाँकि एक विचारक के रूप में उनके प्रभाव की चर्चा मूलतः इन्हीं क्षेत्रों में की जाती रही है लेकिन सूचनाओं को प्रस्तुत करने के तरीकों और संचार के मॉडलों जैसे कम्प्यूटर, फ़ोटोग्राफी, संगीत तथा साहित्य के अनुशासनों में भी उनकी अंतर्दृष्टि का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है।

बार्थ का जीवन भी उनके लेखन की तरह ढर्रे से अलग था। उनका जन्म फ्रांस के देहात में हुआ। शिक्षा पेरिस जैसे शहर में संपन्न हुई लेकिन अध्यापकीय जीवन छोटे शहरों के शिक्षा संस्थानों तक सीमित रहा। अपने कई समकालीन विद्वानों की तरह वे स्टार सिस्टम का हिस्सा नहीं बने। लेकिन छोटे दशक के आसपास उनके कृतित्व को व्यापक स्वीकृति मिलने लगी थी और उनके विश्लेषण की ओर अकादमिक व सार्वजनिक बुद्धिजीवियों का ध्यान जाने लगा।

बार्थ ने जिस दौर में अपनी बौद्धिक यात्रा शुरू की, उस समय अस्तित्ववाद का बोलबाला था। सार्त्र *व्हाट इज़ लिटरेचर* नामक अपनी पुस्तक में लेखन के स्थापित रूपों के साथ साथ अवाँगार्द लेखकों की प्रयोगधर्मिता को भी नाकाफ़ी बता चुके थे। सार्त्र का कहना था कि अवाँगार्द लेखन पाठकों में बेगानगी पैदा करता है। पाँचवें दशक में प्रकाशित अपनी शुरुआती किताब *राइटिंग डिग्री जीरो* में बार्थ साहित्य की अर्थवत्ता से जुड़े इस विमर्श को आगे बढ़ाते हुए यह कहते हैं कि रूढ़ियों ने भाषा और शैली दोनों को इतना आक्रांत कर रखा है कि उनकी सर्जनात्मकता नष्ट हो गयी है। बार्थ रूढ़ियों की जगह रूप को तरजीह देते थे। उनका कहना था कि लेखन का विशुद्ध कर्म यानी लेखक का अपनी विशिष्ट

शैली के जरिये रूढ़ियों का दोहन करके इच्छित प्रभाव पैदा करना ही एक ऐसा कर्म है जिसे अद्वितीय/बेमिसाल और सर्जनात्मक कहा जा सकता है। लेकिन यह प्रतिपादित करते हुए बार्थ इस बात के प्रति सावधान थे कि लेखक जिस विशिष्ट रूप का संधान करता है वह पाठकों के बीच जाने पर खुद भी रूढ़ि बन सकता है। लिहाजा वे यह चेतावनी भी देते हैं कि सृजन बदलाव और प्रतिक्रिया की एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया होनी चाहिए। बार्थ अवाँगार्द लेखकों की इस बात के लिए प्रशंसा करते थे कि वे अपने पाठकों से एक निश्चित दूरी बनाये रखते हैं और आत्मगत सत्यों का दावा करने के बजाय एक ऐसी कृत्रिमता का निर्वाह करते हैं जो किसी तरह का भ्रम पैदा नहीं करती। बार्थ का कहना था कि इस लिहाज से अवाँगार्द लेखक पाठकों को इस बात की छूट देते थे कि रचना के संबंध में वे अपना स्वतंत्र और वस्तुनिष्ठ परिप्रेक्ष्य बना सकें। इस विश्लेषण के आधार पर बार्थ ने यह सूत्रीकरण किया कि कला को दुनिया की व्याख्या करने के बजाय उसे प्रश्नांकित करना चाहिए।

बार्थ की 1957 में प्रकाशित पुस्तक *माइथोलॉजी* फ्रांस की तत्कालीन बूर्ज्वा संस्कृति के अध्ययन में मानक की तरह प्रतिष्ठित है, जिसमें वे सांस्कृतिक चिह्नों, रूपों और उत्पादों की समीक्षा के जरिये यह दिखाते हैं कि बूर्ज्वा समाज इन चिह्नों के द्वारा किस तरह अपने मूल्यों की स्थापना करता है। सांस्कृतिक रूपों के इस अध्ययन में बार्थ ने सीमियोटिक्स यानी लक्षणशास्त्र का उपयोग करते हुए दिखाया कि बूर्ज्वा समाज के सांस्कृतिक मिथक किस तरह चिह्नों के जरिये वैधता और स्वीकार्यता हासिल करते जाते हैं। बार्थ इस संदर्भ में शराब के उदाहरण के जरिये बताते हैं कि फ्रांसीसी समाज में शराब को उसके दुष्प्रभावों के बावजूद कैसे एक सेहतमंद आदत के तौर पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है। बार्थ का मानना था कि चिह्नों को एक खास मकसद के लिए नियोजित करने की यह चालाकी उत्पादों को बेचने के अलावा साथ ही यथास्थिति को बनाये रखने का काम भी करती है।

बार्थ ने फ़ैशन की प्रवृत्तियों में आने वाले बदलावों का अध्ययन करने के लिए भी चिह्नों का इस्तेमाल किया था। पूर्वोक्त रचना में बार्थ ने यह दर्शाया है कि फ़ैशन की दुनिया के प्रबंधक-नियंत्रक किसी भी शब्द को बूर्ज्वा आदर्श की तरह स्थापित करने में माहिर होते हैं। मसलन, अगर फ़ैशन की दुनिया में ब्लाउज़ के पहनावे को किसी खास अवसर के लिए सबसे फ़ैशनेबल परिधान घोषित कर दिया जाए तो उसे तुरंत ही सहज सत्य की तरह स्वीकार कर लिया जाता है जबकि हक्रीकृत यह है कि एक वास्तविक चिह्न के तौर पर ब्लाउज़ को स्कर्ट या वेस्ट की श्रेणी में भी रखा जा सकता है। लेकिन एक समय बाद बार्थ का यह टिप्पणीपरक लेखन इतना लोकप्रिय हो गया था कि लोगबाग उनसे किसी खास

सांस्कृतिक परिघटना पर टिप्पणी करने के लिए कहने लगे थे। पर बार्थ को सांस्कृतिक घटना के अदृश्य लक्षणों को निरावृत्त करने का यह काम एक समय बाद अनावश्यक लगने लगा।

बार्थ भाषा की संरचना के अध्ययन में भी नयी ज़मीन तोड़ते हैं। आख्यान की संरचना से संबंधित अपने एक लेख में बार्थ वाक्य की संरचना और आख्यान की वृहत्तर संरचना के सहसंबंधों पर विचार करते हुए रचना के तत्त्वों को उनकी बुनियादी विशिष्टताओं में बाँटकर यह थाह लेने की कोशिश करते हैं कि रचना के प्रकार्य उसके कार्य-व्यापार को गढ़ने और अंततः यथार्थ को उद्घाटित करने में आख्यान की सामर्थ्य को किस तरह प्रभावित करते हैं। इस तरह बार्थ अपने संरचनात्मक सैद्धांतिकरण का इस्तेमाल भी बूज़र्वा संस्कृति की भ्रामक कार्यप्रणाली को उजागर करने के लिए करते हैं।

बार्थ के परवर्ती लेखन में संरचनावाद से उनका मोहभंग देखा जा सकता है। इसके पीछे देरिदा आदि जैसे दार्शनिकों के नव-चिंतन की भी भूमिका थी। गौरतलब है कि छोटे दशक में देरिदा संरचनावाद की सीमाओं पर चिंतन करने के क्रम में लगातार यह प्रतिपादित कर रहे थे कि संरचनावाद, अपरिवर्तनीय प्रतीक तथा सार्वभौमिक अर्थ की व्यवस्था पर टिका है। दूसरे शब्दों में कहें तो मूल्यांकन के किसी नियमित मानक के बिना आलोचना की ऐसी कोई भी पद्धति उपयोगी नहीं हो सकती जो रचना से बाहर के संदर्भों पर विचार न करे। लेकिन रचना के संसार में स्थिर/स्थायी प्रतीक या सार्वभौमिक अर्थवत्ता जैसी कोई चीज़ नहीं होती इसलिए संरचनावाद को लेखन के मूल्यांकन का आधार मानना एक कमज़ोर दावा साबित होता है।

संरचनावाद के संबंध में इस नवचिंतन का बार्थ के कृतित्व पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। उनके परवर्ती लेखन में न केवल चिह्नों और प्रतीकों की सीमाओं का भान दिखता है बल्कि वे स्थिरता और अंतिम मानकों की मान्यताओं से भी विमुख होने लगते हैं। अपनी जापान यात्रा के दौरान बार्थ को वहाँ की संस्कृति में लोकोत्तर सिगनीफ़ायर की अनुपस्थिति ने गहराई से प्रभावित किया। उनकी रचना *एम्पायर ऑफ़ साइंस* इस यात्रा का वैचारिक प्रभाव मानी जाती है। इस रचना में बार्थ यह बात विशेष रूप से दर्ज करते हैं कि जापानी संस्कृति में कोई ऐसा महती केंद्र बिंदु नहीं है जिससे बाकी के मानक तय किये जाते हों। वे तोक्यो के शाही महल को सत्ता के सर्वोच्च केंद्र के बजाय एक मौन, अव्यक्त और विनम्र उपस्थिति बताते हैं। इस पर्यवेक्षण के आधार पर बार्थ यह भी कहते हैं कि जापान में चिह्न चिह्नित के मूल अर्थ में विद्यमान रह सकते हैं। बार्थ जापानी समाज को *माइथोलॉजी* के समाज से नितांत भिन्न पाते हैं जिसमें चिह्न हमेशा उसके

प्राकृतिक अर्थ पर हावी रहते हैं।

बार्थ साहित्यिक पाठ की आलोचना में लेखक की धारणा या लेखकीय सत्ता को पाठ के अंतिम अर्थ पर एक जबरिया आरोपण मानते हैं। उनके अनुसार किसी साहित्यिक कृति में अंतिम और इच्छित अर्थ ढूँढना असल में उसकी अंतिम व्याख्या करने जैसा है। बार्थ इस बात पर खास जोर देते हैं कि भाषा में अर्थ की अनेकांतता और लेखक की मनोदशा को न जान पाने की सच्चाई किसी भी तरह के अंतिम अर्थ या स्थिति को निरस्त कर देती है। इसी आधार पर बार्थ ने 'लेखक की मृत्यु' जैसा सूत्र प्रतिपादित किया था। इस क्रम में बार्थ आगे कहते हैं कि पाठ में किसी निश्चित अर्थ का दावा करना पश्चिमी बूज़र्वा संस्कृति के सम्भ्रम को क्रायम रखने की तरह है। इस सूत्र को आगे ले जाते हुए बार्थ यह प्रतिपादित करते हैं कि किसी कृति को अंतिम और निश्चित अर्थ प्रदान करने का मतलब उसे पूँजीवादी बाज़ार में स्थापित करना और उपभोग की ज़द में लाना है।

सातवें दशक में बार्थ लोकप्रिय संस्कृति और तटस्थ भाषा के अंतर्विरोधों की ओर प्रवृत्त हुए। इस संबंध में उनका मानना था कि लोकप्रिय संस्कृति की भाषा अपने विवरण और शीर्षकों के कारण एक सीमा और दड़बे में क़ैद होने लगती है। तटस्थ भाषा के बारे में उनका यह कहना था कि वह दोनों सिरों पर खुली और अप्रतिबद्ध होती है। भाषा के इन दो अंतर्विरोधी रूपों को बार्थ दोक्सा और पैरा-दोक्सा जैसे पारिभाषिक शब्द देते हैं। एक समय बार्थ की आलोचना दृष्टि मार्क्सवाद के लगभग समानांतर चलती प्रतीत होती थी लेकिन इस दौर में वे यह कहने लगे थे कि भाषा और अर्थ की आक्रामकता के लिहाज से मार्क्सवादी सिद्धांत बूज़र्वा साहित्य से बहुत अलग नहीं है।

बार्थ का साहित्य-चिंतन मनुष्य द्वारा गढ़ी गयी छवियों के अर्थ-विश्लेषण के लिए एक अहम स्रोत की तरह काम करता है। मसलन साहित्यिक कृति की बनावट की पड़ताल करने के क्रम में बार्थ एक कृति को दूसरी कृति से इस आधार पर अलग करते हैं कि उनमें लेखक पाठक को केवल उपभोक्ता बनने तक सीमित रखता है या कि उसे पाठ का सृजक बनने का अवसर भी देता है। इस प्रसंग में बार्थ आगे कहते हैं कि पाठकीय रचना में पाठक को अपने निजी अर्थ का सृजन करना ज़रूरी नहीं लगता और वह रचना का उपभोक्ता बना रहता है यानी ऐसी रचनाएँ अपने समय की प्रचलित संस्कृति के अंतर्विरोधों की शिनाख़्त करने के बजाय आम धारणाओं या समझ को प्रश्रय देती हैं, जबकि लेखकीय रचना पाठक को प्रचलित संस्कृति और उसके पाठों के प्रति सचेत बनाती है। इस तरह पाठकीय रचना एक तरह का उत्पाद बन जाती है जबकि लेखकीय रचना में पाठक खुद

सर्जक की भूमिका में होता है।

बाद के वर्षों में बार्थ यह मानने लगे थे कि आधुनिक दुनिया में लेखक की भूमिका लिप्यंतरणकार की हो गयी है, जिसकी सारी सत्ता इस बात तक सीमित होती है कि वह पहले से मौजूद पाठों को नये रूप में प्रस्तुत भर कर दे। लिहाजा लिप्यंतरणकार का कोई अतीत नहीं होता। वह केवल पाठ की रचना के साथ जन्म लेता है। इस सिलसिले में बार्थ यह तर्क भी रखते हैं कि जब कृति के अर्थ पर लेखक का नियंत्रण नहीं रह जाता तो एक सक्रिय और सचेत पाठक के लिए व्याख्या के नये क्षितिज खुलने लगते हैं। इस परिघटना को बार्थ लेखक की मृत्यु और पाठक के जन्म की संज्ञा देते हैं।

लेकिन बार्थ के स्थाई अवदान के बारे में बात करते हुए इस बात का खयाल रखा जाना चाहिए कि उनका लेखन किसी भी तरह की स्थिरता और शास्त्र-निर्माण को खारिज करते हुए खुद को लगातार नवीकृत करता चलता है। इसलिए उनके चिंतन को किसी तरह के शास्त्र में निबद्ध नहीं किया जा सकता। शायद यह एक बड़ी वजह रही है कि जब कोई बार्थ का अनुसरण करना चाहता है तो उसे पहले से तैयार मॉडल नहीं मिलता। लिहाजा मार्क्स, फूको या फ्रायड या किसी अन्य समाज-विज्ञानी की तरह उनके नाम से कोई वाद शुरू नहीं होता।

देखें : ज्याँ-पाल सार्त्र, टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और समाचार, पिएर बोर्दियो, बाजारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, लुई अलथुसे, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. ग्राहम ऐलन (2003), *रोलाँ बार्थ*, रॉटलेज, लंदन.
2. सूसन सॉटैग (1980), 'रिमेम्बरिंग बार्थ', संकलित : *अंडर द साइन ऑफ़ सैटर्न* (संकलित), फ़ररर, स्ट्रास एंड गिरॉक्स, न्यूयॉर्क.
3. सूसन सॉटैग (सम्पा.) (1982), *ए बार्थ रीडर*, हिल एंड वांग, न्यूयॉर्क.
4. स्टीवन उंगर (1983), *रोलाँ बार्थ : प्रोफेसर ऑफ़ डिजायर*, युनिवर्सिटी ऑफ़ नेब्रास्का प्रेस.

— नरेश गोस्वामी

रॉबर्ट ओवेन

(Robert Owen)

ब्रिटिश समाजवाद के प्रमुख संस्थापक रॉबर्ट ओवेन (1771-1858) उन्नीसवीं सदी के उन विचारकों और क्रांतिकारी सुधारकों में से एक थे जिन्होंने श्रमिक वर्ग की समृद्धि को राष्ट्र की समृद्धि से जोड़ा और जिनके प्रयासों से कम्युनिस्ट विचारधारा और आंदोलन का रास्ता साफ़ हुआ। जिस युग में गरीब जनता औद्योगिक क्रांति के चक्के के नीचे पिस रही थी, ओवेन ने दरिद्र जनता के हितों को सर्वोपरि प्राथमिकता देने वाले आदर्श समुदायों की स्थापना का न केवल प्रस्ताव किया, बल्कि अपने प्रयासों से इस तरह के प्रयोग भी करके दिखाये। एक अर्थशास्त्री के रूप में ओवेन ने न तो किसी आर्थिक संबंध की स्थापना की, न ही विश्लेषण की कोई विधि खोजी और न ही कोई आर्थिक सिद्धांत उनके नाम से जाना जाता है, लेकिन उन्होंने नीतिगत स्तर पर अभूतपूर्व योगदान किया। उन्हें आज के जमाने के सभी श्रम क्रांनुओं का पुरोगामी करार दिया जा सकता है। चाहे बाल श्रम के खिलाफ़ बने क्रांनु हों, न्यूनतम वेतन अधिनियम हो या काम की बेहतर अवस्था का आग्रह करने वाले नियम हों, सभी पर ओवेन की छाप है। मानवीय पूँजी की अवधारणा उन्हीं के प्रयासों का फल है। ओवेन की मान्यता थी कि बिना मानवीय पूँजी का विकास किये गरीबी का उन्मूलन नहीं किया जा सकता। ओवेन का विचार था कि पूँजीवादी प्रणाली मानवता के एक बड़े हिस्से को बदहाली के गर्त में धकेलने के लिए जिम्मेदार है। अपनी यूटोपियायी दृष्टि के आधार पर वे मानते थे कि सूझ-बूझ के साथ बनायी गयी नीतियों का इस्तेमाल करके श्रमिकों और अन्य गरीबों की हालत सुधारी जा सकती है।

रॉबर्ट ओवेन का जन्म वेल्स स्थित छोटे से कस्बे न्यूटाउन के मामूली से परिवार में हुआ था। बचपन में उन्हें साधारण से स्कूल में शिक्षा मिली। वे महज़ लिखना-पढ़ना और जोड़-बाक़ी करना ही सीख पाये। पर उन्होंने अपने निजी प्रयासों से जम कर अध्ययन किया जिसके आधार पर वे समाज और जीवन के बारे में मौलिक दृष्टि विकसित करने में सफल रहे। दस साल की उम्र में वे लंदन गये और अपने भाई के साथ रह कर छोटे-मोटे कामों के ज़रिये जीवन-यापन शुरू किया। धीरे-धीरे हुई प्रगति के परिणामस्वरूप उन्हें एक सूत मिल की मैनेजरी मिल गयी। आगे चल कर अपनी जमा सम्पत्ति, पत्नी के पिता के साठ हज़ार पाउण्ड और कुछ अमीर पार्टनरों की मदद से उन्होंने न्यू लैनार्क की मिलें ख़रीद लीं।

1815 में फ़्रांस के साथ युद्ध का अंत हो जाने के बाद

ब्रिटिश सरकार को लड़ाई के साज-सामान की जरूरत नहीं रह गयी। इससे बाजार में माँग घटी, लेकिन खेतों और कारखानों ने माल का उत्पादन जारी रखा जिससे भण्डारगृह भरते चले गये। खेतिहर श्रमिकों और फैक्टरी मजदूरों को बड़े पैमाने पर नौकरी से निकाला जाने लगा। दूसरी तरफ मशीनीकरण ने भी श्रम की जरूरत कम करके बेरोजगारी की समस्या में योगदान किया। आर्थिक दुर्बस्था बढ़ती चली गयी। खेतिहर मजदूरी पचास फ़ीसदी गिर गयी और आबादी का तक़रीबन आधा हिस्सा ज़बरदस्त ग़ुरबत का शिकार हो गया। ऐसे विकट समय में ओवेन बेरोजगारी और गरीबी की समस्या के समाधान की तजवीज़ ले कर आए।

उन्होंने कहा कि न तो मशीनरी का इस्तेमाल बंद किया जा सकता है और न ही लाखों लोगों को बिना रोज़गार के भूखों मरने दिया जा सकता है। न ही सरकार बेरोजगारी बीमा के ज़रिये राहत बाँट सकती है। ओवेन ने प्रस्ताव रखा कि सरकार को बारह-बारह सौ लोगों के छोटे-छोटे गाँव क़ायम करने में अपने संसाधन खर्च करने चाहिए। ये समुदाय 'सहयोग आधारित गाँव' होंगे और अपना जीवन-यापन करने के लिए बाजार से न्यूनतम ख़रीदारी करते हुए स्वयं उत्पादन करेंगे। अगर उनके पास कुछ अधिशेष बचता है तो उसका व्यापार करके गाँव वाले उन चीज़ों को ख़रीदेंगे जिनका उत्पादन उनके लिए मुमकिन नहीं है।

ओवेन ने तर्क दिया कि इंग्लैण्ड के श्रमिकों को अगर बेहतर माहौल में काम करने का मौक़ा दिया जाए तो वे न केवल अपनी गरीबी दूर कर सकते हैं, बल्कि राष्ट्र की समृद्धि में भी योगदान कर सकते हैं। न्यू लैनार्क स्थित मिलों के मालिक और प्रबंधक की हैसियत से ओवेन ने अपने नज़रिये को व्यावहारिक रूप देने का निश्चय किया। उन्होंने इस कारख़ाने को शैक्षिक और औद्योगिक सुधार की प्रयोगशाला में बदल दिया। जल्दी ही ओवेन और उनका कारख़ाना अपनी इन गतिविधियों के कारण चर्चित होने लगा। ओवेन के हाथ में जब न्यू लैनार्क की बागडोर आयी तो उस समय उस क़स्बे में 1,500 परिवार रहते थे। इनके अलावा पास के इलाक़ों से मजदूरी करने के लिए लाये गये पाँच सौ बच्चे भी यहाँ के वासी थे। परिवारों को रहने के लिए मिल ने केवल एक-एक कमरे की खोलियाँ दे रखी थीं जिनमें साफ़-सफ़ाई का कोई इंतज़ाम नहीं था। मजदूरों के बीच शराबख़ोरी और चोरी-चकारी का बोलबाला था। क़स्बे की मिलों के बाहर और भीतर जीवन-स्थितियाँ बहुत खराब थी। काम के घंटे बहुत लम्बे होते थे, तनख़्वाहें कम

और स्वास्थ्य सेवा का नाम भी नहीं था।

ओवेन ने प्रत्येक खोली के ऊपर एक-एक कमरा और बनवाने से शुरुआत की ताकि हर मजदूर के पास कम से कम दो कमरे हो जाएँ। उन्होंने क़स्बे में सड़कें बनवानी शुरू कीं, कचरा उठवाने का इंतज़ाम किया और घरों के बाहर सफ़ाई रखने के लिए मजदूरों की कमेटियाँ गठित कीं। इसके बाद ओवेन ने क़स्बे की सारी दूकानें ख़रीद लीं। उन्होंने खाद्य और ईंधन थोक में ख़रीदा और मुनाफ़े की कोई चिंता नहीं की। इससे मजदूरों को कम दर पर जरूरत की चीज़ें मिलने लगीं। केवल इतनी कारवाइयों से ही मजदूरों की जीवन-स्थितियों में 25 फ़ीसदी का सुधार हो गया। ओवेन ने एक सामुदायिक कोष भी स्थापित किया जिसमें प्रत्येक मजदूर अपनी आमदनी के छठें हिस्से का योगदान करता था ताकि सभी को मुफ्त स्वास्थ्य सेवाएँ हासिल हो सकें।



रॉबर्ट ओवेन (1771-1858)

ओवेन ने लैनार्क के बच्चों पर विशेष ध्यान दिया। वे मानते थे कि व्यक्ति को जीवन की शुरुआत में ही अगर सही माहौल मिले तो उसके चरित्र और व्यक्तित्व पर सकारात्मक असर पड़ता है। वे छोटे बच्चों से काम लेने के एकदम ख़िलाफ़ थे। उन्होंने तय किया कि वे आस-पास के इलाक़ों से दरिद्र बच्चों को लाकर एप्रेंटिसी में नहीं खपाएँगे। जब इंग्लैण्ड की फैक्ट्रियों में छह और सात साल के बच्चे पूरे समय श्रम करते थे, ओवेन ने दस साल से कम के बच्चों से श्रम करवाना बंद कर दिया।

उन्होंने पार्क और खेल के मैदान बनवाये ताकि बच्चों को खेल-कूद का मौक़ा मिल सके। लैनार्क के दस वर्ष तक के बच्चों को मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था की गयी। आज के ज़माने में सार्वभौम शिक्षा का सिद्धांत लगभग सभी जगह लागू है, पर उन्नीसवीं सदी में ओवेन का यह प्रयास बेहद रैडिकल था। उस समय मान्यता यह थी कि शिक्षा तो केवल उच्चवर्गीय सुविधा है, मजदूर बच्चों को इसकी कोई जरूरत नहीं होनी चाहिए। गरीब बच्चों को शिक्षित करने की वकालत करने वाले सुधारक भी उनकी पढ़ाई केवल जोड़-बाकी सिखाने, लिखने और बाइबिल पढ़ने तक ही सीमित रखते थे। पर ओवेन चाहते थे कि बच्चे शिक्षा के ज़रिये सोचना और जीवन को समझना सीखें, उनके भीतर सांस्कृतिक गुणों का विकास हो। उनकी मान्यता थी कि शिक्षा से न केवल चरित्र निर्माण होता है, बल्कि वर्गों के बीच की खाई भी पटती है।

ओवेन की लैनार्क स्थिति यह सामाजिक प्रयोगशाला धीरे-धीरे कई वर्ष में एक आदर्श समुदाय में बदल गयी। काम की स्थितियाँ बेहतर हो गयीं, मजदूर संतोषजनक जीवन गुज़ारने लगे और मिलों का मुनाफ़ा भी बढ़ा। मजदूर ओवेन

को एक आदर्श पुरुष के रूप में देखने लगे। लेकिन, ये कामयाबियाँ ओवेन के पार्टनरों के लिए महत्त्वहीन थीं। वे तो ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा चाहते थे और इसके लिए उनके पास मज़दूरों के अधिकतम दोहन का फ़ार्मूला था ताकि उत्पादन की लागत और घटायी जा सके। पार्टनरों का दबाव पड़ने पर ओवेन ने सोचा कि जब तक उनके सुधारों का चरित्र सार्वभौम नहीं होगा तब तक मिल मालिक बाल श्रम के आधार पर, मज़दूरों से बदसलूकी करके और उनके बच्चों को शिक्षा से वंचित रख कर मुनाफ़े की होड़ में आगे निकलने की कोशिश करते रहेंगे। इसके बाद ओवेन ने नियमित रूप से फ़ैक्टरियों के हालात पर लिखना शुरू कर दिया। उन्होंने तर्क दिया कि कारख़ानों को केवल समृद्धि बढ़ाने के ज़रिये के तौर पर ही नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि मानवीय चरित्र और स्वास्थ्य पर पड़ने वाले उनके असर के लिहाज़ से भी उनका मूल्यांकन किया जाना ज़रूरी है।

ओवेन के प्रयासों से पहला फ़ैक्टरी एक्ट 1819 में पारित हुआ जिसमें बाल श्रम को केवल कुछ ख़ास तरह के कारख़ानों में ही थोड़ा सा सीमित किया गया। लेकिन, इससे एक नयी बात हुई। पहली बार सरकार की तरफ़ से फ़ैक्टरी मालिकों को किसी नियंत्रण में लाने की कोशिश हुई और सरकार ने यह भी समझा कि दुर्बलों की रक्षा करना उसके दायित्वों में से एक है।

हालाँकि यह कामयाबी ओवेन की उम्मीद से बहुत कम थी, इसलिए उन्हें आम तौर पर निराशा ही हुई। दूसरी तरफ़ फ़्रांस के साथ युद्ध ख़त्म होने पर पैदा हुई बेरोज़गारी की समस्या का हल करने के लिए ओवेन ने सहकारी ग्राम समुदायों के गठन का प्रस्ताव रखा। इस सुझाव की न केवल उपेक्षा की गयी, बल्कि उनका मज़ाक भी उड़ाया गया। अपने देशवासियों के रवैये से हताश हो कर ओवेन ने नयी दुनिया का रास्ता पकड़ा और 1824 में अमेरिका जा कर इण्डियाना में न्यू हार्मनी नाम से एक आदर्श सहकारी समुदाय की स्थापना की। लेकिन ओवेन की यह योजना लैनार्क की तरह कामयाब नहीं हुआ। उनका आदर्श समुदाय अपना जीवन-यापन करने लायक उत्पादन नहीं कर पाया। उसके सदस्य लगातार कामचोरी करते पाये गये और उनके बीच की कलह का भी कोई हल नहीं निकला। इस नाकामी के कारण ओवेन की ज़िंदगी के आख़िरी दिन निराशा में बीते।

ओवेन के समाजवादी रुझानों से निकली दलीलों और सुझावों के खिलाफ़ पूँजीवाद के समर्थकों और उनके बौद्धिक

प्रतिनिधियों ने कड़ी प्रतिक्रिया की। उनके समकालीन अर्थशास्त्री माल्थस ने कहा कि अगर आमदनी का वितरण अधिक समतामूलक कर दिया गया और अगर सामाजिक सुधारों के ज़रिये मज़दूर वर्ग की हालत सुधार दी गयी तो मज़दूर और ज़्यादा बच्चे पैदा करना शुरू कर देंगे। नतीजतन उनकी ग़रीबी वैसी की वैसी ही बनी रहेगी। इसी तर्क के आधार पर माल्थस ने ग़रीबों को राहत देने के लिए क़ानून बनाने का विरोध किया। वे ग़रीबों को किसी भी तरह का अनुदान देने के विरोधी थे। माल्थस ने यह भी तर्क दिया कि ग़रीबों को दी जाने वाली राहत के कारण ही इंग्लैण्ड में मक्का के दाम बढ़ गये हैं। परिणामस्वरूप न केवल ग़रीबों की दिक्कतें बढ़ी हैं, बल्कि सभी ब्रिटिश नागरिक परेशानी में फँस गये हैं।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज़्ज़ा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमो, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. ग्रेगरी क्लेज़ (सम्पा.) (1993), *सिलेक्टड वर्क्स ऑफ़ रॉबर्ट ओवेन (1836-44)*, पिकरिंग, लंदन.
2. रॉबर्ट ओवेन (1991), *अ न्यू व्यू ऑफ़ सोसाइटी (1813-14)*, कैसेल, न्यूयॉर्क.
3. जी.डी.एच. कोल (1925), *द लाइफ़ ऑफ़ रॉबर्ट ओवेन*, फ्रैंक कैसे ऐंड कम्पनी, लंदन.
4. मार्गरेट कोल (1953), *रॉबर्ट ओवेन ऑफ़ न्यू लैनार्क*, बैचवर्थ प्रेस, लंदन.
5. डी.सी. जॉनसन (1929), *पायनियर ऑफ़ रिफॉर्म*, बट् फ्रैंकलिन, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे